संग्रहणीय प्रकाशन

*

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य —सं० : डॉ० रामाधार शर्मा	२०.००
हिन्दी काव्य शास्त्र में रस-सिद्धान्त—डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी	१८.००
आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी —लेखक : आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी	३.००
हिन्दी-उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डॉ० (श्रीमती) ओम शुक्ल	१६.००
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डॉ० ओंकारनाथ शर्मा	१६.००
अज्ञेय का काव्य—सुश्री सुमन झा	८.००
हिन्दी की नयी कविता—श्री वी० नारायणन कुट्टी	७.००
आ० हि०-कविता में अलंकार-विधान—डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी	१५.००
नया हिन्दी-काव्य—डॉ० शिवकुमार मिश्र	१६.००
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डॉ० रामाधार शर्मा	१६.००
रामचरितमानस : काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डॉ० राजकुमार पाण्डेय	१६.००
हिन्दी-उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन—डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी	१६.००
तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डॉ० राजाराम रस्तोगी	१६.००
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डॉ० रणवीर सिन्हा	१६.००
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा	१०.००
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना	८.००
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा	१२.५०
डिंगल साहित्य : प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव—डॉ० गोवर्द्धन शर्मा	१६.००
प्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति—डॉ० कामेश्वरप्रसादसिंह	२०.००
कामायनी का ध्वनि मूलक अध्ययन—डॉ० कामेश्वरप्रसादसिंह	८.००
हिन्दी-गद्य का विकास—डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम	१६.००
प्रसाद की नाट्य-कला—डॉ० रामसेवक पाण्डेय	१६.००
आधुनिक प्रगीत काव्य—डॉ० गणेश खरे	१६.००

*

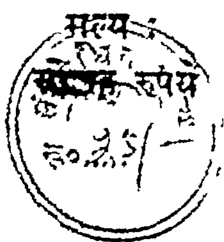
अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर-३
(शोध-ग्रन्थों के प्रकाशक)

प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव

डॉ० गोवर्द्धन शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०



अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर



प्रकाशक : अनुसन्धान प्रकाशन
८७/१५९, आचार्यनगर कानपुर-३

प्रकाशन-काल : सन् १९६५ ई०

मुद्रक : अनुपमप्रेस,
चन्द्रिकादेवी रोड, कानपुर-२

प्रियवर रामरतन जी चांडक

को

प्राक्कथन



'प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव' विषय पर प्रबन्ध प्रस्तुत करते हुए विषय की व्यापकता की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है। भाषाविदो ने ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से प्राकृत का अभ्युदय माना है। निरन्तर प्रवहमान साहित्यधारा का—लगभग दो सहस्र वर्ष तक रचे गये प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल के साहित्य का परिचय पा लेना भी बहुत टेढा काम है। विषय जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी। मैंने विषय का यथासम्भव गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

कठिनाइयाँ और मेरे साधन मूल स्रोतो का अध्ययन

जब विषय पर नियमित रूप से काम शुरू किया गया, तो तीन प्रमुख कठिनाइयो का अनुभव हुआ। वे थी—

(१) प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल का अधिकाश साहित्य अप्रकाशित है। वह देश के सुदूर कोनों मे स्थित विभिन्न पुस्तकालयो, ज्ञानभण्डारो या देवालयो मे अज्ञात पड़ा है, वहाँ तक पहुचना सरल नही। जो कुछ अल्पमात्रा मे साहित्य प्रकाशित भी हुआ है, वह आज आसानी से उपलब्ध नही होता। प्रकाशित साहित्य भी बहुधा कम प्रतियो के आधार पर सम्पादित किया हुआ है, अत उसे वैज्ञानिक और अन्तिम नही माना जा सकता है। पर्याप्त जानकारी का अभाव और सुसम्पादित प्रकाशित साहित्य की कमी अध्ययन के मार्ग की बहुत बडी बाधा रही।

(२) प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल—इन सभी साहित्यों पर अपेक्षाकृत कम काम हुआ है। सर्वाङ्ग-सुन्दर, विस्तृत साहित्यिक इतिहास की बात तो दूर रही, काम चलाऊ इतिहास भी उपलब्ध नहीं है।

(३) डिंगल का क्या अर्थ है? राजस्थानी और डिंगल का क्या सम्बन्ध है? क्या डिंगल कोई भाषा है और उसका अपना साहित्य है, या वह राजस्थानी भाषा की शैली-विशेष मात्र है? क्या वह कृत्रिम भाषा है? डिंगल-साहित्य से क्या अभिप्राय ग्रहण किया जाय? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर विद्वानो में मतभेद है। विद्वानो के मतमतान्तर मे बच कर कौन-सा मार्ग ग्रहण किया जाय, जो वैज्ञानिक हो और हमें तटस्थ गम्भीर अध्ययन के द्वारा सही निर्णयों तक पहुंचावे।

इन तीनो कठिनाइयो को एक-एक कर सुलझाया गया। प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल में अब तक—मई सन् १९६१ तक—प्रकाशित मूल्यवान साहित्य को परखा गया। सौराष्ट्र के चारणो द्वारा डिंगल की कुछ रचनाओं का गुजराती में प्रकाशन हुआ है, उन्हें भी प्राप्त किया गया। जो साहित्य बाजार मे अप्राप्य था, उसका पुस्तकालयो में जाकर अध्ययन किया गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल के उन ग्रन्थो को जो हिन्दी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी या अंग्रेजी मे निकले हैं, विवेचन का आधार बनाया गया। इसके साथ ही विभिन्न ग्रंथालयो में जाकर अप्रकाशित किन्तु महत्त्वपूर्ण रचनाओं से सामग्री सञ्चित की गई। जैसलमेर, नागौर, जोधपुर, उदयपुर, पूना, जामनगर, भावनगर, बड़ौदा, पाटण, अहमदाबाद, कारंजा, जयपुर, बीकानेर आदि स्थानों के ज्ञानभण्डारों, पुस्तकालयों, संस्कृतिमन्दिरों तथा व्यक्तिगत तौर पर अनेक मित्रों से सामग्री प्राप्त की गई। इस प्रकार मूलस्रोतो से प्राप्त विपुल सामग्री का उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

जहाँ तक इन तीनों साहित्यों पर किये गये विद्वानों के कार्य का लाभ उठाने का प्रश्न है, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत में जहाँ कही, और जितनी भी जानकारी उपलब्ध हो सकती थी, उसे प्राप्त करने की कोशिश की गई, जो परिशिष्ट (ख) में दी गई सहायक सामग्री-सूची मे संलग्न है। यथासामर्थ्य कोई क्षेत्र असंपर्कित नहीं छोड़ा गया। डा० तोमर, डा० आचार्य तथा डा० शिवपुरी के अप्रकाशित किन्तु विषय से सम्बन्धित शोधप्रबन्धो को भी मगा कर देखा गया। यही नहीं, अपितु अपभ्रंश, प्राकृत व डिंगल के विद्वानों से निजी सम्पर्क द्वारा

विवेचन और विचारविनिमय द्वारा, पत्रोत्तर द्वारा जानकारी प्राप्त की गई । सर्वश्री राहुल साकृत्यायन, अगरचन्द जी नाहटा, उदयराज जी उज्ज्वल, डा० गणेश अ० देशपाडे, डा० वी० एम० कुलकर्णी, डा० माधव गोपाल देशमुख, के० का० शास्त्री, बेचरदास दोशी, डोलरराय माकड, बद्रीप्रसाद जी साकरिया आदि विद्वानो का सहयोग पाकर मैं भाग्यशाली बना हू । इस सम्बन्ध मे अपने गुरुदेव डा० सोमनाथ जी गुप्त का विशेष आभारी हू जिनके मार्ग-दर्शन से ही प्रबन्ध प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सका हू

विभिन्न मत और मेरी मान्यताएँ

तीसरी कठिनाई डिंगल के स्वरूप को लेकर थी । सर्वश्री पुरुषोत्तम मेनारिया, अगरचन्द जी नाहटा प्रभृति विद्वान डिंगल को मात्र शैली मानने के पक्ष मे हैं। वे उसे भाषा स्वीकार नही करते । दूसरी ओर मोतीलाल मेनारिया, टेसिटरी, चटर्जी, रामकर्ण असोपा, गजराज ओझा, नरोत्तम स्वामी, जगदीश श्रीवास्तव, हीरालाल महेश्वरी, उदयराज उज्ज्वल आदि विद्वान उसे भाषा मानते हैं । इन पक्तियो का लेखक डिंगल को भाषा मानने के पक्ष मे है । मारवाडी भाषा ही प्राकृत और अपभ्र श से मिश्रित होकर डिंगल कहलाई । प्रारम्भ मे साहित्यिक राजस्थानी मारवाडी बोलचाल से जुदा नही थी । कालान्तर मे यही विकसित होकर डिंगल नाम से पुकारी जाने लगी । प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय मे इन मान्यताओ की सप्रमाण स्थापना की गई है । इसी प्रकार डिंगल काव्य-प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया गया और सतर्क प्रतिपादित किया गया कि उन पर प्राकृत-अपभ्र श का बहुत ऋण है (देखिये चौथा अध्याय) । सक्षेप मे प्रस्तुत प्रबन्ध की निम्न विशेषताएँ हैं ।

(१) प्राकृत और अपभ्र श की पृष्ठभूमि मे डिंगल साहित्य को परखने की यह पहली चेष्टा है ।

(२) मराठी, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, अग्रेजी और सस्कृत मे प्रकाशित तथा अनेक अप्रकाशित कृतियो के आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध मे पहले पहल प्राकृत-अपभ्र श और डिंगल साहित्य का सक्षिप्त इतिहास दिया गया है ।

(३) डिंगल वस्तुत भाषा है या शैली, तथा इसी प्रकार की अन्य सम्बद्ध समस्याओ का सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

(४) डिंगल के विभिन्न काव्य रूपो का विस्तृत अध्ययन पहले पहल प्रस्तुत प्रबन्ध मे किया गया है—रास,रासो, पवाडा, फागु, दवावैत, वचनिका, ख्यात, वात, डिंगल गीत आदि।

(५) डिंगल साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियो को परखकर उनके प्रेरक स्रोतो को देखा गया। वयणसगाई, काव्यदोष तथा अन्य प्रवृत्तियो एव रूढ़ियो की विस्तृत समीक्षा की गई।

(६) प्राकृत व अपभ्रंश का डिंगल साहित्य पर वस्तुगत, शैलीगत और शिल्पगत प्रभाव दर्शाया गया।

(७) डिंगल साहित्य विषयक अनेक भ्रामक धारणाओ का निराकरण किया गया और नवीन मान्यताओ की स्थापना की गई।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत प्रबन्ध को तैयार करने मे मैंने पूर्वलिखित विद्वानो से अपरिमित सहायता पाई है, उनके सम्मान मे नतमस्तक हूं। इसी प्रकार उन सभी विद्वानो का आभारी हू जिनकी रचनाओ मे मुझे सहायता मिली है। पुस्तक प्रकाश जोधपुर, सुमेर पब्लिक लायब्रेरी जोधपुर, ज्ञान-भण्डार बडा उपाश्रय पाटण, सरस्वती-भवन उदयपुर, अभयजैन ग्रथालय बीकानेर, आनन्द बाई ज्ञान भण्डार जामनगर, दिगम्बर ज्ञान भण्डार कारजा तथा सेठ दलपतभाई लालभाई भारतीय सस्कृति मदिर अहमदाबाद के अधिकारियो ने मुझे पुस्तकें प्राप्त करने मे मदद की, उनके प्रति भी आभारी हू।

आदरणीय डा० सोमनाथ जी गुप्त के मार्ग-दर्शन के अभाव मे यह कुछ भी नहीं हो सकता था। उन्ही के प्रोत्साहन और समय-समय पर दी गई सक्रिय सहायता से इस महत् कार्य को मैं पूर्ण कर सका। उनकी महती कृपा को सदैव नतमस्तक हो स्वीकार किया है। श्रद्धासवलित हृदय का मौन ही उनके चरणो मे निवेदित है।

लेखक को इस बात का हार्दिक खेद है कि प्रकाशक एव लेखक के चाहने पर भी ग्रथ के मुद्रण मे बहुत सी भूलें रह गई हैं। ग्रथ का प्रूफ ठीक प्रकार से देखने वाले के लिए प्राकृत, अपभ्रंश तथा डिंगल का जानकार होना जरूरी था। साथ ही

राजस्थान की स्थानीय विशेषताओ को समझना भी जरूरी था। अधिकाश सामग्री मैं नही देख पाया। नाना प्रकार की चेष्टाएँ की गई कि प्रूफ की भूलें न रहने पायें; फिर भी कतिपय त्रुटियाँ रह गई है। सुधी पाठको से उदारता की अपेक्षा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे राजस्थान विश्वविद्यालय ने आर्थिक अनुदान दिया है, एतदर्थ लेखक विश्वविद्यालय के अधिकारियो का हार्दिक आभार मानता है।

—गोवर्द्धन शर्मा



विषय-सूची



१

प्राकृत : भाषा और साहित्य

किसे प्राकृत के नाम से सबोधित किया जाय? कौन सी भाषा प्राकृत कहलाने की अधिकारिणी है? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर दो तीन ढग से दिया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानो ने प्राकृत शब्द का प्रयोग इन अर्थों मे किया है[1]—

(१) वे विशेष भाषाए जिनका भारतवर्ष मे प्राकृत शब्द से उल्लेख किया जाता है। जैसे महाराष्ट्री, या संस्कृत नाटको के प्राकृत अश।

(२) मध्यम भारती युग की भाषाए।

(३) साहित्यिक और शिष्ट भाषा से भिन्न सहजन्य लोक भाषा के लिए। इस अन्तिम अर्थ मे कई लेखक प्राकृत के तीन भेद करते है[2] प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्राकृतें जो तीनो बड़े युगो की सहजन्य लोक भाषाए थी।

इन तीनो प्रयोगो से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि चाहे जो हो प्राकृत भाषाए-चाहे उन्हे लोक भाषा के रूप मे ग्रहीत किया जाय अथवा साहित्यिक के-भारत के भाषा-इतिहास की एक अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की नव्य-भारतीय-आर्यभाषाए और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय-आर्य भाषा जैसे कि वेद की भाषा, यह दोनो स्वरूपो के बीच की जो भारतीय भाषा इतिहास की अवस्था है, उसको हम प्राकृत नाम दे सकते हैं।[3] इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है-भारतीय आर्यभाषाओ को प्राचीन मध्य और आधुनिक, तीन कालो मे विभाजित किया गया है। प्राकृत, मध्यकालीन भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है[4]।

इसी व्यापक अर्थ मे लेने पर ६०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के सोलह सौ वर्षो तक भारतीय-आर्यभाषा विभिन्न प्राकृतो तथा तत्पश्चात् अपभ्रन्श के रूप मे विकसित होती हुई, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की जननी बनी।[5] आर्यभाषा

---

१ बनारसीदास जैन . प्राकृत प्रवेशिका-पृ० ५

२ ग्रियर्सन, बूल्नर, पिशेल, डा० प्रबोध पडित, डा० तिवारी आदि सभी तीन विभाजन करते है। विस्तृत विवेचन अन्यत्र है।

३ डा० प्रबोध बेचरदास पडित : भाषा-पृ० १

४ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल . हिन्दी साहित्य कोश-पृ० ४९२

५ डा० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-पृ० ६०

के मध्यकालीन स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिए १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों मे बाटा जा सकता है—

(१) प्रथम पर्व, जिसमे लगभग २०० ई० पूर्व तक के प्रारंभिक परिवर्तन तथा २०० ई० पूर्व से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

(२) २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।

(३) ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व।[1]

प्रथम पर्व मे भाषा के विकास के अध्ययन की सामग्री पालि साहित्य तथा अशोक के अभिलेखो मे प्राप्त होती है। भरतसिंह पालि के इस काल को ५०० ई० पूर्व से १ ई० पूर्व तक मानते है।[2] पालि को आजकल 'प्राचीन प्राकृत' मानते हैं और प्राकृत से उसे भिन्न समझते हैं। प्राकृत के वैयाकरणो तथा अलंकार-शास्त्रज्ञों ने पाली को पृथक् मानकर प्राकृत व्याकरण आदि लिखते समय इसका कुछ भी उल्लेख नही किया है।[3] इसीलिये हम भी प्रस्तुत अध्याय मे पालि पर विस्तृत विचार नही करेंगे।

द्वितीय पर्व मे जिस प्राकृत को ग्रहण किया जाता है, उसे साहित्यिक प्राकृत के नाम से भी अभिहित किया जाता है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन मध्यकाल की प्राकृत भाषा और साहित्य तक सीमित है। अत यहा प्राकृत का व्यापक अर्थ न लेकर उसका ऐतिहासिक अर्थ ही लिया गया है, जिसके अनुसार प्राकृत एक ओर संस्कृत तथा पालि और दूसरी ओर अपभ्रन्श तथा आधुनिक आर्य भाषाओ के बीच की कडी है। अर्थ-वैशिष्ट्य के नाते विद्वानो ने उसको साहित्यिक प्राकृत कहा है।[4]

तृतीय पर्व मे अपभ्रन्श का विकास लिया जाता है। इसे प्राकृत साहित्य का अंतिम काल माना जाता है।[5] इस पर दूसरे अध्याय मे विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। अत इस अध्याय मे इस पर कोई चर्चा नही की जायेगी।

प्राकृत की व्युत्पत्ति

प्राकृत के वैयाकरणगण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति मे प्रकृति शब्द का अर्थ संस्कृत करते हुये प्राकृत भाषाओ की उत्पत्ति लौकिक संस्कृत से मानते हैं। संस्कृत के कई अलंकार-शास्त्रो के टीकाकारो ने भी तद्भव और तत्सम शब्दो मे स्थित 'तत्' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत मे लगाकर इसी मत का अनुसरण किया है। इस विषय पर हेमचन्द्र आदि मे ही कहता है—

---

१ डा० उदयनारायण तिवारी . हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-पृ० ६०

२ भरतसिंह उपाध्याय पालि साहित्य का इतिहास-पृ० ११, १२

३ मधुसूदन प्रसाद · प्राकृत व्याकरण—भूमिका ध्रुवनारायण-पृ० ४

४ डा० हरदेव बाहरी . प्राकृत और उसका साहित्य-पृ० १४

५ डा० प्रबोध वेचरदास पंडित . प्राकृत भाषा-पृ० २

प्रकृति सस्कृतम् । तत्र भव प्राकृतम् उच्यते । १।१

अर्थात् 'आधारभूत भाषा सस्कृत है और इस सस्कृत से जो भाषा निकली है या आई है वह, प्राकृत कहलाती है।' इसी प्रकार 'मार्कण्डेय' ने भी अपने 'प्राकृत सर्वस्वम्' के आरम्भ मे ही लिखा है—

प्रकृति. सस्कृतम् । तत्र भव प्राकृतम् उच्यते ।१

'दशरूपक' की टीका मे 'धनिक' ने २-६० मे लिखा है—

प्रकृतेर् आगत प्राकृतम् । प्रकृति सस्कृतम् ।

'वाग्भटालकार' २-२ की टीका मे 'सिंहदेवगणिन्' ने लिखा है—

प्रकृते. सस्कृताद् आगत प्राकृतम् ।

पीटर्सनकी तीसरी रिपार्ट के ३४३-७ मे 'प्राकृत चन्द्रिका' मे आया है—

प्रकृति. सस्कृतम् । तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम् ।

'नरसिंह' ने 'प्राकृत शब्द-प्रदीपिका' के आरम्भ मे ही कहा है। उसकी तुलना कीजिए—

प्रकृते सस्कृतायास् तु विकृति प्राकृती मता ।

कर्पूरमंजरी के बम्बई सस्करण मे वासुदेव की जो सजीवनी टीका दी गई है, उसमे लिखा है -

प्रकृतस्य तु सर्वम् एव सस्कृतम् योनि. ।६।२

प्राकृत सजीवनी मे सस्कृत को प्राकृत की योनि माना गया है ।

प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृत योनि. ।

काव्यादर्श की प्रेमचन्द तर्कवागीश कृत टीका मे सस्कृत के प्रकृत रूप से प्राकृत को उत्पन्न माना है—

सस्कृत रूपाया प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम् ।

इसमे कोई सन्देह नही कि साहित्य मे सुरक्षित रहकर प्राकृत का जो रूप हमे उपलब्ध हुआ है, इससे प्राकृत को सस्कृत की पुत्री कहा जा सकता है। उसके ९५ प्रतिशत शब्द सस्कृत से मिलते हैं। इसका धातुकोष तो पूर्णतया सस्कृतज है। इसका व्याकरण भी सस्कृत की प्रकृति के अनुरूप है—कुछ रूपो का सक्षिप्तीकरण और कुछ का सामान्वीकरण अवश्य हुआ है।[1] सस्कृत से हटकर जिस प्रकार की स्वतत्रता और विभिन्नता अपभ्रश अथवा आधुनिक भाषाओं मे पाई जाती है, वैसी प्राकृत मे नही। साहित्यिक प्राकृत तो विशेषतया सस्कृत की परिचारिका बनकर चली है। इसीलिए इसमे तद्भव शब्दो का बाहुल्य और ठेठ देशी शब्दो की कमी है। प्राकृत का उत्तरवर्ती साहित्य ऐसा लगता है कि सस्कृत से उल्था कर लिया गया हो। सभवत. बहुत से परवर्ती लेखक सोचते सस्कृत मे थे और लिखते प्राकृत

---

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ९

मे थे, जैसे आजकल के कई सुशिक्षित साहित्यकार अंग्रेजी मे सोचते है और उसका अनुवाद अपनी भाषा मे कर लेते हैं।[1]

परन्तु भाषा शास्त्र की दृष्टि मे उक्त मत असगत, अप्रामाणिक और उलटा लगता है।[2] ऊपर दी गई व्युत्पत्तियो का तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द प्रकृति से बना है, प्रकृति का अर्थ है सस्कृत भाषा और सस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है, वह है प्राकृत भाषा। प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ सस्कृत भाषा कभी नही होता—सस्कृत के किसी कोष मे प्राकृत शब्द का यह अर्थ उपलब्ध नही है, और गौण या लाक्षणिक अर्थ तब तक नही लिया जाता, जब तक मुख्य अर्थ मे बोध न हो।[3] दरअसल सस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच मे किसी प्रकार का कार्य-कारण-भाव है ही नही।[4]

दूसरे मत के अनुसार प्राकृत भाषा का बोध करानेवाला प्राकृत शब्द प्रकृति मे बना है। 'प्रकृति' का एक अर्थ स्वभाव भी है अत जो भाषा स्वाभाविक है, वह प्राकृत शब्द मे घोषित होती है।[5] इसी से मिलता-जुलता अर्थ जनसाधारण भी लिया जाता है, इसीलिए हरगोविंददास सेठ ने 'प्राकृतया स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम्' अथवा प्रकृतीनां साधारण जनानाम् इद प्राकृतम्' के द्वारा प्राकृत को व्युत्पत्ति की व्याख्या की है।[6] इस मत के समर्थन में उन्होने निम्न उद्धरण दिया है—

'प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहितसस्कार सहजो वचन-व्यापार प्रकृति तत्र भव सेव वा प्राकृतम्'।[7]

यह उद्धरण रुद्रटकृत 'काव्यालकार' के टीकाकार नमिसाधु का है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकृति शब्द का अर्थ है लोगो का व्याकरण आदि के सस्कारो मे रहित स्वाभाविक वचन व्यापार, उसमे उत्पन्न, अथवा वही है प्राकृत।

इस प्रकार हमने देखा कि कर्म से सक्षेप मे प्राकृत की व्युत्पत्ति को लेकर दो मत है—पहला तो यह कि प्रकृति अर्थात् सस्कृत से उत्पन्न प्राकृत। दूसरा यह कि प्रकृति अर्थात् जन सामान्य की व्याकरणादि के सस्कारो से मुक्त कथ्य भाषा पर आधारित प्राकृत। इनमें से दूसरा मत अधिक ग्राह्य है।

प्राकृत भाषा का विकास

पिशेल ने यह स्पष्ट किया है कि कुछ वैयाकरण प्राकृत शब्द के विश्लेषण—प्राक्+कृत —पहले बनी भाषा के आधार पर इसे संस्कृत से भी प्राचीनतर मानते

---

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और साहित्य पृ०—६
२ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श पृ०—३
३ हरगोविन्ददास सेठ पाइअ सद्दमहण्णवो—भूमिका पृ०—८
४ बेचरदास दोशी . जिना गमकथा संग्रह भूमिका पृ० ४—५
५ बेचरदास दोशी : जिनागमकथा सग्रह—भूमिका—पृ०—१
६ हरगोविन्ददास सेठ: पाइअ सद्दमहण्णवो—भूमिका—पृ०-४
७ वही—पृ० ९

है। अपने नैसर्गिक रूप मे यह वैदिक काल के पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषा को स्वय उस काल मे प्रचलित प्राकृत बोलियो का साहित्यिक रूप माना जाता है।[1] सब प्राकृत भाषाओ का वैदिक व्याकरण और शब्दो का नाना स्थलो मे साम्य है, और ये बाते सस्कृत मे नही पाई जाती।[2] वैदिक सस्कृत और शिलालेखी प्राकृत दोनो भाषाए परस्पर बहिनें है—क्योकि दोनो का विकास वैदिक युग की कथ्य –भाषाओं से– स्थानीय लोकभाषाओ से हुआ था।[3] जिस समय लौकिक सस्कृत भाषा प्रचलित हुई उस समय भी साधारण लोगो की स्वतत्र कथ्य भाषा विद्यमान थी, यह नाटक आदि मे सस्कृत भाषा के साथ प्राकृत भाषी पात्रो के उल्लेख से प्रमाणित होता है।[4] क्या तो वैदिक सस्कृत और क्या लौकिक सस्कृत, दोनों ही उस समय की प्राकृत भाषाओ से उत्पन्न हुई हैं। आजकल के भाषा-तत्वज्ञो मे इसी सिद्धान्त का अधिक आदर देखा जाता है।[5]

आठवी शती के महाकवि वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य मे इसी मत को इस प्रकार प्रकट किया है –

सयलाओ इमं वाया विसति एतोणेंति वायाओ।
एंति समुद्द चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाह ॥ ९३ ॥

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा मे सभी भाषायें प्रवेश करती है और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषायें निर्गत हुई हैं। जल आकर समुद्र मे ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्परूप से बाहर होता है।

आज यह मान लिया गया है कि प्राकृत का विकास सस्कृत से नही हुआ है। प्राकृत भाषाएँ वास्तव मे कृत्रिम और काव्य की भाषाएँ है, क्योकि इन भाषाओ को कवियो ने अपने काव्यो मे काम मे लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ मे तोडी-मरोडी हुई या कृत्रिम भाषाएँ नही है कि हम यह समझे कि वे कवियो की कल्पना की उपज हो।[6] इनका ठीक वही हिसाब है जो सस्कृत का है, जो शिक्षित भारतियो की सामान्य बोलचाल की भाषा नही है और न इसमे बोलचाल की भाषा का पूरा आधार मिला है, किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गई किसी 'भाषा' के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई। भेद इतना ही कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओ को सस्कृत की भाति एक मूल भाषा तक पहुचाया जाय। केवल सस्कृत को ही इसका मूल समझना

---

१ सरयूप्रसाद अग्रवाल : हिन्दी साहित्य कोश – पृ० ४९२
२ डा० पिशेल : प्राकृत भाषाओ का व्याकरण – पृ० ८
३ वी० जे० चौकसी : कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर – पृ० ६
४ हरगोविन्ददास सेठ : पाइअस महण्णवो – भूमिका – पृ० ८
५ वही – पृ० ९
६ बीम्स · काम्परेटिव ग्रामर आफ दि मोर्डन आर्यन लेंग्वेजेज– खण्ड १–पृ० २०१

जैसा कि कई विद्वान समझते हैं और इन विद्वानो मे होफ्फर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी भी शामिल है, भ्रमपूर्ण है। प्राकृत का मूल, संस्कृत को बताना सम्भव नही है, इसे पिशेल ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है।[1]

भाषा के विकास की दृष्टि से भी 'प्राकृत' का संकुचित अर्थ ही लिया जाना है क्योंकि ६०० ई० पूर्व से लेकर १००० ई० तक की सभी भाषायें प्राकृत के नाम से कही गयी है जिन्हे 'आरम्भिक प्राकृत' 'मध्यकालीन प्राकृत' और 'उत्तरकालीन प्राकृत' के नाम से विभाजित किया गया है। आरम्भिक प्राकृत के अन्तर्गत पालि और शिलालेखी प्राकृत अथवा लेख प्राकृत, मध्यकालीन प्राकृत के अन्तर्गत महाराष्ट्री, 'शौरसेनी', 'मगधी', 'अर्धमागधी', 'पैशाची' आदि और उत्तरकालीन के अन्तर्गत 'नागर', 'उपनागर', 'व्राचड', आदि अपभ्रंश भाषाओ की गणना की जाती है। परन्तु और भी अधिक संकुचित रूप मे कुछ लोगो ने मध्यकालीन प्राकृतो की ही गणना साहित्यिक प्राकृत भाषाओ के रूप मे की है।

संस्कृत भाषा की सर्व व्यापकता प्राचीन काल मे तो रही ही परन्तु बाद मे भी उसका यथेष्ट प्रभाव बना रहा, परन्तु एक काल ऐसा आया जब कि संस्कृत का व्यवहार सामान्य जनता मे नही रह गया। सर्वप्रथम अशोक के शिलालेखो तथा सिक्को पर संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा के कुछ उदाहरण मिलते हैं और साथ ही धार्मिक ग्रथो की प्राकृतो-(पालि और अर्धमागधी) मे भी उस काल का सम्पन्न साहित्य उपलब्ध होता है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथ्यो का जितना परिचय उक्त प्राकृतो मे मिल सकता है उतना उस काल मे प्रचलित संस्कृत भाषा से नही मिलता। उस काल मे उक्त प्राकृतें जन-सामान्य की भाषायें थी, संस्कृत जनता की भाषा नही रह गई थी। संस्कृत भाषा का परिष्कार प्रातिशाख्यो के समय से लेकर 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के समय तक बराबर होता रहा और वह जनसाधारण की भाषा न रह कर सीमित समुदाय की भाषा हो गई थी। प्राचीन आर्यों की विविध बोलियाँ-'उदिच्य', 'प्राच्य', 'मध्यदेशी', आदि जो ऋग्वेद-काल से ही प्रचलित थी वे संस्कृत के विकास के समय मे भी विविध क्षेत्रो मे प्रचलित थी और फिर उन्ही क्षेत्रो मे विभिन्न प्राकृत रूपो का विकास हुआ तथा इनका प्रचार तब तक बना रहा जब तक कि आधुनिक आर्य भाषाओ का विकास उनके आधार पर नही हो गया।[2]

प्राकृत भाषा के व्याकरण समय-समय पर और विभिन्न लेखकों द्वारा रचे गये। प्राचीन भारतीय वैयाकरणो द्वारा रचित ग्रथो की सूची निम्न है।[3] इस सूची मे वृत्तिया भी शामिल हैं।

१ प्राकृत प्रकाश—वररुचि (प्रकाशित)
२ प्राकृत लक्षण—चड (प्रकाशित)
३ प्राकृत व्याकरण—हेमचद्र (प्रकाशित)
४ प्राकृत सजीवनी—वसन्तराज (मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व मे उल्लेख)

---

१ पिशेल . प्राकृत भाषाओ का व्याकरण—हिन्दी अनुवाद—पृ० ८-९
२ सरयू प्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श—पृ० ५
३ बेचरदास दोशी प्राकृत व्याकरण—पृ० ४६-४७ से उद्धृत

५ प्राकृत कामधेनु—लंकेश्वर
६ प्राकृत व्याकरण—समंत भद्र
७ प्राकृत व्याकरणवृत्ति—त्रिविक्रम (प्रकाशित)
८ प्राकृत प्रक्रिया वृत्ति—उदय सौभाग्य (प्रकाशित)
९ प्राकृत प्रबोध—नरचंद्र
१० प्राकृत चंद्रिका–शेषकृष्ण पंडित
११ प्राकृत चंद्रिका–वामनाचार्य
१२ प्राकृत मनोरमा–भामह मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व मे उल्लेख
१३ प्राकृत रूपावतार–सिंहराज (प्रकाशित)
१४ प्राकृत दीपिका–चंडीधर शर्मा
१५ प्राकृत कल्पतरु-रामतर्कवागीश (प्रकाशित)
१६ प्राकृतमंजरी-कात्यायन (प्रकाशित)
१७ प्राकृत सर्वस्व–मार्कण्डेय (प्रकाशित)
१८ प्राकृतानंद–रघुनाथ शर्मा
१९ प्राकृत प्रदीपिका–नरसिंह
२० प्राकृत मणि दीपिका-चिन्नबोम्म भूपाल
२१ प्राकृत मणिदीप-अप्पयज्वन्-(प्रकाशित)
२२ षड्भाषा मंजरी—अज्ञात
२३ षड्भाषा वार्तिक-अज्ञात
२४ षड्भाषा चंद्रिका–लक्ष्मीधर (प्रकाशित)
२५ षड्भाषा चंद्रिका–भामकवि
२६ षड्भाषा सुबतादर्श–अज्ञात
२७ षड्भाषा रूपमालिका–दुर्गणाचार्य
२८ संक्षिप्तसार प्राकृतवाद-कुमदीश्वर
२९ प्राकृत व्याकरण—शुभचंद्र

हो सकता है कि कुछ और रचनाएँ अभी भी अज्ञात हो ।

प्राचीनतम प्राकृत-व्याकरण प्राकृत–प्रकाश के रचयिता वररुचिने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इन चारो के अतिरिक्त 'चूलिका पैशाचिक', आर्षअर्धमागधी' और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, नरसिंह आदि ने हेमचन्द्र के विभाजन का अनुकरण किया है । इनमे केवल त्रिविक्रम के अतिरिक्त, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश को षड्-भाषा के नाम से भी कहा गया है। मार्कण्डेयने इन छ के स्थान पर सोलह भाषाओ का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्राकृतको को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच चार वर्गो मे बाटा गया है। भाषा के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या आवन्ती, मागधी, दाक्षिणात्य एव बाह्लीकी, विभाषा के अन्तर्गत शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरीकी, ढक्की मुख्य रूप हैं, ओड्री और द्राविड़ी विभाषायें नही मानी गयी है, अपभ्रंश के सत्ताईस रूपो को नागर, उप नागर और ब्राचड मे और ग्यारह पैशाची भाषाओ को कैकय, शौरसेन और पाचाल, तीन रूपो मे गणना की गयी है । रामतर्कवागीश और पुरुषोत्तम ने भी मार्कण्डेय के उक्त विभाजन का समर्थन किया है ।[1]

---

१ सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श–पृ० ६—७

अब तक के अध्ययन से प्राकृत भाषा के वैज्ञानिक वर्गीकरण की समस्या हल नही हुई है। हमने ऊपर देखा है कि वररुचि, हेमचन्द्र या मार्कण्डेय, किसी भी वैयाकरण द्वारा दिया गया वर्गीकरण पूर्ण और सुस्पष्ट नही है। इसी प्रकार कालभेद पर आधारित वर्गीकिरण यथा–प्राचीन प्राकृत, मध्यवर्ती प्राकृत तथा पारवर्तीप्राकृत पालि–माहित्यक प्राकृतें–अपभ्रश भी उपयुक्त नही है। अत· हम प्राकृत का विभाजन इस प्रकार से करेंगे।[1]

१. शिलालेखी प्राकृत

अशोक के समय से लेकर बाद तक ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में उपलब्ध शिलालेखो की प्राकृत जो उस समय के शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा सिक्को मे पाई जाती है।

२ बहिर्भारतीय प्राकृत

इसके अन्तर्गत खोतान मे मिले खरोष्ठी लिपि मे लिखे 'धम्मपद' की प्राकृत तथा मध्यएशिया से मिले खोतानी हस्तलेखो की प्राकृत की गणना होती है जिसे निया-प्राकृत कहा जाता है।

३. धार्मिक प्राकृत

इसके अन्तर्गत बौद्धो की धार्मिक प्राकृत, पालि तथा जैनो की आर्षभाषा अर्धमागधी का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त जैन–महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी का भी समावेश होता है।

४ वैयाकरणो की प्राकृत

वररुचि तथा भरत से लेकर मार्कण्डेय तथा रामतर्कवागीश तक के वैयाकरणो द्वारा उल्लिखित प्राकृत एव प्राकृत की विभाषायें।

५ साहित्यिक प्राकृत

इसमे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा अपभ्रश के साहित्यिक रूप का समावेश होता है।

६ नाटकीय प्राकृत

इसमे भास तथा अश्वघोष से लेकर बाद तक के सस्कृत नाटको मे उपलब्ध तत् प्राकृत तथा उसकी वैभाषिक प्रवृत्तियो का समावेश किया जाता है। इसी मे प्राच्या, आवती, ढक्की, शकारी, चाडाली आदि का ग्रहण होता है।

७ व्यावहारिक या मिश्र सस्कृत

इसको कुछ विद्वान प्राकृत मे भिन्न मानना चाहेंगे, तथा अन्य विद्वान इसे सस्कृत में ही अन्तर्भूत करना चाहेंगे, किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह सस्कृत का ही वह प्रकृतीभूत रूप कहा जा सकता है, जिसका समावेश प्राकृत मे करना ठीक होगा। इसमे

---

१ भोलाशकर व्यास हिन्दी साहित्यका बृहत् इतिहास–खड १–पृ० २७२

महाभारत तथा पुराणो की व्यावहारिक सस्कृत बौद्धो की मिश्र सस्कृत या तथाकथित वौद्ध-मिश्र-सस्कृत तथा जैनो के कतिपय ग्रथो की मिश्र सस्कृत का समावेश किया जाता है। इसी को कुछ लोग 'गाथा डायलेकट" भी कहते हैं।[1]

हम यहा इन्ही प्राकृतो का सक्षिप्त परिचय जानने की कोशिश करेंगे।

१ शिलालेखी प्राकृत

प्राकृत के प्राचीनतम रूप यदि कही मिल सकते है, तो केवल शिलालेखो मे ही। इसी के जन्म से पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसवी सन् की तीसरी शदी तक अनेक प्रस्तरलेख गुफाओ, स्तूफो स्तम्भो आदि मे उत्कीर्ण मिलते हैं, फ्रेंच विद्वान सेनरा ने इस प्रस्तर–लेखो की भापा को 'स्मृतिस्तम्भो की प्राकृत' कहा है। यह नाम भ्रमपूर्ण है, क्योकि इससे यह अर्थ निकलता है कि यह भापा सोलह आने कृत्रिम है। इसपूर्ण पिशेलका सुझाव है कि इस वोली का नाम 'लेण-वोली' रखा जाय।[2] लेण का अर्थ गुफा है। यह शब्द सस्कृत लयन से निकला है, जो इन प्रस्तर-लेखो मे वहुधा पाया जाता है। अशोक के लेख अनेक लाटो पर मिलते है, इसलिए इसे लाट–विभापा भी कहा गया है।[3] ये शिला लेख हमे दो लिपियो मे मिलते है– व्राह्मी तथा खरोष्ठी। खरोष्ठी का प्रयोग केवल शाहवाजगढी और मानसेरो वाले लेखो मे है।[4] खरोष्ठी लिपि मे शाहवाजगढी और मानमेरा, व्राह्मी लिपि मे गिरनार, कालसी, धौली, जौगढ और सोपार के लेख हैं। लघु-शिला लेखो के अन्तर्गतरूपनाथ, सहस राम, वराट, व्रह्मगीरि सिद्धपुर, जटिंग, रामेश्वर, मस्की, कोपवाल, येरगुडि के लेख है। स्तम्भ लेख दिल्ली-तोपरा, दिल्ली, भिरत, इलाहावाद, काशाम्वी, रधिया, मधिया और रामपूर्वा के लेख हैं। लघुस्तंभ लेख सारनाथ, साची, इलाहावाद और कौशाम्वी मे मिलते हैं। स्तभ-दानलेख रुम्मिन्देह और नेपाल के नीगलिव स्थानो मे मिले है। लेणलेख गया जिले के वरावर और नागर्गुन गुफाओ मे उपलब्ध हुए है।[5] इस प्रकार अशोक के इन लेखो मे प्राकृत की चार वैभापिक प्रवृत्तिया परिलक्षित होती है[6]—उत्तरपश्चिमी प्राकृत या उदीच्य प्राकृत, पश्चिमी प्राकृत, मध्यपूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।[7]

अशोक के शिलालेखो के अतिरिक्त अन्य कई शिलालेख प्राकृत मे उपलब्ध होते हैं मेहडेल ने इन्हे पश्चिमी भारत मे प्राप्त शिलालेख, दक्षिण भारत मे प्राप्त शिलालेख तथा पूर्वी भारत मे प्राप्त शिला लेख, इन तीन वर्गो मे वांटा है, तथा इसी क्रम से अपनी पुस्तक मे इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि

---

१ डा० रामसिंह तोमर आलोचना अक–८–पृ० ५२

२ पिशेल प्राकृत भापाओ का व्याकरण–हिन्दी अनुवाद—पृ० १०

३ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श –पृ० १३

४ जनार्दन भट्ट अशोक के धर्मलेख–प्रथम अध्याय

५ डा० सरयूप्रमाद अग्रवाल : प्राकृत विमर्श — पृ० १२ – १३

६ डा० भोलाशकर हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास–पृ० २७३-प्रथम खड

७ डा० मधुकर मेहेंडन हिस्टोरिकल ग्रामर आफ इन्स्क्रिप्शनल प्राकृत पृ० १४२

शिलालेख बहुत पीछे तक के मिलते हैं, किन्तु शिला लेखी प्राकृत के अध्ययन की दृष्टि से विक्रम पूर्व तीसरी शताब्दी से विक्रम की चौथी शती तक के सात सौ वर्षों के शिला लेख ही विशेष महत्व के हैं। अशोक के बाद इस काल के शिला लेखों में खारवेल का हाथी गुफा शिला लेख, उदय गिरि तथा खड गिरि के शिला लेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओं के शिला लेख विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत के उपलब्ध शिला लेखों के अन्तर्गत पल्लव वंश के राजा शिवस्कंद वर्मन एवं युवराज विजय बुद्ध वर्मन की रानी के दान-वर्णन, कुल कुलका शिला लेख, सोमदेव कृत ललित विग्रहराज नाटक के कुछ अंश भी गिने जाते हैं। ब्यूलर, ल्यूमैन और पिशेल ने इनका उल्लेख किया है। पिशेल ने इनको 'पल्लवग्रान्ट' के नाम से पुकारा है।[1] सिंहल द्वीप के शिला लेख १०० ई० पूर्व से लेकर २०० ई० तक के उपलब्ध होते हैं, जिनका साम्य मध्यपूर्वी समूह से स्थिर किया गया है। गुफा एवं शिला लेख सम्पूर्ण द्वीप में पाये जाते हैं और प्रस्तर लेख तालाबों के आस पास मिलते हैं और उनमें तालाबों का मंदिर के लिए दान का उल्लेख है। गाइगरने इसे सिंघाली-प्राकृत का नाम दिया है। कांगडा एवं मथुरा में पाये गये शिला लेख भी महत्व के हैं।

मध्यकालीन आर्य भाषाओं अथवा प्राकृत का उल्लेख भारतीय प्रारंभिक सिक्कों पर भी मिलता है। इन सिक्कों में कुछ सिक्के तो लेख पूर्ण और कुछ सिक्के लेख रहित हैं। लेख रहित सिक्कों के अन्तर्गत पश्चिमोत्तर भारत के चांदी और तांबे के सिक्के हैं और लेखपूर्ण सिक्कों के अन्तर्गत ग्रीक, ब्राह्मी, खरोष्टी और आरम्भिकनागरी लिपि में प्राप्त सोने, चांदी और तांबे के सिक्के हैं।[2] भाषा की दृष्टि से दूसरे प्रकार की मुद्राएं ही महत्वपूर्ण हैं और ये भारत के विभिन्न भागों में ३०० ईसवी के बाद से मिलते हैं। प्राकृतों के ध्वनि विवेचन के लिये उन सिक्कों का महत्व असंदिग्ध है। चूंकि हमारा अध्ययन भाषा विषयक न होकर साहित्य-विषयक है, हम इस पर और अधिक विस्तार में जाना अनावश्यक समझते हैं।

२ बहिर्भारतीय प्राकृत

इस कोटि की प्राकृतों के अन्तर्गत खोतान में मिले खरोष्ठी लिपि के 'प्राकृत-धम्मपद' तथा 'निया प्राकृत का समावेश होता है।

सन् १८९२ ई० में फ्रांसीसी यात्री दुत्रवील दराने खोतान से खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए कुछ लेख प्राप्त किए। ओल्डेनबर्ग और सैनार ने इनका अध्ययन प्रस्तुत किया और बताया कि वे लेख धम्मपद के हैं, जिसकी भाषा पश्चिमोत्तर

१ पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद –पृ० १५

२ सत्यप्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श–पृ० १५

बोलियो से अत्यधिक प्रभावित है। ज्यूल्स् ब्लाक ने इसे 'खरोष्ठी-धम्मपद' कहकर पुकारा है। इसकी भाषा पाली से भिन्न है, इसलिए इसे प्राकृत-धम्मपद भी कहा जाता हैं।

सर ओरेल स्टेनने चीनी तुर्किस्तान मे कई खरोष्ठी लेखो का अनुसधान किया। सन् १९०१ से सन् १९१४ तक के समय मे तीनवार उन्होने यात्रायें की और निया-प्रदेश से अनेक लेख प्राप्त किये। ये लेख निया-प्रदेश से प्राप्त हुए है, अत. इनकी भाषा निया-प्राकृत के नाम से पुकारी जाती है। ये लेख खरोष्ठी लिपि मे है और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इनका दरदी भाषाओ से विशेष सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। दरदी वर्ग की तोखाली के साथ इसका निकटतम सम्बन्ध है।[1] इन लेखो मे अधिकतर लेख राजकीय विषयो से सम्बद्ध हैं।[2] उदाहरण के लिए राज आज्ञाए, प्रान्ताधीशो या न्यायाधीशो के प्रसारित आदेश, क्रय-विक्रयपत्र, निजीपत्र और नाना प्रकार की सूचिया। इस भाषा मे दीर्घस्वर, ऋ ध्वनि तथा सघोष ऊष्म ध्वनियो के लिपि चिह्नो के आस्तित्व का पता लगता है, जबकि ये ध्वनिया अन्य भारतीय प्राकृतो मे नही पाई जाती।

३. धार्मिक प्राकृत·

धार्मिक प्राकृतो के अन्तर्गत हम बौद्ध तथा जैन धार्मिक ग्रन्थो की प्राकृत लेते है। इसमे पालि, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी की गणना की जा सकती है। चूंकि पालिभाषा और साहित्य से प्रस्तुत प्रबन्ध का विषयगत सम्बन्ध नही है, अत· इस सम्बन्ध मे विशेष विचार करना अनावश्यक होगा, इसीलिए पालि सम्बन्धी चर्चा को यहा स्थान नही दिया गया।

जैन प्राकृत साहित्य को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है-(१) सिद्धान्त साहित्य और (२) सिद्धान्तेतर साहित्य। दूसरे प्रकार का जैन-प्राकृत-साहित्य साहित्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जैनो का अधिकाश साहित्य अर्धमागधी आर्षप्राकृत से सम्बद्ध माना जाता है।[3] किन्तु जैन विद्वानो ने अर्धमागधी या आर्षप्राकृत के अतिरिक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत मे भी रचनाये की हैं। महाराष्ट्री तथा शोरसेनी का जो रूप हमे जैन ग्रन्थो मे मिलता है, वह परनिष्ठित प्राकृत साहित्य की महाराष्ट्री शौरसेनी से कुछ भिन्न है, इसलिये विद्वानो ने इन्हे जैन-महाराष्ट्री और जैन-शौरसेनी कहा है।[4]

४. साहित्यिक या परिनिष्ठित प्राकृत

प्राकृत वैयाकरणो ने चार प्रमुख प्राकृते मानी है-महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची।

---

१ कत्रे· प्राकृत लेंग्वेज एण्ड देयर कंट्रिब्युशन टु इडियन कल्चर, पृ० ३५

२ भोलाशकर व्यास हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास खड, १ पृ० ७५

३ कपाडिया पाइअ भाषा अने साहित्य, पृ० ७०

४ बनारसीदास जैन-प्राकृत प्रवेशिका-दसवा अध्याय

महाराष्ट्री प्राकृत क्या किसी प्रदेश विशेष की भाषा थी ? इस सम्बन्ध मे मतभेद है। प्रारम्भ मे विद्वानो ने प्राकृतो के स्थानवाचक नामों के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा मानना चाहा। आज भी कुछ मराठी विद्वान यही विचार रखते है।[1] उनके अनुसार महाराष्ट्र प्रदेश मे प्रचलित प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत कहलाई। इसी स्थानिक आधार को लेकर ग्रियर्सन ने प्राकृतो का विभाजन इस प्रकार किया है—

केन्द्रीय प्राकृत······· शोरसेनी

बाह्य प्राकृत······पूर्व·········मागधी

दक्षिण······महाराष्ट्री

अन्तरीय ··· · ······ ···अर्धमागधी

बूलर भी इस विभाजन को उपयुक्त मानते हैं।[2] किन्तु अन्य विद्वान इसी मत को नही मानते। डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल[3], डा० प्रबोध वेचरदास पंडित[4], हार्नले[5], डा० मनमोहन घोष[6], डा० तगारे[7], डा० पिशेल, सभी विद्वान इसे प्रकारान्तर मे शोरसेनी प्राकृत का विकसित रूप सिद्ध करते है। डाक्टर प्रबोध पंडित के अनुसार हमारे समक्ष एक ही प्राकृत विविध रूपो से प्रगट होता है। प्रथम शेरसेनी प्राकृत के रूप मे, पश्चात महाराष्ट्री के रूप मे। ये प्राकृत उनके नाम के अनुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भाषाए नहीं, किन्तु प्राकृतो की दो ऐतिहासिक भूमिका मात्र हैं।[8]

अधिकतर वैयाकरणो ने भी महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष वर्णन किया है और अन्य प्राकृतो के केवल मुख्य मुख्य लक्षण देकर शेष महाराष्टीवत' कहकर काम चला लिया है। दण्डी का कहना है कि 'महाराष्ट्राश्रया भाषा प्राकृष्त विदु.' महाराष्ट्री सर्वोत्कृष्ट प्राकृत है। इसमे कोई सदेह नही हैं कि पाचवी–छठी शताब्दी मे महाराष्ट्री का साहित्यिक प्रभाव भारत भर मे व्याप्त था। सेतुबन्ध, गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग, रावण वहो, गउवहो, कुमारपाल चरित आदि अधिकाश महत्वपूर्ण रचनायें महाराष्ट्री प्राकृत मे ही है।

शोरसेनी–मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश को शूरसेन कहते है, वही की भाषा शोरसेनी कहलाई। ऐतिहासिक दृष्टि से शोरसेनी उत्तरकालीन वैदिकभाषा,

---

१ सदाशिव आत्माराम जोगलेकर गाथा सप्तशती-भूमिका-पृ० ४०
२ ए० सी० बूलर इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत-दसवा अध्याय
३ प्रबोध वेचरदास पडित प्राकृत भाषा, पृ० ३६
४ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० २४ पर उद्धरित
५ माचवे : मराठी और उसका साहित्य, पृ० १५ पर उद्धरित
६ वही, पृ० १३ पर उद्धरित
७ पिशेल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, हिन्दी अनुवाद, पृ० ७ टिप्पणी
८ प्रबोध पडित, प्राकृत भाषा, पृ० ३८

सस्कृत और साहित्यिक पालि-इन सबकी उत्तराधिकारिणी थी। प्राकृतो मे शोरसेनी सबसे पुरानी मानी जाती है। बडे दुर्भाग्य की बात है कि मध्य प्रदेश का पर्याप्त साहित्य राजनीतिक क्रान्तियो के कारण नष्ट हो गया। शोरसेनी का लोक-साहित्य केवल नाटको मे सुरक्षित रह गया है। धार्मिक साहित्य जैन ग्रन्थो मे पाया जाता है। विद्वानो ने भाषा के उस रूप को जैन-शोरसेनी भी कहा है। हम इसकी चर्चा पहले कर ही चुके है। दिगम्बर मत का सिद्धान्त साहित्य इसी मे है, इस कारण से कुछ लोगो ने इसे दिगम्बरी-भाषा भी कहा है।[1] शोरसेनी न केवल अपने क्षेत्र की व्यापक भाषा थी वरन अन्य प्राकृतो के भाषा-क्षेत्रो को भी इसने यथेष्ट रूप मे प्रभावित किया तथा कई उत्तर तथा पश्चिमोत्तर भाषाओ के उद्भव मे सहायता की।[2]

मागधी-पूर्व मे बिहार प्रदेश के प्राचीन 'मगध' राज्य के नाम पर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियो मे मगहीका इससे नाम साम्य है। पूर्वी क्षेत्रो मे मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्ध के उपदेशो की भाषा कही जाती है और पालि भाषा का मूल श्रोत भी यही है। उसका कोई स्वतन्त्र साहित्य उपलब्ध नही होता। केवल पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखो तथा सस्कृत नाटको मे निम्न श्रेणी के पात्रो की भाषा के रूप मे यह सुरक्षित है।[3]

५. पैशाची

पैशाची एक प्राचीन प्राकृत मानी जाती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार इनके एक सम्प्रदाय—स्थविर वादियो के ग्रन्थ पैशाची मे थे।[4] इसकी प्राचीनता तो इतनी है कि विद्वानो ने इसे पालि, अर्धमागधी और शिला लेखो की प्राकृत की कोटि मे रखा है।[5] यहा तक कि हरगोविन्द दास सेठ ने पालि की उत्पत्ति की सम्भावना भी इसी से मानी है।[6] इसे भूत भाषा अर्थात् भूतो की बोली कहा गया है—काव्यादर्श १/३८, सरस्वतीकठाभरण ६५/११-१३ कथा सरित्सागर ७/२९ और ८/३० आदि। पिशेल का अनुमान है कि पिशाच जनता द्वारा पिशाच देश मे यह भाषा बोली जाती होगी। पैशाच जाति का उल्लेख भी महाभारत (७/१२१/१४) मे पाया जाता है। कुछ वैयाकरणो ने इसके भी अनेक भेद स्वीकार किये हैं, उस ब्यौरे मे जाने की यहा कोई आवश्यकता नही है। हार्नल के अनुसार पैशाची आर्य भाषा थी जिसका प्रयोग द्राविड लोग करते थे। उनकी इस मान्यता का आधार ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन

---

१ हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० २५
२ सरयूप्रसाद अग्रवाल · हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४९३
३ सरयूप्रसाद अग्रवाल . हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४६३
४ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य–पृ० २८
५ शालिग्राम उपाध्याय · हिन्दी अनुशीलन–धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक पृ० ६४
६ हरगोविन्ददास सेठ पाइअलद्द महण्णवो–भूमिका–पृ० १४

रहा है किन्तु फ्रांसीसी विद्वान् सेनार इसे ठीक नही मानते । अस्तु । इसके उदाहरण कथा सरित्सागर, बृहत्कथा-मजरी, बालरामायण, वाग्भट्टालंकार आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों मे मिल जाते है । इसके अवशेष नीनी, तुर्किस्तान, काफिरस्तान, गांधार आदि मे पाये गए शिला लेखों मे भी मिलते है ।[1] वैसे पैशाची मे स्वतन्त्र रूप मे कोई कृति नही मिलती है । गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' के कारण इसकी ख्याति है । परन्तु मूल कृति काल-कवलित हो गई है । इसका एक उपभेद चूलिका पैशाची भी माना गया है । आधुनिक पश्चिमोत्तरी बोलियां तथा भाषायें—कश्मीरी, सीना, दरदी, काफरी, चित्राली, इसकी उत्तराधिकारिणी कही गई है ।

६ नाटकीय प्राकृत .

सस्कृत नाटको मे सस्कृत के साथ प्राकृतो का भी प्रयोग मिलता है । भरत ने अपने नाट्य शास्त्र मे पात्र भेद के अनुसार भाषा भेद का सकेत किया था । सस्कृत नाटको की प्रमुख प्राकृतें महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी है । महाराष्ट्री का प्रयो केवल पद्यो तथा गीतो मे मिलता है । नाटको की प्राकृतो मे प्रमुख स्थान शौरसेनी का है । स्त्रिया, बच्चे, तथा अन्य मध्यवर्ग के पात्र शौरसेनी मे बोलते है । मागधी का प्रयोग शौरसेनी की अपेक्षा कम पाया जाता है । इसे निकृष्ट कोटि के पात्र बोलते हैं । शाकुतल मे इसे मछुआ तथा राजसेवक बोलते है । मृच्छकटिक मे स्थावरक, कुभीलक, वर्धमानक, रोहसेन तथा चाडाल इसका प्रयोग करते है । शकारी तथा चाडाली आदि मागधी की ही विभाषायें है । शकारी का प्रयोग मृच्छकटिक मे पाया जाता है, राजश्याल सस्थानक शकारी बोलता है ।

सस्कृत नाटको मे प्राकृत के प्रयोग की परम्परा अश्वघोष के तुर्फान से मिले 'शारि पुत्र प्रकरण' तथा 'गणिका रूपकों' मे पाई जाती है । प्रो० ल्यूडर्स के मतानुसार इन नाटको के अलपात्र प्राचीन मागधी का, गणिका तथा विदूषक प्राचीन शौरसेनी का तथा तापस प्राचीन अर्धमागधी का प्रयोग करते है ।[2] अश्वघोष के बाद भास की नाटकीय प्राकृत आती है । इनमे प्राय शौरसेनी का प्रयोग हुआ है । मागधी का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा चारुदत्त तथा बालचरित मे एव अर्धमागधी का प्रयोग कर्णभार मे हुआ है ।[3] कालिदास के नाटको मे शौरसेनी तथा मागधी का प्रयोग हुआ है, गीतो मे महाराष्ट्री भी पाई जाती है । प्राकृत की दृष्टि से शूद्रक के मृच्छकटिक का अत्यधिक महत्व है । मृच्छकटिक मे शौरसेनी तथा मागधी के शुद्ध रूप के अतिरिक्त कई विभाषाएँ मिलती है । शौरसेनी की दो विभाषायें प्राच्य तथा आवती का प्रयोग क्रमश विदूषक तथा वीरक करते हैं । पिशेल के मतानुसार चदनक दाक्षिणात्य का प्रयोग करता है । सस्थानक शकारी बोलता है तथा माथुर ढक्की या टक्की बोलता

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य पृ० २८-२९
२ कीथ सस्कृत ड्रामा—पृ० ८६-८७
३ कीथ सस्कृत ड्रामा—पृ० १२२

है। अश्वघोष, भास, शूद्रक तथा कालिदास के बाद के नाटको की प्राकृत अत्यधिक कृत्रिम है। भट्टनारायण, भवभूति, मुरारि आदि कवियों के नाटको की प्राकृत सस्कृत के आधार पर वैयाकरणो के[1] नियमो को ध्यान मे रखकर बनाई गई कृत्रिम प्राकृत प्रतीत होती है।

७-वैयाकरणो की प्राकृत :

हमने इसी अध्याय में पृ० १०-११ देखिये—प्राकृत के व्याकरण ग्रथो की सूची दी है। इन सब प्राकृत व्याकरण ग्रथो में उदाहरणो के रूप में प्राकृत के नमूने मिल जाते हैं।

मिश्र या गाथा सस्कृत

मिश्र या गाथा सस्कृत, सस्कृत का वह रूप है, जो पाणिनी के नियमो के अनुसार नही चलता तथा प्राकृत व्याकरण के रूपो एव शब्द-समूह से यत्र तत्र प्रभावित मिलता है। यही कारण है कि भाषा-वैज्ञानिको ने इसे सस्कृत का रूप नही मानकर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का एक रूप माना हैं।[2] इस भाषा के तीन रूप मिलते हैं—

१ बौद्ध मिश्र सस्कृत या बौद्ध सकर सस्कृत
२ जैन मिश्र सस्कृत
३ हिन्दू मिश्र सस्कृत

बौद्ध मिश्र सस्कृत

बौद्धो के महायान सप्रदाय का साहित्य प्राय सस्कृत भाषा में निबद्ध है, किंतु इसकी सस्कृत शुद्ध पाणिनीय सस्कृत नही है। महावस्तु, ललित विस्तर, जातकमाला, अवदानशतक, आदि ग्रथो की भाषा ऐसी ही है। आरम्भ में इस भाषा को गाथा-विभाषा-गाथा डायलेक्ट कहा जाता था, किन्तु फ्रांसीसी विद्वान सेनार्तने, जिसने महा वस्तु का तीन भागो में सम्पादन किया, इसका नाम मिश्र सस्कृत देना उचित समझा।[3]

जैन मिश्र सस्कृत

सबसे पहले प्रसिद्ध अमरीकी भाषाविद् ब्लूमफील्डने अपने एक लेख द्वारा विद्वानो का ध्यान जैन मिश्र सस्कृत की ओर आकर्षित किया। जैनो के अधिकाश सस्कृत ग्रथ भाषा की दृष्टि से शुद्ध और पाणिनीय हैं। कुछ रचनायें अवश्य ऐसी मिली है, जो सस्कृत मे रची होने पर भी अपने में मध्य भारतीय आर्य भाषा के तत्वो को लिए है। ऐसी रचनाओ मे जटासिंह नन्दी रचित वरागचरित[4] व बुद्ध विजयकृत चित्रसेन पद्मावती चरित्र[5] प्रमुख है।

---

१ भोलाशकर व्यास हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास ख० १–पृ० २९६
२ भोलाशकर व्यास हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—ख० १–पृ० २९९
३ विटरनित्ज हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर—भा० २—पृ० २२६
४ डा० आदि नाथ ने मिनाथ उपाध्ये . वराग चरित—अग्रेजी भूमिका पृ० ४२-४८
५ मूलराज जैन चित्रसेन पद्मावती चरित्र–अग्रेजी भूमिका–पृ० २३-३०

ब्राह्मण मिश्र संस्कृत

कुछ विद्वान महाभारत, रामायण तथा पुराणों की भाषा में कई अपाणिनीय प्रयोग देखकर उसे मिश्र-संस्कृत कह बैठते हैं, जो अनुचित है।

६-प्राकृत साहित्यका उदय

प्राकृत साहित्य जन सामान्य की वैचारिक क्रांति के साथ उदित होता दिखाई देता है। जैसा कि स्पष्ट है, विक्रम से कई सौ वर्ष पूर्व से ही संस्कृत धर्म और काव्य की भाषा बन चुकी थी एवं वह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी। संस्कृत के विकास में अभिजातवर्ग का विशेष हाथ रहा है। इसने सामान्य जनता की बोलियों को उच्च साहित्य का माध्यम नहीं बनाया, किन्तु ये बोलियां जनता का सहारा पाकर विकसित होती रहीं। लोकपरक सुधारवादी वैचारिक क्रान्ति ने अपने प्रचार के माध्यम के लिये उन्हें अपनाया। यहीं से प्राकृत साहित्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। प्राकृत साहित्य का उदय सर्व प्रथम धार्मिक क्रान्ति से होता है। जैन और बौद्ध धर्म ने विक्रम पूर्व पांचवीं-छठी शती में जनता की बोलियों को अपनाया और उनमें अपने प्रारम्भिक साहित्य की रचना की। यह वैचारिक क्रांति पूर्व में हुई थी, अतः पूर्व की बोलियों को नया जीवन मिला। भगवान् बुद्ध तथा महावीर ने जनता की बोली में ही अपने सद्धर्म के उपदेश दिए। पर पश्चिम में चाहे जनसामान्य की बोलियों का स्वरूप रहा हो, वे अधिक विकास न पा सकीं। वहां संस्कृत का पद अक्षुण्ण बना रहा। इसका कारण यह था कि मध्यदेश आर्यवैदिक संस्कृति का केन्द्र था। आगे जाकर ज्यों ज्यों संस्कृत रूढ होती गई, मध्यदेश में भी प्राकृत साहित्य का समानांतर विकास होने लगा, पर फिर भी वह अधिक पल्लवित न हो पाया।[1]

वैसे तो प्राकृत का साहित्यिक काल विक्रम की छठी शती के बाद भी चलता है, पर मोटे तौर पर विक्रम पूर्व छठी शती से लेकर विक्रम की छठी शती तक का १२०० वर्ष का काल ही हमने प्राकृतकाल माना है। इस काल में प्राकृत साहित्य को तीन स्रोतों से आश्रय मिला—(१) धर्माश्रय (२) राजाश्रय, और (३) लोकाश्रय। धर्माश्रय का संकेत हम कर चुके हैं। प्राकृत को राज्य भाषा के रूप में सबसे पहला महत्व देने वाला प्रियदर्शी अशोक था जिसने जनता की बोली में अपनी धर्मलिपियों को उत्कीर्ण कराया। किन्तु मौर्यों का अन्त होने पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ गई परन्तु कलिंग के जैन राजाओं ने फिर भी प्राकृत को राज्य भाषा का पद दिया। खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है। पर इतना होने पर भी प्राकृत इस पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित न हो पाई। प्राकृत साहित्य की उन्नति में वैदिक धर्मावलम्बी आन्ध्रवंशी राजाओं ने भी बहुत सहायता की। आन्ध्र साम्राज्य शीघ्र ही प्राकृत साहित्य का गढ बन गया। आंध्रवंशी राजा शातवाहन ने स्वयं प्राकृत की गाथाओं का संग्रह किया। परवर्ती कई अन्य

---

१ भोलाशंकर व्यास हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—ख० १ पृ० २७०-७६

राजाओ ने प्राकृत कवियो को आश्रय दिया। काश्मीरराज प्रवरसेन स्वय प्राकृत महाकाव्य के रचयिता थे तथा यशोधर्मन्‌ने वाक्पतिराज (गउडवहोके रचयिता) को अपनी राजसभा मे सम्मान्य स्थान दे रखा था। वाक्पतिराज के लगभग १००-१५० वर्ष बाद ही कन्नौज के एक अन्य राजा के यहा यायावर महाकवि राजशेखर ने अपनी प्राकृत रचनाओं को पल्लवित किया और प्राकृत को सस्कृत से भी अधिक कोमल भाषा घोषित किया। राजशेखर के समय तक प्राकृत का सम्मान अत्यधिक बढ गया था। यह वह काल था, जब प्राकृत भी संस्कृति की भाति परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन चुकी थी और भी लोक भाषाओ से जा पडी थी। पण्डितो तथा कवियो ने प्राकृत को सम्मानित पद दे दिया था। राजशेखर ने तो साहित्य की रचनाओ मे सस्कृत तथा प्राकृत काव्य मे ठीक वही भेद बताया था जो पुरुप तथा रमणी मे है—एक मे परुपता है तो दूसरी मे कोमलता।

परुषा सक्कअबंधा पाउअबधो वि होइ सुउमारो ।
पुरुसमहिलाण जेत्तिअ मिहृतर तेत्तिअ मिमाण ॥
कर्पूरमजरी–१।८

७-प्राकृत साहित्य की रूपरेखा

आज का उपलब्ध प्राकृत साहित्य ६०० इस्वी पूर्व से आरम्भ होकर १८०० ईस्वी तक आता है, जिसका विभाजन निम्न ढग से किया जा सकता है—

१—धार्मिक प्राकृत साहित्य

(अ) विशुद्ध धार्मिक, साम्प्रदायिक सिद्धान्तो आदि का विवेचन पालि मे रचित बौद्ध साहित्य तथा अर्धमागधी एव शौरसेनी मे रचित जैन-धार्मिक साहित्य।

(आ) धार्मिक, साहित्यिक पालि कथा साहित्य, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी मे रचित साहित्य एव जैन अपभ्रश साहित्य ।

२–साहित्यिक या ललित प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रश साहित्य।

(अ) स्वतत्र कृतियों के रूप मे, तथा

(आ) अन्य ग्रथों मे उद्धरणो के रूप मे प्राप्य प्राकृत साहित्य।

३—नाटको मे प्राकृत प्राकृत साहित्य

४—भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त- प्रदेशो मे प्राप्त साहित्य-प्राकृत धम्मपद, निया-प्राकृत तथा खोतान एव मध्य एशिया आदि का प्राकृत साहित्य।

५—शिला लेखो का प्राकृत

६—मिश्र सस्कृत-गाथा डायलेक्ट

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही रूप है, पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है, अत यहा पालि साहित्य नही सम्मिलित किया गया है।[1] अर्धमागधी और शौरसेनी के धार्मिक जैनागमो को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी मे न जाने के कारण छोड दिया गया है। अपभ्रश सम्बन्धी अध्ययन विस्तारपूर्वक दूसरे

१ डा० रामसिंह तोमर आलोचना अंक ८–पृ० ५२

अध्याय में किया गया है अत यहाँ मात्र प्राकृत की ललित कृतियों पर ही विचार किया जा रहा है।

उक्त विभाजन उपयुक्त होने पर भी हमारे विषय की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता; अत हम काव्य रूपों को आधार बनाकर प्राकृत काव्य का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे। हमारे अध्ययन का आधार निम्न होगा —

(१) प्रबन्धकाव्य (२) मुक्तक काव्य (३) कथा साहित्य (४) नाटक (५) अन्य प्रकार। प्रबन्ध काव्यों के अंतर्गत दो प्रकार की रचनाएं गृहीत की जाती हैं—महाकाव्य एव खण्ड काव्य। प्राकृत के महाकाव्य अधिकांश में चरित काव्य हैं जो जैन कवियों द्वारा रचित हैं। इन चरित काव्यों पर पुराण और कथा शैली का गहरा प्रभाव है।[1] जो जैनेतर काव्य हैं उनमें उक्त शैली नहीं या कम दिखलायी पड़ती है। ऐसे दो ही महाकाव्य प्राप्त हैं, प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो और वाक्पतिराज का गउडवहो। ये दोनों ही शास्त्रीय शैली के महाकाव्य हैं। शेष ग्रंथ जैन चरित काव्यों की परम्परा में आते हैं।

प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य विमलसूरिका 'पउम चरिय' है। इसमें राम कथा का जैन रूप दिया गया है। पउम-चरिय के रचयिता विमलसूरि राहु नामक आचार्य के प्रशिष्य और विजय के शिष्य थे।[2] लेखक ने स्वय पउमचरिय की रचना का समय वीर निर्वाण सवत् ५३० अर्थात् ६० विक्रमी दिया है।[3] परन्तु कुछ विद्वान् इसे इतनी पुरानी रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं। डा० हर्मन जैकोबी उसकी भाषा और रचनाशैली पर से अनुमान करते हैं कि वह ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी की रचना है।[4] बूलर उसे विक्रम की चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं।[5] केशवराव ह० ध्रुव तो उसे और भी अर्वाचीन मानते है।[6] वे छन्दों के क्रमविकास के इतिहास के विशेषज्ञ थे। इस ग्रंथ के प्रत्येक उद्देश के अन्त में जो गाहिणी, शरभ आदि छंदों का उपयोग किया गया है, वह उनकी समझ में अर्वाचीन है। गीति में यमक और सर्गान्त में विमल शब्द का आना भी उनकी दृष्टि में अर्वाचीनता के द्योतक हैं; परन्तु ये अधिकतर ऐसे अनुमान हैं, जिन पर बहुत भरोसा नहीं रखा जा सकता। अत. डा० विंटरनित्ज, डा० लायमन, नाथूराम प्रेमी,[7] डा० बाहरी[8] आदि इसे कवि द्वारा दिए गए समय की रचना मानने के पक्ष में हैं।

---

१ शम्भूनाथसिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १६४
२ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास —पृ० ८७
३ वही पृ० ९१
४ जैकोबी मोडर्न रिव्यू—सन् १९१४ दिसम्बर-सम एशियेंट प्राकृत वर्क्स
५ बनारसीदास जैन प्राकृत प्रवेशिका—पृ० ११३
६ केशव हर्षद ध्रुव, पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना—
७ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास — पृ० ९१
८ हरदेवबाहरी प्राकृत और उसका साहित्य — पृ० ६६

इस सम्बन्ध मे डा० जैकोबी का कहना है कि यह तीसरी शताब्दी मे लिखा हुआ प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य है जो वाल्मीकि रामायण की कथा का जैन रूपान्तर है, उसकी भाषा प्रारम्भिक प्राकृत है और वह महाकाव्य की सरल शैली मे लिखा गया है। डा० जैकोबी ने इस आधार पर यह अनुमान किया है कि विमलसूरि के पहले भी प्राकृत मे अनेक लोक प्रचलित महाकाव्य थे और पउमचरिय उनमे से एक है जो आज भी प्राप्त है। पउमचरिय मे प्राचीन महाकाव्य परम्परा के अनुरूप आद्यन्त अनवरुद्ध कथाप्रवाह दिखलायी पडता है और वाल्मीकि रामायण की तरह ही अनलकृत किन्तु सश्लिष्ट वर्णन स्थान स्थान पर मिलते है जिससे उसकी शैली आकर्षक और उदात्त हो गई है। इसमे पौराणिक शैली के महाकाव्यो के अनेक तत्व दिखलाई पडते है। कथा का प्रारम्भ संवाद रूप में होता है। पउमचरिय के अनुसार रामकथा पहले पहल महावीर स्वामी ने अपने शिष्यो –इन्दुभूति आदि-से कही थी, इन्दुभूति ने उसे अपने शिष्यो को बताया और वहा से वह कथा विभिन्न आचार्यो के पास पहुँची। पउमचरिय की कथा भी इन्दुभूति और उनके शिष्य श्रेणिक के सम्वाद के रूप मे कही गयी है और बीच-बीच मे पौराणिकशैली के अनुरूप प्रश्नोत्तर के रूप मे अनेक अवान्तर कथायें भी कही गई हैं। यद्यपि इसमे महाभारत और पुराणो की तरह जगह जगह उपदेशात्मक कथन भरे हुए हैं किन्तु कुल मिलाकर यह पुराण से अधिक महाकाव्य ही है, क्योकि सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन इसमे नही है। इसके विपरीत इसमे प्रारम्भ मे तीर्थंकरो की वन्दना, देश वर्णन, सम्वाद रूप मे कथा का वस्तु-निर्देश और पहले अध्याय मे ही सभी अध्यायो का सार सक्षेप मे दे दिया गया है। इस प्रकार यह वाल्मीकि रामायण के ढग का उसी की शैली मे लिखा गया प्राकृत महाकाव्य है।[1]

पउमचरिय मे दशरथ की चार रानिया बताई गयी हैं। कौशल्या या अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी, और सुप्रभा। बनवास मे राम और लक्ष्मण कई विवाह करते हैं–राम गन्धर्व राज की तीन कन्याओ से और लक्ष्मण वज्रकर्ण की आठ कन्याओ से। आगे चलकर राम सुग्रीव की १३ कन्याओ से और लक्ष्मण लका के पास समुद्र राज की कन्या और शक्ति लगने पर चिकित्सा करने वाली विशल्या नाम की कन्या से विवाह करते है। अयोध्या मे राजा राम की ८०० और लक्ष्मण की १३०० रानिया कही गई है। रावण की ८०० रानिया थी। सूपनखा का नाम चन्द्रनखा दिया है और उसके पति का खरदूषण। हनुमान का विवाह रावण की भाजी अनगकुसुमासे हुआ था।

कथा का अन्त जैन कल्पना के अनुसार मोड दिया गया है। सीता अग्नि-परीक्षा मे सफल होकर जैन दीक्षा ले लेती है और बाद मे स्वर्ग को प्राप्त करती है। सीता के पुत्रो के नाम लवण और अकुश बताये गये है। लक्ष्मण मर कर नरक मे जाते है, क्योकि रावण का बध इन्ही के हाथो हुआ। राम अहिंसा व्रतधारी थे। वे दीक्षा ले लेते है और साधना करके मोक्ष पाते है।

---

१ शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास–पृ० १६४-१६५

राजा श्रेणिक की शंकाओं का समाधान करते हुए गणधर गौतम ने यह राम कथा सुनाई है। कुछ-एक अवान्तर कथाएं भी हैं। कथानक रोचक और सुन्दर है। कथांश की अपेक्षा वर्णन कम है। प्रारम्भ में विद्याधर-लोक, राक्षस-वंश तथा वानर वंश का वर्णन है। बीच-बीच में नगर, नदी, तालाब आदि के वर्णन हैं। कहीं-कहीं उपदेश भी मिल जाते हैं। भाषा में सरलता, ओज और प्रवाह है। महाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश रूप भी यत्र-तत्र आ गए हैं। कृति की शैली महाकाव्य की है। गाथा छन्द का अधिकतर प्रयोग हुआ है। छन्द, अलंकार और रस की विविधता और सफल योजना से जान पड़ता है कि ग्रन्थकार अच्छे शिल्पी और पण्डित थे। ग्रंथ का विस्तार ११८ उद्देश्यों (अध्यायों)के अन्तर्गत ६००० से कुछ अधिक पद्यों में हुआ है।[1]

वसुदेव हिण्डी

इसमें यादव नरेश कृष्णजनक वसुदेव के भ्रमण की कथा वर्णित है। कथा के उपक्रम का आधार मूलरूप से 'हरिवंश' है। कौरव–पाण्डवों की कथा गौण है, जिसका आधार महाभारत है। शैली में बृहत्कथा का प्रभाव स्पष्ट है। कथा का विभाजन मुख, प्रतिमुख, शरीर आदि में हुआ है। प्रधान कथा के साथ अनेक अन्तर्कथाएं गुम्फित हैं, जिनमें तीर्थंकरों और अन्य शलाका पुरुषों के चरित्र वर्णित हैं। कृष्ण को अरिष्टनेमिका समकालीन बताया गया है। ऋषि, मुनि, विद्याधर, देवी-देवता आदि की कथाएं भी संक्षिप्त हैं। बाद में इन कथाओं के आधार पर स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना होती रही है।

कृतिका विस्तार १०० लम्बकों में हुआ है। अधिकांशतः गद्य का प्रयोग हुआ है, कहीं-कहीं पद्य मिल जाते हैं। शैली प्रायः सरल है, पर वर्णनों में लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त हुए हैं। इसीसे ये वर्णन काव्यात्मक होते हुए भी क्लिष्ट हैं। कथांश अवश्य सरल और रोचक हैं। यह ग्रंथ भी महाराष्ट्री में है। इसका पूर्व भाग संघदास गणि ने और उत्तर भाग धर्म सेन गणि ने लिखा। कृति का उल्लेख जिनभद्र, हरिभद्र तथा मलयगिरि ने किया है। इससे इसका रचना काल ७ वीं शती से पूर्व निश्चित होता है।

शलाका-पुरुष-चरित-राम और कृष्ण के चरितों के अतिरिक्त तीर्थंकरों के चरितों में कोई विशेष साहित्यिक गुण नहीं मिलते। उनमें शीलाचार्य (शीलांक सूरी) कृत 'चउप्पन्न-महापुरिस-चरिय' एक विशाल ग्रंथ है। इसमें ५४ शलाका पुरुषों का चरित्र वर्णित है। ९ प्रतिवासुदेवों को वासुदेवों के साथ ही गिना गया है। बाद में उन्हें अलग मानकर अपभ्रंश में ६३ शलाका पुरुषों पर चरित काव्य लिखे गए हैं। इसका रचना काल ८६८ ई० निर्धारित है। 'आदि नाथ चरिय' वर्धमान का विशालग्रंथ है जिसमें ११,००० गाथायें हैं। इसमें पांच प्रस्तावों के अन्तर्गत ऋषभदेव का जीवन चरित्र दिया गया है। उसकी रचना तिथि सन् ११०३ ई० है। ११०४ ई० की एक कृति

---

१ हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य–पृ० ६५-६६

'पृथ्वी चन्द्रचरित' है, जिसमे ७५०० पद्य है। इसके रचयिता शातिसूरि थे। १२;वी शती ही मे आचार्य हरिभद्र हुए हैं। उन्होने संस्कृत, प्राकृत और उपभ्रश मे कई ग्रथ लिखे। इनकी 'प्राकृत-कृतिया' मल्लिनाथ-चरित्र' (३ प्रस्ताव) तथा;'चन्द्र प्रभचरित्र' (८००० पद्य) है। इनके प्राकृत चरित्र काव्यो मे कवित्वपूर्ण और साहित्यिक कोटि के वर्णन प्राप्त होते हैं परन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण ग्रथ उत्तर काल मे गुणचन्द्र -कृत 'महावीर चरित' और 'सोमप्रभाचार्यकृत' सुमतिनाथ चरित (लगभग ११९० ई०) उल्लेखनीय हैं। यही सोमप्रभ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के रचयिता थे।

'सुपारसनाह-चरिय' मे सातवे तीर्थकर श्री पार्श्व के अनेक जन्मो की कथाए वर्णित है। जैन धर्म की व्याख्या मे अनेक उपकथाए दी गई है, जिनमे से-कुछ प्रेम और आश्चर्य से ओतप्रोत है। गाथाओ की सख्या ८,००० हैं। जिनमे ६८ पद्य अपभ्रन्श के भी हैं। शैली अच्छी है । शब्द और अर्थ अलकारो का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा अलकृत है और अभिषेकादि के वर्णनो मे विशेषत चमत्कार पूर्ण हो गई है।

'महावीर–चरित' की वर्णन शैली भी इसी प्रकार की है। इसका विशेष गुण इसकी शुद्ध और व्याकरण सम्मत प्राकृत है। काव्य की दृष्टि से भी यह सफल कृति है। कुछ नये छन्दो का प्रयोग इसमे पहली बार हुआ है । अलकारो का बाहुल्य है। वर्णनो मे कालिदास और बाणभट्ट की छाया झलकती है। कई वाक्य तो ऐसे लगते हैं कि सस्कृत से रूपान्तरित कर लिये गए हो। गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सरल है। ग्रन्थ मे आठ 'प्रस्ताव' है।

'सुमतिनाथ–चरित' मे प्रधान वर्णन के साथ-साथ जैन धर्म के सिद्धान्तो की व्याख्या कथाओ के माध्यम से की गई है। इसमे ९५०० पद्य है।

चक्रवर्तियो की जीवन–गाथाओ मे श्रीचन्द्रकृत 'सनत्कुमार-चरित' प्रसिद्ध है। इसमे ८१२७ पद्य है। सनत्कुमार का हरण, वन-भ्रमण, नाना कष्ट-सहन, अनेक विद्याधरियो से विवाह, सफलता आदि के वर्णन सुन्दर हैं।

'कुमारपाल–चरित', यह ग्रन्थ २८ सर्गों मे प्राप्त है। प्रथम बीस सर्ग सस्कृत मे और अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत तथा अपभ्रन्श मे हैं। इसीलिये इसका दूसरा नाम 'द्वयाश्रय महाकाव्य' है। प्राकृत भाग मे एक और दोहरे उद्देश्य का निर्वाह करने की चेष्टा की गई है–कुमारपाल के चरित का वर्णन करने के साथ-साथ वही पद्य प्राकृत व्याकरण के नियमो के उदाहरणो का काम भी देते है। ये नियम तो उनकी दूसरी कृति 'सिद्ध-हेम' मे हैं और उदाहरण यहा पर दिये गए है। इससे कथा के विकास मे तो कोई विघ्न नही पडता, पर शैली बडी कृत्रिम और बोझिल हो गई है।

कुमारपाल का परिचय 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के सम्बन्ध मे पहले दिया जा चुका है। आचार्य हेमचन्द्र उनके गुरू थे। 'कुमारपाल-चरित' उन्ही आचार्य की कृति है। हेमचन्द्र अपने समय के सबसे बडे विद्वान थे। उन्होने टीका-ग्रन्थ, कोष, व्याकरण, काव्य, प्रबन्ध आदि अनेक प्रकार की रचनाए की। वे 'कलिकाल सर्वज्ञ'

इस मूल कथा से गुम्फित अनेक अवान्तर कथाएं है। इनमे सनतकुमार और विलासवती की प्रेम-कथा, धरण और लक्ष्मी की प्रेम कथा और अनेक तिरिया—चरित्तर की कहानिया भी सम्मिलित है। वहुत सी कहानियो मे कर्म और पुनर्जन्म का सम्वन्ध दिखलाया गया है। एक व्यक्ति धर्म–गति से पुरुष से सूअर, सूअर से सर्प और सर्प से फिर पुरुष के रूप मे जन्म लेता है तो एक स्त्री कर्मो के क्रम से हथिनी बन्दरिया, कुतिया, बिल्ली, चाण्डालिनी और शवरकन्या की योनि को प्राप्त होती है।

कथाओ मे मर्त्यलोक और देव लोक के पात्र आते है। इसीसे लेखक ने अपनी कृति को दिव्यमानुषी धर्म-कथा कहा है। 'समराइच्च-कहा' एक महत्वपूर्ण रचना है। सिद्धर्षि(९०६)ई० और उद्योतन(७७६)ई० ने इसके प्रभाव को स्वीकार किया है और अपनी कृतियो मे इसकी शैली का अनुसरण भी किया है। इसकी शैली सस्कृत महाकाव्यो की सी है। नगर, झील, उद्यान, आदि का वर्णन उच्चकोटि का है। अलंकार स्वाभाविक है। आर्या छन्द का प्रयोग मुख्य रूप मे हुआ है। भाषा प्राय सरल, प्रवाह पूर्ण और मुहावरेदार है। जहा वर्णन आए है वहा पर कही-कही बडे-बडे समास मिल जाते है। जैसे निम्नलिखित वाक्य मे—

पत्तो य सालसरलतमालतालालिवउलविलयनिचुलअकोल्लकलम्ब वञ्जुल-पलाससल्लइतिणिमनिम्वकुडयनग्गोहखे रमज्जज्जुणम्वजम्वुयनि यरगुवल दरिमयणा-दखनहर सिहरावायद लियमतायगकुम्भत्थलगतियवहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयर-च्चियविरियणभूमिभाग · ·महाडविं।

लेकिन, कथा के प्रवाह मे और कथोपकथन मे भाषा सरल है। गद्य और पद्य की भाषा मे थोडा-बहुत अन्तर अवश्य है।

'समराइच्च-कहा' के लेखक हरिभद्रसूरि श्वेताम्वर सम्प्रदाय के एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। वे चितौड के रहने वाले थे और सस्कृत तथा प्राकृत के महापडित थे। बाद मे जैन-साधु हो गए थे। इनका समय ७८०-८०० ई० के बीच मे निर्धारित किया जाता है।

धूतरिन्यान (धूर्ताख्यान)।[1]— हास्य और व्यग्य की यह कृति भारत के साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चार धूर्त पुरुष मूलश्री, कुण्डरीक, एलाषाढ और शश—तथा एक धूर्त स्त्री, खन्डपाना, वारी वारी ब्राह्मण धर्मग्रन्थो की नकल मे अपनी–अपनी गप्पें सुनाते हैं। शर्त यह तय होती है कि जो कोई उस गप्प को रामायण, महाभारत अथवा पुराण से प्रमाणित कर दे वह धूर्तों का गुरू माना जाय और जो इसे मिथ्या समझे वह धूर्तों और उनके पांच-पाच सौ साथियो को भोजन खिलाए।

१ मुनि जिनविजय द्वारा सिंधी ग्रथमाला मे भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित

पहले मूलश्री अपना अनुभव सुनाने लगे — एक बार मैं अपने सिर पर गगा उठाने शिवपुरी को चला। कमण्डलु और छत्र लिये मै जा रहा था कि एक मत्त हाथी मेरे पीछे पड गया। मै कमण्डलु मे घुस गया, तो हाथी मेरे पीछे-पीछे घुस आया। छ महीने वह मेरे पीछे भागता फिरा। अन्त मे मै कमण्डलु की टोंटी से बाहर निकल गया, पर हाथी की पूछ उसमे फस गई। मै शिवपुरी पहुचा। वहां पर छ महीने मैंने गगा को अपने सिर मे धारण किये रखा और फिर उज्जयिनी आ गया।

इस प्रकार की कथाए हर एक ने सुनाई और दूसरो ने पुराणादि से उन्हें सत्य सिद्ध कर दिया। लगभग ५० पौराणिक कथाए इसमें प्रमाण के रूप मे आई हैं। शैली सरल और प्रवाहयुक्त है, और अलकारो के बोझ से दबी नहीं है।

इसके रचयिता भी 'समराइच्च-कहा' के लेखक आचार्य हरिभद्र सूरि है। इस कृति का मूल उद्देश्य ब्राह्मण धर्म पर व्यग करना है और निस्सदेह यह एक सफल रचना है।

याकोश-प्रकरण—इसमे ३६ कथाए और ४-५ उपकथाए सगृहीत है। इनमे १६ कथाए साधुओ को दान देने के फल पर हैं। अन्य मे जिन-पूजा धर्मोत्साह, धर्म-फल इत्यादि विषयो का स्पष्टीकरण किया गया है। कुछ-एक कहानियां अति सक्षिप्त हैं। वर्णनो मे तत्कालीन समाज, राजनीति, आचार-व्यवहार, जनस्वभाव आदि का परिचय मिल जाता है। कहानियो मे सिहकुमार की कथा, मनोरथ श्रावक की कथा, पार्श्व श्रावक की कथा, यक्षो की कथाए, कुन्तला रानी का आख्यान और वणिक पुत्र का दृष्टान्त साहित्यिक दृष्टि से उत्तम हैं। कल्पना और रस का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा सरल और सुबोध गद्यमय है, जहा-तहा सस्कृत के पद्य बिखरे हुये हैं। वर्णन-शैली प्रवाहयुक्त है। समास कम हैं और शब्दाडम्बर का अभाव है। भावो की मौलिकता इस कृति की एक और विशेषता है।

इसकी रचना सन् ९३१ ई० मे आचार्य जिनेश्वर ने की। वे आयुर्वेद सगीत, नाट्य शास्त्र, अर्थ शास्त्र आदि के पडित थे। उनके सस्कृत और प्राकृत मे कई एक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अन्य प्राकृत ग्रन्थ धार्मिक हैं और उनमे साहित्यिक अश नही के बराबर हैं।

कथामहोदधि – 'कथा-कोश' के ढग के अनेक कथा-सग्रह प्राकृत और अपभ्रश मे उपलब्ध हैं। इनकी कुछ कथाए तो सामान्य रूप मे इधर-उधर अन्य धर्म कथा ग्रथो में भी मिल जाती है, पर अधिकतर मौलिक जान पडती हैं। ऐसे कथा-सग्रहो मे सोमचन्द्र कृत 'कथा महोदधि' उल्लेखनीय है। इसमे १५७ कहानिया हैं, कुछ सस्कृत मे, और कुछ अपभ्रश में। प्राकृत कथाओ की शैली रोचक और सरल है।

विजयचन्द्र-चरित—इसमें जिन पूजा का फल दिखाने के लिए आठ कथाए हैं। रचनाकार चन्द्रप्रभ महत्तर और रचना-काल सन् १०७० ई० निश्चित है।

ज्ञान पञ्चमी कथा— इसमे दस कथाएं है-जयसेण-कहा, नद-कहा, मद्दा-कहा, वीर-कहा, कमला-कहा, गुणाणुराग-कहा, विमल-कहा, धरण-कहा, देवी-कहा तथा भविस्सयत कहा। प्रत्येक कथा ज्ञान पञ्चमी वृत के माहात्म्य के दृष्टान्त के रूप मे लिखी गई है। सवका अन्त एकसा है, जिससे कथा की सरसता नष्ट हो जाती है, पर शेष कथा-भाग प्राय: अच्छा वन पडा है। प्रथम और अन्तिम कथाए लम्बी है— लगभग ५-५ सौ गाथाओ मे, अन्य कथाए १२५-१२५ गाथाओ मे समाप्त की गई हैं। गाथाओ की कुल सख्या २००४ है।

कृति का रचनाकाल निर्धारित नही किया जा सका। इसके रचयिता महेश्वर सूरी, जैसा कि 'ज्ञान पञ्चमी-कथा' से स्पष्ट है, वडे प्रतिभाशाली और भाषा प्रभुत्ववान कवि थे। कथाओ की वर्णन-शैली सरल और भावयुक्त है। इनकी भाषा सुललित और सरस महाराष्ट्री है। जगह—जगह सदुक्तिया और ललित पदावलिया भरी पडी है। वर्णन कवित्वपूर्ण है।

'विजयचन्द्र केवलिन्'—इसमे भाषाओ की सख्या १०६३ है, जिनमे आठ प्रकार की जिन-पूजा का माहात्म्य आठ कथाओ मे वर्णित किया गया है। इस प्रकार जयसुर राजा की कथा का विषय गध-पूजा, विनयधर की कथा का धूप-पूजा, वीर युगल की कथा का अक्षत-पूजा, वणिक सुता लीलावती की कथा का पुष्प-पूजा, जिनमती की कथा का दीप-पूजा, हली पुरुष की कथा का नैवेद्य-पूजा, दुर्गा की कथा का फल-पूजा और वीर प्रसूता की कथा का विषय जल-पूजा है। अन्त मे एक अवशिष्ट कथा है। भाषा अवश्य सरल है, परन्तु भाव, चरित्र, कथा-गठन आदि की दृष्टि से कृति का साहित्यिक महत्व कम है। इसकी रचना सन् १०७० ई० मे अभयदेव सूरि के शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तरने की। वे पूर्वी प्रदेश के रहने वाले जान पडते हैं। इनकी महाराष्ट्री मे मागधी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

तरगवती—इस नाम की प्रेम-कथा का उल्लेख 'अणुओगदार सूत्र', 'कुवलय-माला', 'तिलकमजरीआदि ग्रन्थो मे हुआ है। मूल कृति नही मिलती। इसका सक्षेप १६४३ पद्यो मे 'तरगलीला' नाम से उपलब्ध है। 'तरग-लीला' के सम्पादक नेमिचन्द्र का कहना है कि 'तरगवती' वहुत वडा ग्रथ था और इसकी कथा अद्भुत थी। तरगवती एक रूपवती स्त्री है, जिसे सरोवर मे हस-मिथुन को देखकर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया जव कि वह स्वय हसिनी थी। उसके पति हस को किसी व्याध ने मार डाला था। यह याद करके उसे मूर्च्छा आ गई। यही से प्रेम और विरह की जागृति होती है। सचेत होने पर वह अपने प्रियतम की खोज मे निकल पडी। अनेक विपत्तिया सहने के वाद उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। वह और उसका प्रेमी विवाह-बंधन मे वधते है और अन्त मे एक जैन-मुनि के उपदेश से जैन-धर्म मे प्रवेश करते है।

कथा उत्तम पुरुष में वर्णित है। उसमे करुण-शृगारादि अनेक रसो, प्रेम की विविध परिस्थितियो, चरित्र की ऊची-नीची अवस्थाओ, बाह्य और अन्तसंघर्ष का

स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य-चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण और साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'तरंगवती' के रचयिता पालित्त (पादलिप्त) सूरि थे। उनका जन्म कोशल में हुआ था। पहला नाम नागेन्द्र था, साधु हो जाने पर पादलिप्त हुआ। वे जैन धर्म के एक प्रसिद्ध आचार्य थे और आंध्र नरेश हाल की राजसभा में सम्मानित कवि थे। एक किंवदंति के अनुसार वे उज्जयिनी के राजा विक्रम के समकालीन थे। विद्वानों ने इनका जीवन-काल ५ वीं शती में पूर्व निश्चित किया है।[1]

सुरसुन्दरी-चरिय

सुरसुन्दरी-चरित्र' १६ परिच्छेदों में विभक्त एक प्रेम-कथा है। प्रत्येकपरिच्छेद में २५० पद्य हैं और इस प्रकार चार हजार पद्य हैं। कथा का सगठन, मूल कथा के साथ अवान्तरकथाओं का सम्बन्ध और गुम्फन, मानसिक स्थितियों कास्वाभाविक वर्णन, वातावरण की सुन्दर सृष्टि, चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास इत्यादि अनेक औपन्यासिक गुण इसकृति में विद्यमान है।

आलोचकों ने इसे सरस और काव्य गुण सम्पन्न रचना माना है। रसों की विविधता में कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है। शान्त रस प्रधान है। विषयों की विविधता से भी ग्रंथ परिपूर्ण है—कहीं सूर्योदय, वसन्त, वन सरोवर, नगर, राजसभा, युद्ध, विवाह, विरह मूर्च्छा आदि का वर्णन है, तो कहीं धर्म, आचार, अहिंसा सत्य, सन्यास पर उपदेश हैं और कहीं सुख दुःख, नरक स्वर्ग, ससार की असारता पर सुभाषित हैं। लाटानुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों के अतिरिक्त अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। भाषा में प्रसाद गुण प्रधान है। संस्कृत, अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा के शब्द भी यदा-कदा मिल जाते हैं।

कथानक बहुत संक्षिप्त और सरल है। धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागों के पाश से छुड़ाते हैं। विद्याधर सुरसुन्दरी और अपने प्रेम, विरह और मिलन की आशा निराशामयी कथा सुनाता है।

यह ग्रंथ कवि ने अपनी बहन कल्याणमती के कहने पर सरल प्राकृत में लिखा है। कवि का नाम साधु धनेसर (धनेश्वर) दिया गया है। इस नाम के ६-७ जैन-लेखक हुए हैं। ग्रंथ में प्राप्त एक सूचना के अनुसार यह धनेश्वर 'कथाकोशप्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे, जिन्होंने चन्द्रावती नगर में सन् १०३८ ई० में प्रेमोख्यान की रचना की थी।

कालकाचार्य-कथानक

यह एक लघु कथा है, जिसमें १४५ पद्य और शेष गद्य है। कथानक बहुत ही सरल और छोटा है। राजकुमार कालक की छोटी बहन सरस्वती को उज्जियिनी-नरेश गर्दभिल्ल भगा ले जाता है। कालक लोगों में गर्दभिल्ल के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न

1 रामसिंह तोमर—आलोचना—अंक ८, पृ० ५३

करते है। वे शक-कुल के राजा को उकसाते है और उसकी सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर देते हैं एव अपनी बहन को छुडा लाते हैं। बाद मे वे साधु हो जाते हैं और जैन धर्म के आचार्य होकर प्रसिद्धि पाते हैं। हो सकता है कि इस कथानक मे कोई ऐतिहासिक सत्य हो। कृति की शैली अलकृत और कवित्वपूर्ण है, विशेषत. नगर वर्णन आदि मे। इसका रचना काल १० वी शती निर्धारित किया गया है।

भुवन-सुन्दरी

इस नाम का एक प्रेमाख्यान विजय सिंह द्वारा लिखा हुआ मिलता है। कथा मे कोई विशेषता नही है। रचना-तिथि ९१७ ई० निश्चित है।

मलय-सुन्दरी कथा

इसमे राजकुमार महाबल और मलय सुन्दरी की प्रेम कथा, उनके अनेक बार बिछुडने और मिलने तथा अन्त मे साधु हो जाने का वर्णन है। घटनायें जटिल और आश्चर्य पूर्ण है। कृतिकार का पता नही चल सका, पर इसका रचना-काल १४ वी शती से पहले निर्धारित किया गया है।

सिरिसिरिवाल-कहा

इस कथा का उद्देश्य सिद्धचक्रपूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। राजकुमार श्रीपाल अपने चाचा से सताया हुआ भाग गया और कोढियो के बीच मे पडकर कोढी हो गया। एक राजा अपनी पुत्री, मदन सुन्दरी, से क्रुद्ध था, उसने उसका विवाह श्रीपाल कोढी से कर दिया। रास्ते मे एक साधु मुनिचन्द्र ने उन्हे सिद्ध-चक्र की नवपद-पूजा का उपदेश दिया। भ्रमण करते हुए राजकुमार को कुछ रासायनिक मिले, उनसे सोना पाकर और एक सिद्ध से 'जलतारिणी' तथा 'परशस्त्रनिवारिणी नाम की तान्त्रिक जडिया पाकर वह आगे चला।

कौशाम्बी का एक बनिया, धवल, धनोपार्जन के लिए कही जा रहा था। उसके जलयान फसे थे। श्रीपाल ने नवपदध्यान से उसका बेड़ा पार किया और समुद्र यात्रा पर चल पडा। रास्ते मे उसने बब्बर कन्या मदनसेना से विवाह किया। फिर वह दोनो पत्नियो को लेकर रत्नद्वीप पहुचा, वहा चक्रेश्वरी देवी की आज्ञा से विद्याधरी मदनमजूपा से विवाह किया। धवल ने उसे मारकर उसकी पत्नियो को. वश मे करने की चेष्टा की। श्रीपाल को समुद्र मे गिराया गया, पर वह बचकर कोणकण पहुँचा और वहा की राजकुमारी मदनमजरी से विवाह किया। पीछे उसकी वे पत्नियाँ चक्रेश्वरी देवी की सहायता से अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई धवल के साथ वहाँ पहुची। धवल ने कई षड्यन्त्र किए और अन्त मे जान गवाई। श्रीपाल परिवार का सुख भोगने लगा।

आख्यान की शैली प्राय सरल और सरस है। अलकारो का जहाँ-जहा प्रयोग हुआ है बडे स्वाभाविक ढग से हुआ है। स्तुति और वर्णन मे लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त है। गद्य और पद्य की भाषा मे अन्तर है। प्रायः महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। कुछ

एक पद्यो मे अपभ्रंश है। इसके रचयिता रत्नशेखर सूरि १४ वी शती के उत्तरार्ध मे हुए हैं।

रयणसेहर-कहा

जायसी-कृत 'पदमावत' का पूर्व-रूप 'रत्नशेखर' कथा है। रत्नशेखर रत्नपुर नगरी का राजा है, जो सिंहल की राजकुमारी रत्नवती का रूप-वर्णन सुनकर व्याकुल हो उठता है। कहा गया है कि इन दोनो का प्रेम जन्म-जन्मान्तर से था। राजा रत्नशेखर अपने मन मे बिठाई मूर्ति की खोज मे निकल पडता है और सिंहलद्वीप जाता है। उधर रत्नवती मे भी प्रेम जागृत होता है। वह कामदेव की पूजा के लिए मदिर मे जाती है। वही रत्नशेखर विद्यमान है। दोनो की भेंट होती है। बाद मे दोनो को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पडते हैं। अन्त मे उनका विवाह हो जाता है।

भाषा-शैली सरल है। गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। लोकविश्वासों का चित्रण विशद ढग से हुआ है। ग्रथकार जिनहर्षगणि बड़े अनुभवी और पंडित जान पडते हैं। उनके रचना कौशल का भी पर्याप्त प्रमाण मिलता है। कृति की रचना चित्रकूट (चित्तौड) मे १५ वी शती के अन्त मे हुई, ऐसा अन्तर्साक्ष्य से सिद्ध होता है।[1]

जैनो ने इन कथा–आख्यायिकाओ के अतिरिक्त उपदेश देने के लिए अनेक कथाओ का प्रणयन और सम्पादन किया। इनमे धर्म, आचार, और नीति सम्बन्धी सूक्तियो और उपदेशो की प्रधानता है। दृष्टान्त के लिये स्थान–स्थान पर अवान्तर कथाए भी मिल जाती है। इस प्रकार की प्रमुख रचनायें निम्न हैं।

कुवलयमाला कथा

इसमे क्रोध, मान, माया, मोह आदि विषयो का परिणाम दिखाने के लिए कथाओ का सग्रह किया गया है। कथाओ की शैली रोचक है, विषयो की विविधता सराहनीय है, भाषा सरल और चलती हुई है और उपदेशो के कथन का ढग रोचक है। ग्रथ मे प्रसगवश अनेक प्राकृत कवियो और कथाओ का उल्लेख हुआ है, जिससे भाषा और साहित्य के इतिहास की खोज मे बडी सहायता मिल सकती है। कुछ सामाजिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। हूणराज तोरमाण की लूटमार का उल्लेख तत्कालीन राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालता है। भाषा महाराष्ट्री है। यत्र-तत्र अपभ्रंश और पैशाची का भी प्रयोग हुआ है। इस उपदेश-कथा-ग्रथ के रचयिता उद्योतन सूरि ८ वी शती ईसवी के उत्तरार्ध मे हुए हैं। कृति के अन्त मे सूचित किया गया है कि इसकी समाप्ति जावालिपुर मे शकाब्द ७०० मे हुई। उद्योतन सूरि हरिभद्र वीरभद्र के शिष्य थे। उनकी शैली मे हरिभद्र का प्रभाव लक्षित होता है।

उवएस माला

धर्मदासगणि कृत 'उपदेश माला' बहुत प्रसिद्ध और आदृत ग्रंथ है। इसमे साधुओ और गृहस्थो के लिए अनेक नैतिक शिक्षाए हैं एव ज्ञान-ध्यान, तप–सयम,

---

१ हरदेव बाहरी . प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० ५६–६५

दान दया, अहिंसा, विनय-शालीनता, विवेक, अपरिगृह, अनासक्ति आदि सद्गुणो पर सुबोध और सुरम्य उपदेश हैं। जैन सघ मे दीक्षित्त भिक्षु–भिक्षुणिया इसे कठस्थ कर लेती हैं। मूल गाथाओ की सख्या ५४१ हैं। टीका के रूप मे कथाओ का समावेश किया गया है। जैन मान्यता के अनुसार धर्मदास महावीर स्वामी के समकालीन थे, पर अन्तर्साक्ष्य के आधार पर विद्वानो का कहना है कि वे चौथी-पाचवी शती के जान पड़ते है।[1] ग्रथ की रचना उसने अपने पुत्र रणसिंह के लिए की।[2]

'उवएस माला' पर कई टीकायें ६ वी शती की प्राप्त है।

इसके अनुकरण मे हरिभद्र सूरि ने 'उपदेशपद प्रकरण' नाम से एक धर्मोपदेशग्रथ की रचना की, परन्तु उसकी उतनी प्रतिष्ठा नही है।[3] इसको वस्तुत, साहित्यिक कृति कहना अन्याय होगा क्योकि इसकी शब्द योजना नितान्त दुरूह है और इसकी शैली असाधारण पाडित्यपूर्ण है।[4]

धर्मोपदेशमाला विवरण

यह एक सग्रहग्रथ है, जिसमे धर्म नीति, शुभाशुभफल, सद्गुण महिमा, दुर्गुण निन्दा इत्यादि अनेक विपयो पर सूक्तियाँ और इनकी व्याख्या मे १५६ कथाएं उद्धत की गई हैं। उदाहरणार्थ शील की व्याख्या के लिए राजमती—कथा, भाव के लिए इलापुत्र कथा, राग और द्वेष का परिणाम दिखाने के लिए क्रमश वणिक्-तनय-कथा तथा नाविक नन्दन कथा, दान का माहात्म्य दिखाने के लिए शादिभद्र-कथा, इसी प्रकार चाणक्य-कथा, ब्रह्मदत्तचक्रि कथा, केशिगणधर–कथा इत्यादि। इन कथाओं मे जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र से पात्र लिए गए है–महापुरुष, सम्राट, सम्राज्ञियाँ, राजकुमारिया, साधु, सेठ, वनिया, मूर्ख, दुर्जन, जुआरी, शराबी सभी तरह के लोग। इनका चरित्र–चित्रण वडी स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और स्पष्ट रीति से किया गया है। अनेक देशो, मन्दिरो, नदियो, सरोवरो और प्राकृतिक दृश्यो के विशद वर्णन दिये गए हैं। शृगार, वीर, करुण आदि रसो और वक्रोक्ति, व्याजोक्ति अन्योक्ति, दृष्टान्त रूपक, उपमा आदि अलकारो के अनेक उदाहरण बिखरे पडे हैं। ज्ञानविज्ञान की अनेक बातो का उल्लेख हुआ है। कही-कही सामाजिक और ऐतिहासिक महत्व की सामग्री भी मिल जाती है।

यह ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण है। भापा गद्य-पद्य मिश्रित है। गाथाए बहुधा गद्य मे है। मूल गाथाओ के रचयिताओ के नाम नही दिये गये। सकलन कर्ता और कथा–लेखक जयसिंह सूरि (कृष्ण मुनि के शिष्य) वताए गए हैं, जिनकी अपनी सूचना के अनुसार ग्रथ की रचना सन् ८५८ ई० मे हुई।

---

१ हरदेव वाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० ५४

२ भगवतशरण उपाध्याय . विश्व साहित्य की रूप रेखा, पृ० ५०३

३ हरदेव वाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य, पृ०-५४

४ भगवतशरण उपाध्याय : विश्वसाहित्य की रूप रेखा, पृ० ५०३

कुमारपाल प्रतिरोध

इसमे सोमप्रभाचार्य ने वे शिक्षाए सग्रहीत की है जो समय समय पर आचार्य हेमचन्द्र ने कुमार पाल को दी थी। कुमारपाल पाटन के प्रसिद्ध चालुक्यराज मूलराज की ८ वीं पीढी मे हुए। वे बडे वीर, बुद्धिमान और उदार राजा थे। उन्होने, यह जानने के लिए कि कौन सा धर्म अच्छा है, विद्वानों की अनेक सभाए बुलाई पर उन्हे सन्तोष न हुवा। तब उनके मन्त्री ने जैनाचार्यो की प्रशसा करते हुए सोमचन्द्र (जो बाद मे हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुए)से शिक्षा पाने की प्रेरणा ली। मूल कथा इतनी है कि हेमचन्द्र के उपदेश सुनकर राजा धीरे-धीरे जैनधर्म मे दीक्षित हुए। इन्हो ने कई मन्दिर, सत्रागार, चैतन्य और विहार बनवाये, कई तीर्थ यात्राए की इत्यादि-इत्यादि । इस पुस्तक का दूसरा नाम 'जैन धर्म प्रतिबोध' है, जो मुख्य नाम की अपेक्षा अधिक सार्थक है, क्योंकि उसका उद्देश्य पच महाव्रतो, गुरु पूजा, कर्तव्य पालन, गृहस्थों के २१ व्रतो और विषय-विकारो के सम्बन्ध मे उपदेश सग्रह करता है। दृष्टान्त रूप मे ५८ कथायें कही गई है—जैसे, जुए के विषय में 'नल चरित' परस्त्री गमन के विषय में प्रद्योत कथा, वेश्या व्यसन के विषय में 'अशोक कथा', मद्यपान के बारे में 'द्वारिकादहन कथा', परधन हरण पर 'वरुणकथा', गुरु सेवा के विषय में 'लक्ष्मीकथा' शीलव्रतपालन में 'शीलवती कथा' मृगावती का वृत्तान्त, तप के बारे में 'रुक्मिणी कथा' इत्यादि ।

ग्रथ की भाषा सरल और सरस है। पाच प्रस्तावो में से अन्तिम में संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। अपभ्रन्श के उदाहरण भी मिल जाते हैं। पद्य अधिक हैं, गद्य कम। इसमे ऐतिहासिक सामग्री बहुत नही, पर धार्मिक और साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्व स्वीकार किया गया है।

सोमप्रभाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे और अण्हिलपुर गुजरात मे रहते थे। कई भाषाओ के पण्डित थे। इन्होंने स्वय इस कृति का रचना-काल स० १२४२ बताया है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त 'दव्वसहावपयास' 'द्रव्यस्वभाव-प्रकाश' जिसका दूसरा नाम 'बृहत् नयचक्र' है, (१००० ई०) 'गाथाकोश' (११०० ई०) 'भववैराग्यशतक' (१२०० ई०) 'गाथा सहस्त्री' (१६३० ई०)उपदेशो और नीति-शिक्षाओ के विख्यात सग्रह हैं। पर इनमे दृष्टान्त प्राय नहीं है, और जो हैं भी वे अतिसक्षिप्त, विरल है।[1]

प्राकृत की साहित्यिक रचनायें

कुछ वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि प्राकृत जैन भाषा है और इसमे जैन-धर्म-ग्रन्थो के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु आधुनिक अन्वेषणो ने प्राकृत की साहित्य-सम्पत्ति जो बाहर लाकर दिखाई तो सहृदय जन गद्गद् हो उठे। अब

---

१ डा० हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० ५६

जो लौकिक साहित्य प्रकाश मे आया है, तो उसमे 'सेतुबन्ध', 'गौडवहो,' 'गाथासप्तशती' 'वज्जालग्ग' प्रभृति ऐसे देदीप्यमान ग्रन्थ-रत्न मिले जिनकी प्रभा ने बड़े-बड़े पण्डितो को चकाचौंध कर दिया है। प्राकृत काव्यो की सरसता और मधुरता क सभी आलोचको और आचार्यो ने स्वीकार किया है।

ये काव्य प्राय महाराष्ट्री मे है। इनके दो वर्ग किये जा सकते हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्यो मे महाकाव्य भी है, खण्ड काव्य भी। महा-ने काव्यो मे आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण विद्यमान है। कथा के सगठन का कौशल, शैली का अलकरण, प्रकृति के दृश्यो का सश्लिष्ट वर्णन, शब्दो का कलापूर्ण चयन, अर्थ-गाम्भीर्य आदि महाकाव्य की सारी विशेषताए इनमे भरी है। एक बात ध्यान देने योग्य है। इसी अध्याय मे वर्णित जैन-प्रबन्धो को भी लौकिक काव्यो की कोटि मे लिया जा सकता है। उन प्रबन्धो पर बहुत झीना सा आवरण धार्मिकता का है। कथावस्तु प्राय लौकिक है, कभी-कभी अर्द्धैतिहासिक है। केवल अन्त मे प्रधान पात्रो का जैन धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाना उन्हे नितान्त धार्मिक नही बना देता। हमे तो जैन-कथा 'लीलावई' और लौकिक कथा 'सुरसुन्दरी' की शैली और प्रबन्धात्मकता मे विशेष अन्तर दिखाई नही देता। हम हेमचन्द्रकृत 'कुमारपाल-चरित' को लौकिक साहित्य की सज्ञा से वचित करने मे सकोच का अनुभव करते हैं। इस तथ्य की दृष्टि से प्राकृत का प्रबन्ध-काव्य बडा विशाल है।[1]

प्राकृत का मुक्तक काव्य भी हमारे साहित्य का परम रमणीय अग है। इसकी परम विशेषता यह है कि इसमे लोक-जीवन के विविध पटलो की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। सस्कृत मे जो कल्पना और आचार्यत्व का प्राधान्य था वह प्राकृत के मुक्तक पद्यो मे नही है। इनमे अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सामजस्य है। सत्य और सुन्दर, जीवन और काव्य का सम्मिश्रण है। इसीसे इनमे मार्मिकता अधिक है। इनमे रागात्मक वृत्तियो का विकास स्वाभाविक ढग से हुआ है। इनका अधिकतर वर्ण्य विषय शृगार, नीति, धर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य है। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए इनमे प्राय स्थान नही है। प्राकृत मुक्तको का-सा साहित्य, माधुर्य और उल्लास अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी-सी व्यग्यार्थ की सुन्दरता सर्वत्र नही मिलती।

बड़े-बडे सुन्दर गीत प्राकृत और सस्कृत के नाटको मे आए है। इनका अलग से अभी सकलन नही हुआ। 'कर्पूर मजरी' और 'चन्द्रलेखा' सट्टक के प्रकृति—सम्बन्धी पद्य, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' 'प्रियदर्शिका' 'मृच्छ-कटिक' तथा 'विक्रमोर्वशीय' आदि के शृगार-रस-सिक्त गीत बहुत ही मनोहर हैं। इस अध्याय के उत्तरार्द्ध मे हम नाटकेत्तर गीति—साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

सेतुबन्ध या रावणवहो—सस्कृत मे वाल्मीकि रामायण के बाद जिस तरह कालिदास के महाकाव्य शास्त्रीय शैली के मानदण्ड के रूप मे मान्य है, उसी प्रकार प्राकृत मे पउम चरिय के बाद प्रवरसेन का सेतुबन्धु या रावणवहो सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय

महाकाव्य है।[1] इसके १५ आश्वासो मे से प्रथम आठ मे नल-नील तथा वानरों द्वारा समुद्र पर सेतु बांधने का वर्णन है। दण्डी, बाण आदि ने 'सेतुबन्ध' अथवा 'सेतु' नाम से ही इसका उल्लेख किया है। उत्तरार्ध मे रावण-वध तक की घटनाओं का वर्णन है। इसलिये इसका दूसरा नाम 'रावण-वध' भी उपयुक्त है। पुष्पिकाओं मे 'दसमुहवह' 'दशमुख वध' नाम भी मिलता है। कथा का आधार 'वाल्मीकीय रामायण' का युद्ध काण्ड है। कथानक मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही किया गया। कथाश बहुत सक्षिप्त है। विरह-सन्तप्त राम हनुमान द्वारा सीता का समाचार पाकर लका की ओर चल देते है। मार्ग मे समुद्र की बाधा उपस्थित हो जाने के कारण रुक जाते हैं। यही पर विभीषण उनसे आ मिलते हैं। वानर-सेना समुद्र पर सेतु बान्धती है। सेतु बांधने मे बड़ी-बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। यहा पर कई अन्तर्कथाओ की कल्पना की गई है। राम समुद्र पार करके लंका मे प्रवेश करते है और रावण तथा कुम्भकर्ण आदि का वध करके सीता को छुड़ा लेते हैं। कथा का अन्त श्रीराम के अभिषेक के साथ ही हो जाता है।

कृति के पूर्वार्द्ध मे समुद्र, पर्वत, फेन, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि बीसियो प्राकृतिक दृश्यो के बड़े सुन्दर और काव्यात्मक वर्णन हैं। कवि कल्पना की जितनी सराहना की जाय कम है। उत्तरार्द्ध मे मानव प्रकृति के चित्रण मे कवि की अनुभूति और गम्भीर एव व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है।। राम के क्षोभ, रावण की चिन्ता सीता के त्रास, विभीषण की कृतज्ञता, राक्षसो की हड़बड़ी इत्यादि मानवीय भावनाओ का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। वानर और राक्षस–सेनाओ तथा उनके बीच के सग्राम एव द्वन्द्व युद्ध का वर्णन विस्तृत और चित्रमय ढग मे हुआ है। वीररस प्रधान है। अन्य रसो का भी यथास्थान समावेश हुआ है। दसवें आश्वास मे कामिनी-केलि तथा राक्षसियो का सभोग वर्णन और उनके रूप-गुण-सौन्दर्य का चित्रण बहुत अनूठा है। सूक्तियो का तो यह ग्रन्थ भाण्डार ही माना गया है।

'सेतुबन्ध' की भाषा शुद्ध साहित्यक महाराष्ट्री है। परवर्ती कृतियो की अपेक्षा इसमे समासो का प्रयोग अधिक हुआ है। इस दृष्टि से इस पर तत्कालीन सस्कृत शैली का गहरा प्रभाव है। छन्द भी सस्कृत का अपनाया गया है और सम्पूर्ण कृति मे एक ही छन्द 'आर्या' प्रयुक्त है। सर्ग के अन्त मे छन्द बदलता नहीं है।

इस कृति का प्रभाव सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रन्श पर भी पड़ा है। इसके पीछे 'रावणवध', 'गोडवध' 'शिशुपालवध' 'कंसवध' आदि अनेक प्रबन्ध लिखे गये। इस ग्रन्थ पर कई टीकाए लिखी गई जिनमे अकबर के समय के रामदास की 'राम प्रदीप' प्रसिद्ध है।

'सेतुबन्ध' के रचयिता कौन थे और उन्होंने कब इसकी रचना की, इसका अभी तक निर्णय नही हो सका। ग्रन्थ के शिखर मे कही भी ग्रन्थकार का नाम नही मिलता, हा सर्ग के अन्त मे किसी-किसी पुष्पिका मे प्रवरसेन का नामोल्लेख अवश्य

१ शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास–पृ० १७०

हुआ है। दण्डी, वाणभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि ने इसे प्रवरसेन की कृति माना है। दक्षिण के एक टीकाकार श्रीकृष्ण भी इसे प्रवरसेन की रचना मानते हैं। टीकाकार रामदास ने यह भ्रामक धारणा प्रचलित कर दी कि इसके रचयिता कालिदास थे। उनका कहना है कि विक्रमादित्य की आज्ञा से कलिदास ने इसे प्रवरसेन के लिए लिखा। किन्तु रामदास सैकडो वर्ष बाद मे हुए है, उनकी कल्पना का कोई आधार दिखाई नही देता। यह तो निश्चित है कि 'सेतुबन्ध' के लेखक प्रवरसेन थे। पर प्रवरसेन नाम से कई राजा हुए हैं—चार कश्मीर के और एक कुन्तल देश का। विद्वानो का मत है कि ये प्रवरसेन काश्मीर के राजा ही थे।[1] प्रवरसेन प्रथम का जीवनकाल १२३–१८३ई० और अन्तिम प्रवरसेन का समय ३९५ से ४२० ई० तक बताया जाता है। डा० सुशील कुमार दे ने इस रचना को पाचवी शताब्दी की माना है।

हमारा मत यह है कि प्रवरसेन राजा इसके रचयिता नही थे। उनके किसी आश्रित कवि ने उनके नाम से इसे चला दिया होगा। प्राय· राजाओ के नाम से जो कृतियां हमारे साहित्य में उपलब्ध है वे उनकी क्रीत सम्पत्ति है।[2] कुछ भी हो यह एक महत्वपूर्ण कृति है जिसकी प्रशसा बाण और दण्डी दोनो ने की है।[3] प्रौढ और प्रसाद गुणयुक्त भाषा, उक्ति वैचित्र्य, प्रासगिक वस्तु व्यापार वर्णन और प्रसाद गुण के कारण इसे रूढिमुक्त रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है।[4]

गौडवहो—'गौडवध' एक लौकिक चरित के आधार पर लिखा गया प्रवन्ध काव्य है। नाम से तो ज्ञात होता है कि इसमे गौड देश के किसी राजा के वध का वर्णन होगा। परन्तु न तो गौडराज का कही नाम आता है और न ही उसके वध की कथा मिलती है। कदाचित् यह अधूरा काव्य मूल कृतिका पूर्व भाग है। ऐसा ही कवि की अन्तिम सूचना से भी विदित होता है। कथानक ऐतिहासिक है। कन्नौज के राजा यशो वर्मा वर्षाऋतु के बीत जाने पर गौड देश पर आक्रमण करने की तैयारी करते हैं। शरदागमन के साथ विजययात्रा का आरम्भ होता है। कन्नौज से मगध तक आने वाले दृश्यो एव कालक्रमागत ऋतुओ का वर्णन कवि ने मार्मिकता से किया है। विजययात्रा का वर्णन भी काव्यसौन्दर्यपूर्ण है। जब यशोवर्मा विन्ध्य पर्वत पर पहुँचते है तो इसका समाचार पाते ही गौड देशाधिप भाग जाता है, किन्तु अन्त मे मारा जाता है। इस घटना का उल्लेख मात्र एक पद्य मे हुआ है। यशोवर्मा अनेक पूर्वी नरेशो पर विजय प्राप्त करके कन्नौज लौट जाता है। वग देश, पजाब, अयोध्या, पारसीक देश, कन्नौज, कान्धार और मारवाड का वर्णन यथास्थान किया गया है।[5] ग्रन्थ मे कवि का नाम वप्पइराज (वाक्पति राज) दिया गया है। वे कन्नौज मे राजा यशोवर्मा के आश्रय मे रहते थे और इनके प्रिय कवि और मित्र थे।

---

१ डा० रामसिंह तोमर : आलोचना—अक ८ पृ० ५५
२ हरदेव बाहरी . प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ८५
३ भगवतशरण उपाध्याय : विश्व साहित्य की रूपरेखा—पृ० ५०५
४ शभुनाथसिंह . हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७१
५ हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ८५-८६

ग्रन्थ से यह भी अवगत होता है कि इसकी रचना यशोवर्मा की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद आरम्भ की गई थी। इससे इसका रचनाकाल आठवी शती का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया गया है।

इसमे १२०८ गाथायें है और कथानक सर्ग, आश्वास आदि मे विभक्त नही है। यो भी इसमे कथावस्तु नही के ही बराबर है और अत्यन्त अलकृत वर्णनों, दूरारूढ कल्पनाओ, विद्वतापूर्ण सन्दर्भो तथा आवश्यक वस्तु-व्यापार-वर्णन से काव्य का कलेवर स्फीत हो गया है। किन्तु इस काव्य की सबसे बडी विशेपता यह है कि इसमे ग्राम्य जीवन और दृश्यो का बहुत ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण हुआ है। शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणो की दृष्टि से देखने पर इसमें अनेक त्रुटिया भी दिखलाई पडती है। कथा सर्गबद्ध नही है और प्रारम्भ में मगलाचरण, पूर्व कवियो की प्रशसा, सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, राजा की प्रशसा, काव्यालोचना, प्राकृत भाषा की प्रशसा आदि बातें ऐसी है जो विशेप रूप से कथा आख्यायिका मे ही विस्तार के साथ पाई जाती है। कथा आख्यायिका की तरह ही इसमे कथान्तर के रूप मे प्रलय वर्णन, आदि अप्रासगिक बातें तथा यशोवर्मन का देशान्तर भ्रमण और बीच-बीच मे उनकी प्रशस्ति भी भरी हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य मे बाणभट्ट के हर्षचरित और प्राकृत के छन्दोबद्ध कथा काव्यो की शैली का समन्वय किया है और साथ ही परम्पराबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य की रूढियो का भी अप्रासगिक वस्तु-व्यापार-वर्णनो के रूप में पालन किया है। अत इसे अलकृत काव्य शैली में लिखा हुआ ऐतिहासिक चरित काव्य ही कहा जा सकता है। परम्परा से इसे महाकाव्य माना जाता है। किन्तु वस्तुत. यह महाकाव्य पद का अधिकारी नही है, जैसे बाण का हर्षचरित यदि छन्दोबद्ध रूप में होता तो भी महाकाव्य नही माना जाता।[1]

महुमह विजय—'मधुमथ विजय' नामक एक और काव्य भी वाक्पतिराज ने लिखा था, ऐसा 'गौडवध' में उन्होने स्वय सूचित किया है। परन्तु अब इसके दो-तीन पद्य ही अलकार ग्रन्थो में बच गये हैं, कृति नष्ट हो गई है। कृति का उल्लेख बाद के अनेक आचार्यों ने किया है, इससे जान पडता है कि वह अवश्य महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध रही होगी।

लीलावई[2]—'लीलावती' मे प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेम-कथा है। कुवलयावली राजर्पि विपुलाशय की अप्सरा रम्भा से उत्पन्न कन्या थी। उसने गन्धर्वकुमार चित्रागद से गन्धर्व विवाह कर लिया। उसके पिता ने कुपित होकर चित्रागद को शाप दिया और वह भीषणानन राक्षस बन गया। कुवलयावली आत्महत्या करने को उद्यत हुई, पर रम्भा ने आकर उसको ढाढस बधाई और उसे नल कूबर के संरक्षण मे छोड़ दिया।

१ शम्भुनाथ सिंह . हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७१
२ डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित

यक्षराज नलकूबर का विवाह वसन्तश्री नाम की विद्याधरी से हुआ था। जिससे महानुमती का जन्म हुआ। महानुमती और कुवलयावली दोनो सखियो का बडा स्नेह था। एक बार वे विमान पर चढ कर मलय पर्वत पर गई जहा सिद्ध कुमारियो के साथ झूला झूलते हुए महानुमती और सिद्धकुमार माधवानिल की आखें चार हुई। घर लौटकर महानुमती बडी व्याकुल रहने लगी। उसने कुवलयावली को पुन. मलय देश भेजा। परन्तु वहा जाकर पता चला कि माधवानिल को कोई शत्रु भगा कर पाताल-लोक मे ले गए हैं। वापिस आकर उसने दुखी महानुमती को सन्त्वना दी। दोनो गोदावरी के तट पर भवानी की पूजा करने लगी।

प्रधान कथा का प्रवेश यहा पर होता है। सिंहलराज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन (हाल) के चित्र को देख कर मोहित हो गई। बाद मे उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने इष्ट की खोज में निकल पडी। उसका मन मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा, जहा उसे अपनी मौसी की लडकी महानुमती मिल गई। तीनो विरहणी एक साथ रहने लगी।

अपने राज का विस्तार करते हुए सातवाहन ने सिंहल राज पर आक्रमण करना चाहा। लेकिन, उनके सेनापति विजयानन्द ने सलाह दी कि सिंहल से मैत्री रखना ही अच्छा होगा। राजा सातवाहन ने विजयानन्द को ही दूत बनाकर भेजा। विजयानन्द नौका टूट जाने के कारण गोदावरी के तट पर रुक गया। उसे पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री लीलावती यहा पर वास करती है। उसने सातवाहन को सारा वृतान्त आ सुनाया। सातवाहन सेना लेकर उपस्थित हुआ और लीलावती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु लीलावती ने यह कह कर इन्कार किया कि जब तक महानुमती का प्रिय न मिलेगा तब तक मैं विवाह नही करूगी। राजा सातवाहन पाताल पहुँचा और माधवानिल को छुडा लाया। फिर भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया। चोट खाते ही भीषणानन पुन राजकुमार बन गया। इस समय यक्षराज नल कूबर, विद्याधर हस और सिंहल-नरेश वही एकत्र हुए। उन्होने अपनी-अपनी पुत्री का विवाह तत्प्रिय राजकुमार से कर दिया। यक्षो, गन्धर्वों, सिद्धो, विद्याधरो, राक्षसो और मानवो ने वर-वधुओ को अनेक सिद्धिया उपहार मे दी।

दिव्यलोक और मानवलोक दोनो के पात्र इस कथा मे होने के कारण कवि ने इसे 'दिव्य-मानुषी' कथा कहा है। कृति मे भवानी, गौरी शिव और गणेश की पूजा का उल्लेख तथा देवताओ के शाप एव वर का वृतान्त कई वार आया है। ज्योतिष, प्रारब्ध, संयोग, जादू-टोना आदि मे कवि का दृढ विश्वास है। लेकिन इसका आधार धार्मिक नही है। इसे प्रेम-काव्य कहना ही समीचीन होगा। प्रेम का सयत और सन्तुलित चित्रण करने मे कवि ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उसने प्रेमियो और प्रेमिकाओ की दृढ़ता की दीर्घ परीक्षा करके ही उन्हे विवाह-बन्धन मे

पाणिवाद थे। 'पाणिवाद्य' का अर्थ है ढोल। पाणिवाद्य नाम की मालाबार मे नाटक खेलने वाली एक जाति थी। ढोल और मुरज बजाना इसका काम था। रामपाणिवाद का एक एकांकी नाटक भी प्राकृत मे प्राप्त हुआ है। इनकी रचनाए सस्कृत और मलयालम मे भी हैं। इनका जीवनकाल सन् १७०७ से १७७५ तक माना गया है।[1]

मुक्तक रचनायें

गाहासत्तसइ—यह महाराष्ट्री की प्राचीनतम कृति मानी जाती है; जिसकी गणना ससार के श्रेष्ठ काव्यो मे की जाती है। इसमे सात सौ से कुछ ऊपर अनेक प्राकृत-कवियो के मुक्तक गाथा-पद्य सग्रहीत हैं। मुक्तक पद्यो की रचना प्रबध रचना की अपेक्षा अधिक दु:साध्य और कठिन मानी गई है। यह साधारण कवि का कार्य नही है, क्योकि मुक्तक के प्रत्येक पद्य मे रस, अर्थ और प्रसग की पूर्णता होनी चाहिए एव कल्पना और अनुभूति का सगठन और स्वतन्त्र भाव होना चाहिए। महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यायिका आदि मे तो पाठक का मन कथा रस मे लीन रहता है, काव्य के गुण-दोष का बहुत विचार वह नही करता। मुक्तक मे कथा का अवलम्ब होता नही। पूर्वापर-सम्बन्ध से निरपेक्ष होने के कारण मुक्तक पद्य रसनिर्भर रहता है। इसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ प्रधान होता है। कहते हैं कि 'गाथासप्तशती' के सग्रहकर्ता ने एक करोड़ प्राकृत पद्यो मे से सात सौ उत्कृष्ट पद्य चुनकर यह ग्रथ सम्पादित किया था।[2] इसका महत्व इस बात से आका जा सकता है कि 'ध्वन्यालोक', 'तल्लोचन्', 'सरस्वती-कण्ठाभरण', 'काव्यप्रकाश' आदि काव्यशास्त्रो मे इसकी गाथाओ को आदर्श के रूप मे उद्धरित किया गया है। रुद्रट, वाग्भट्ट, विश्वनाथ, गोवर्धनाचार्य, वाणभट्ट, राजशेखर इत्यादि आलोचको ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है और कुछ-एक का तो कहना है कि ऐसी सरसता सस्कृत मे कठिन है। इसके अनुकरण मे कई सप्तशतिया लिखी गई—सस्कृत मे, 'आर्यासप्तशती' आदि और हिन्दी मे 'मतिराम सतसई', 'विहारी-सतसई', 'वृन्द सतसई' आदि इसी की परम्परा मे आती हैं।[3]

हाल के समय के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। परम्परा के अनुसार ये वही शातवाहन है, जो विक्रम की प्रथम शती मे आध्र के राजा थे।[4] हाल शातवाहन ने ही महाराष्ट्री मे प्रचलित मुक्तको का सग्रह सतसई मे किया था। किन्तु उपलब्ध गाथासप्तशती की भाषा का काल विक्रम की दूसरी

---

१ हरदेव बाहरी · प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ८७–८९

२ जोगलेकर हाल सातवाहनाची गाथा सप्तशती–भूमिका–पृ० ४९

३ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहिय–पृ० ९१

४ भोलाशकर व्यास हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास–पृ० २९४

हंस, चन्द्र, नयन, स्तन, लावण्य, प्रेम, मान, विरह, पुरुषोल्लास, दूती, सुगृहिणी, सती इत्यादि। इनके अन्तर्गत मानव-प्रकृति और मानवेतर प्रकृति के अनेक पक्ष वर्णित है। शृंगारिक पद्यो की सख्या ५० प्रतिशत से कम है। इनमें नखशिख वर्णन, नायक-नायिका-वर्णन, प्रेम के सचारी भावो, अनेक विभाओ और अनुभावो का चित्रण, संयोग और विप्रलम्भ शृंगार की अनेक अवस्थाओ की व्याख्या की गई है। यद्यपि इसके रचयिता अथवा सम्पादक श्वेताम्बर मुनि है तो भी इसमें जैन धर्म का कही निर्देश नही मिलता। गाथाओ के कवियो के नामो का कोई सकेत नही किया गया। इसके अनेक छन्द रुय्यक, जयरथ, सोमेश्वर, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, आदि अलकार-शास्त्रियो की कृतियो में भी मिलते हैं। 'वज्जालग्ग' के एक पद्य में कहा गया है कि विविध कवियो के द्वारा विरचित कविताओ में से गाथायें चुनकर 'वज्जालग्ग' तैयार किया गया। सकलनकर्ता का नाम जयवल्लभ सूरि ज्ञात है, लेकिन इनके सम्बन्ध मे कोई जानकारी प्राप्त नही है। इनका जीवत काल अनुमानत १३वी १४वी शताब्दी ईसवी के बीच में माना गया है।

प्राय गाथाओ का साहित्यिक स्तर काफी ऊचा है। कल्पना और अनुभूति की छटा अनेक स्थलो पर मिलती है। वाक्चातुर्य, गठन और प्रभाव की दृष्टि से कई पद्य प्रशसनीय हैं। बीसियो सुभाषित अपनी रमणीयता मे अद्वितीय हैं।[1]

विषम वाणलीला

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक'[2] मे स्वचरित इस प्राकृत कृति का उल्लेख किया है। इसके कुछ पद्य इधर-उधर[3] बिखरे पडे और टीकाकारो द्वारा उद्धृत प्राप्त होते हैं। कृति अप्राप्य है। उपलब्ध पद्यो और 'विपमवाणलीला' नाम से विदित होता है कि यह शृंगार रस के मुक्तक छन्दो का सग्रह रहा होगा। कल्हण की 'राजतरगिणी' से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धनाचार्य कश्मीर-नरेश अवन्ति वर्मा के राज्यकाल (सन् ८५७-८८४ ई०) मे विद्यमान थे। वे कश्मीरे थे, यह उनकी राजानक उपाधि से भी स्पष्ट है।

मदन-मुकुट

नायक-नायिका-भेद पर यह एकमात्र कृति ज्ञात है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका वडा महत्व है। इसकी ८१ गाथायें प्रकाशित हुई हैं। ग्रन्थ परिच्छेदो मे विभक्त है और ऐसा लगता है कि लक्षणो की व्याख्या मे मुक्तक पद्य उद्धृत किए गए है। पर जब तक सारी कृति प्रकाश मे नही आ जाती, इसकी शैली पर कुछ कहा नही जा सकता। प्राप्त पद्यो की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और काव्यात्मकता असदिग्ध है। रचयिता का नाम गोसल मिश्र निर्दिष्ट है, पर इनके देश-काल आदि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नही है।

---

१ हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ९४-९५

२ काव्यमाला सस्करण, पृ० ७६,१३६

३ 'लोचन' व्याख्या तथा केवट की कृति

फुटकर पद्य-

इसमे कोई सन्देह नहीं कि किसी समय में प्राकृत काव्य अत्यंत उन्नत और समृद्ध रहा होगा। 'गाथा सप्तशती' के टीकाकार ने ११२ कवियों का नामोल्लेख किया है, जिनकी कृतियों में से हाल ने चुनाव करके इस अमर कृति का सम्पादन किया था। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' हरिउड्ढ, णन्दिउड्ढ, पोट्टिस, पालित्तअ, सम्मअराअ, मल्लसेहर आदि अनेक कवियों के नाम मिलते हैं। अनेक ऐसे भी रहे होंगे जिनका नाम तक मिट गया है। इन सबके काव्य क्या हुए, कहां गए, यह तो काल ही बता सकता है, काव्य शास्त्रों में कुछ प्राकृत पद्य आदर्श उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं। इससे जाना जा सकता है कि संस्कृत के पण्डितों तक में प्राकृत का महत्व स्वीकार किया गया था। 'नाट्य-शास्त्र,' ध्वन्यालोक, 'लोचन' सरस्वती कण्ठाभरण, काव्यानुशासन, 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में बीसियों पद्य बच गए हैं।

भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में दो प्रकार के प्राकृत-पद्य हैं। छन्दादि के उदाहरण में महाराष्ट्री के कुछ पद्य आये हैं। परन्तु भरत ने स्वयं महाराष्ट्री नाम की किसी प्राकृत का संकेत नहीं किया। ध्रुवागीत शौरसेनी प्राकृत में है। इनकी संख्या १०० से कुछ ऊपर है। इनमें सूर्य, चन्द्र, मेघ, बिजली और शरद आदि ऋतुओं का वर्णन है। प्राकृत भाषा और साहित्य के लिए इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। भरत साहित्य शास्त्र के प्रथमाचार्य माने जाते हैं। उन्होंने प्राकृत के जिन पद्यों को अपनी कृति में स्थान देकर गौरवान्वित किया है, उनकी काव्य गुण-सम्पन्नता निर्विवाद है। उनका समय ईसवी सन की पहली शती निर्धारित किया गया है। इससे यह भी अवगत होता है कि उस काल में भी प्राकृत-काव्य पण्डितजन—मान्य हो गया था।

आनन्दवर्धनकृत 'ध्वन्यालोक' में ४५ पद्य प्राकृत के हैं। कुछ के आधार-ग्रन्थों के नाम भी दिये गये हैं, पर वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ये पद्य शृंगारात्मक हैं। इनकी कल्पना मधुर और सरस है। 'ध्वन्यालोक में पृष्ठ ७६, १३६, १८८' २७९, ३०३, ४७० आदि पर ये पद्य उद्धृत हैं।

'ध्वन्यालोक' के 'लोचन' टीकाकार अभिनव गुप्त ने दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते।

सबसे अधिक पद्य भोज-कृत 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में उद्धृत हुए हैं। इनकी संख्या ३५० के लगभग है। कुछ पद्य 'गाथा सप्तशती,' 'सेतुबन्ध, गौडवहो, 'कर्पूरमंजरी' आदि कृतियों से लिये गए, पर ५० के आधार ग्रन्थों का कुछ पता नहीं हैं। अधिकांश का विषय शृंगार है। इनके अतिरिक्त नीति, प्रकृति आदि विषयों पर पद्य हैं। भोजराज धारानगरी के सुप्रसिद्ध परमारवंशीय राजा थे। वे कवि, साहित्यरसिक और अनेक भाषाविद विद्वान थे। इनका समय सन् १०५० ई० से पूर्व समाप्त होता है।

धनजयकृते 'दशरूपकम' मे २५ पद्य मिलते हैं जिनमे १० अज्ञात कवियो के है। ये १० पद्य और कही उपलब्ध नही होते। धनजय का समय सन् १००० ई० के आस-पास अनुमानित किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' और उसकी वृतियो मे. ८० प्राकृतपद्य सगृहीत हैं। शृगार सम्बन्धी पद्यो के अतिरिक्त इनमे अनेक विषयो पर सूक्तिया है।

इनके अतिरिक्त रुद्रट के 'काव्यालकार' रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' जयरथ 'अलकार-विमर्शिणी' सोमेश्वर के 'काव्यादर्श' जयन्त की काव्यप्रकाश-दीपिका' की स्वयभू के 'स्वयभू छन्द' विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगगाधर' आदि ग्रथो मे अनेक प्राकृत पद्य पडे हैं, जिनके रचयिताओ का कुछ भी पता नही है।[1]

प्राकृत नाटक

प्राकृत मे अपना अलग से नाटक साहित्य नही मिलता। वैसे कर्पूरमजरी सट्टक जैसी दो एक नाटकीय कृतिया शुद्ध प्राकृत मे मिलती हैं।[2] सट्टक सज्ञक रचनायें उपरूपको मे गृहीत की जाती हैं।[3] जिनकी भाषा वहुधा आद्यन्त प्राकृत होती है। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर की 'कर्पूरमजरी' है।[4] इसका कथानक प्रणय-कलह है, जिसके अन्त मे चण्डपाल और कर्पूरमजरी का विवाह सम्पन्न होता है। राजशेखर साहित्यिक व्यजना और छन्द-शैली का अनुपम पडित है और उसके छन्दो मे असाधारण सागीतिक झकृति है। प्रवाह भी उसका तरल और अविरल है। प्राय· इसके ६०० वर्ष वाद कालीकट के जमूरिन की सभा के रुद्रदास ने चद्रलेखा नामक सट्टक लिखा जिसमे मानवेद और चद्रलेखा के विवाह की कथा है। तजौर के मध्य-अठारहवी सदी के राजा तुलजाजी के राजकवि घनश्याम ने 'आनन्द-सुन्दरी' नामक सट्टक लिखा।[5] इसी समय के कवि विश्वेश्वर द्वारा लिखी शृगार-मजरी सट्टक की भी जानकारी मिली है। नयचन्द्र पन्द्रहवी सदी के लगभग हुआ और उसने अपने सट्टक 'रभा-मजरी' मे काशी के राजा जैनसिह और गुजरात के राजा मदवर्मन की कन्या रभा की प्रणयकथा प्राकृत और सस्कृत की परस्पर गुथित शैली मे लिखी।

इसके अतिरिक्त नाटको मे प्राकृत के आशिक प्रयोग मिलते हैं, जिस पर हम इसी अध्याय मे अन्यत्र विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। नाट्य शास्त्रियो ने रूपक-

---

१ हरदेव बाहरी . प्राकृत और उसका साहित्य, पृष्ठ ९५-९७
२ डा० भोलाशकर व्यास : हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, खड पृ० ३०९
३ गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ० ६१
४ डा० रामसिह तोमर, आलोचना-अक ८, पृ० ५६
५ भगवतशरण उपाध्याय, विश्वसाहित्य की रूप रेखा पृ० ५००

रचना में स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से अन्य भाषा के मुख से प्राकृत बुलवाने का विधान किया है, जो इस पक्ष में ही देखे गये हैं। यद्यपि प्राकृत साहित्य में नाटक साहित्य का अभाव सा है, तथापि अनुमान होता है कि प्राकृत रासक के रूप का अपना लोकमत रहा होगा और इसीने अपभ्रंशकालीन 'रासक' परम्परा को जन्म दिया होगा।[1] परवर्ती राजस्थानी में उपलब्ध ख्यात-परम्परा भी सम्भवतः इसी की अन्तिम कड़ी है।

अन्य साहित्य—

महावीर और प्राचीन जैन गुरुओं की स्तुति में सैकड़ों स्तोत्र प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। इनमें 'ऋषभ पंचाशिका' 'अजितशान्तिस्तव' 'भक्तामरस्तव' पार्श्वजिनस्तव, 'शान्तिनाथ स्तवन' आदि प्रसिद्ध हैं।[2]

धनपाल द्वारा रचित 'ऋषभपंचाशिका' में पचास पद्य हैं, जिनकी शैली अलंकृत और साहित्यिक है। सुन्दर कल्पना और चमत्कारपूर्ण शब्दों का प्रयोग इसकी विशेषता है। इसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति है। इसी प्रकार दूसरे तीर्थंकर अजित और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के गुणगान के उद्देश्य से अनेक स्तवन लिखे गये, जिनमें नन्दिषेण कृत 'अजितशान्तिस्तव' (नवीं शती) और वीरगणि रचित 'अजितशान्तिस्तव' (बारहवीं शती) साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जिनवल्लभ सूरि नामक कवि का लिखा महावीर स्तवन उल्लेखनीय रचना है। इसकी रचना अलंकृत प्राकृत में हुई है। इसमें एक-एक शब्द तीन-तीन बार प्रयुक्त हुआ है और तीन अलग अलग अर्थ देता है।[3] धर्मवर्धन कृत 'पार्श्वजिन-स्तवन' सन् १२०० ई० और जिन पद्म रचित 'शान्तिनाथ स्तवन' लगभग १३०५ ई० में छः भाषाओं का प्रयोग हुआ है। परवर्ती राजस्थानी कवियों ने प्रकारान्तर से अपने काव्यों में छः भाषाओं का प्रयोग बहुधा किया है। पृथ्वीराजरासो में चन्दबरदायी षट भाषा प्रयोग की घोषणा करता है।[4] यही परम्परा महाकवि सूर्यमल्ल-डिंगल के अन्तिम महाकवि के वंशभास्कर में भी है।[5] यह भी एक अद्भुत साम्य है जिस पर आगे चलकर विस्तार से विचार किया जायेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत का कथा और चरित-साहित्य संसार भर की भाषाओं के साहित्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसका जीवन-स्रोत भी किसी

---

१ भोलाशंकर व्यास : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास १ पृ० ३१०
२ हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य पृ० ४९
३ वही, पृ० ५०
४ कविराव मोहन सिंह : पृथ्वीराजरासो–पहला भाग पृ० १२
षट भाषा पुराणन्च, कुराण कथित मया।
५ (अ) सूर्यमल्ल मिश्रण : वीर सतसई–भूमिका पृ० ६६
(ब) मोतिलाल मेनारिया : डिंगल में वीररस–पृ० ८९

दृष्टि मे औरो से कम नही है। भारतीय भाषाओ मे सत्तसई साहित्य का प्रारम्भ प्राकृत से ही होता है। सस्कृत के अलकार-ग्रथो मे भी प्राकृत–सत्तसइयो और मुक्तको से अनेक उदाहरण उद्धृत किए गए हैं। इससे जाना जा सकता है कि प्राकृत मे कई ऐसे अलकारो की उद्भावना हुई है जिनके उदाहरण सस्कृत साहित्य मे नही मिलते। प्राकृत–साहित्य की सबसे बडी मौलिकता उपमाओ और रूपको की नवीनता मे है। इनके उदाहरण प्राय लोक से लिये गए हैं, इसलिए कमल, नीलोत्पल और पिटे पिटाये अन्य उपमानो का प्रयोग नही के बराबर हुआ है। प्राकृत के उपमानो मे ताजगी है।

प्राकृत ने अनेक नये छन्दो का विकास भी किया और मात्रिक अथवा ताल–वृत्तो को लोक काव्य से उठाकर अपने-अपने काव्यो मे समाविष्ट किया है। प्राकृत का प्रिय छन्द गाथा है। अपभ्रश घता और हिन्दी मे दोहा इसी के भेद के रूप मे विकसित हुए हैं। चौपाई का प्रारम्भ यही से हो जाता है।

साहित्य में प्राकृत का प्रयोग ब्राह्मणधर्म से विद्रोह के रूप में हुआ। यही बात आरम्भ में बगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओ के प्रयोग के सम्बन्ध में सही है। जैनो ने प्राकृत और बौद्धो ने अपभ्रन्श का व्यवहार किया तो नाथो शैवो, सन्तो, वैष्णवो और भक्तो ने हिन्दी, गुजराती, बगाली, मराठी और पजाबी का। विद्रोह का जो स्वर एव जनता के भावो का जो व्यापक प्रतिनिधित्व प्राकृत और अपभ्रन्श में मिलता है वही अधिक विस्तार से आधुनिक भाषाओ पाया जाता है।[1]



१ हरदेव बाहरी प्राकृत उसका साहित्य–पृ० १४४

२

अपभ्रन्श : भाषा और साहित्य

१. अपभ्रन्श शब्द का प्रयोग

मध्यभारतीय-आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्रन्श के नाम से अभिहीत किया जाता है। अपभ्रन्श मध्यभारतीय आर्यभाषाओ और आधुनिक आर्यभाषाओं यथा हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती आदि के बीच कडी है। प्रत्येक आधुनिक-आर्यभाषा को अपभ्रन्श की स्थिति पार करनी पडी है। [1] दूसरे शब्दो मे इसे यो कहा जा सकता है कि आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओ यथा गुजराती, मराठी, हिन्दी, पजाबी, बगाली, सिन्धी, असामी, उड़िया आदि की जननी अपभ्रन्श ही है। [2] किन्तु अपभ्रन्श शब्द का 'किसी भाषा विशेष के अर्थ में सदा प्रयोग नही होता रहा। हमे ईसा की दूसरी शती पूर्व इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे किया हुआ मिलता है। हम आगे चलकर इस शब्द के इतिहास पर सक्षेप मे विचार करेंगे क्योंकि इससे हमको अपभ्रश भाषा के उद्भव और विकास का सम्यक वैज्ञानिक अध्ययन करने मे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

'अपभ्रन्श' शब्द का साधारण अर्थ होता है-भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध। भाषा के सामान्य मानदन्ड से जो शब्दरूप च्युत हो, वे अपभ्रन्श है [3] ऐसी धारणा से विकसित, एक विशेष भाषा की सज्ञा के रूप मे शब्द का व्यवहार अपने मे बहुत सी सभावनाए छिपाए है, अत इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्रन्श शब्द के प्रयोग की विगत शृखलाओं को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं।

अपभ्रन्श शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है। [4] 'वाक्य-पदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्य-

१ डा० उदयनारायण तिवारी . हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ०१२०

२ मुनि जिनविजय पउमसिरिचरिउ-किंचित प्रस्ताविक, पृ० १

भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनो जेमने थोडो पण परिचय छे, तेओ जाणे छे के अपभ्रन्श नामे ओलखाती जूनी भाषा, आपणा महान् राष्ट्रनी वर्तमान गुजराती, मराठी, हिन्दी, पजाबी, सिन्धी बंगाली, असामी, उड़िया विगेरे, भारतना पश्चिम, उत्तर अने पूर्व भागोमा बोलाती प्रसिद्ध देश भाषाओनी जननी जननी छे।

३ नामवर सिंह हिन्दी के विकास मे अपभ्रन्श का योग, पृ० २

४ डा० हरिवश कोछड अपभ्रन्श साहित्य, पृ० १

कार के पूर्ववर्ती सग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रन्श शब्द का निर्देश किया है । यथा—

शब्द सस्कारहीना यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रन्शमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम् ॥

वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रन्श इति सग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रन्श स्वतत्र कश्चिद्विद्यते । सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रन्शस्य प्रकृति : प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रन्शा लभन्ते । तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वागाव्यादयस्तत्प्रकृतयोपभ्रन्शा प्रयुज्यन्ते ।[1]

महाभाष्यकार पतंजलिद्वारा भी 'अपभ्रन्श' शब्द का प्रयोग किया गया है । उनके अनुसार अपभ्रन्श केवल सस्कृत के विकृत शब्द है । किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते हैं, यथा सस्कृत शब्द गौ के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर ।[2] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत सस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट हैं, अत ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दो के लिए अपभ्रन्श सज्ञा का उपयोग किया गया ।

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि मे अपभ्रश केवल उन शब्दो को दी जाने वाली सज्ञा है, जो सस्कृत शब्दो के साधु-रूपो के विकृत या भ्रष्ट स्वरूप हैं और जिन शब्दो का उन्होने अपभ्रश के उदाहरण मे उपयोग किया है, वाद के प्राकृत-वैयाकरणो ने उन्ही को प्राकृत के अन्तर्गत गिना है,[3] यह चिन्त्य है ।

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे सस्कृत, प्राकृत और देशभाषा के भेद को स्पष्ट किया है, साथ ही उन्होने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है ।

एतदेव विपर्यस्त सस्कारगुणावर्जितम् ।
विज्ञेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
त्रिविध तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासत ।
समान शब्दं विभ्रष्ट देशीगतमथापि च ॥
—नाट्यशास्त्र १७-२-३

---

१ भृतहरि . वाक्यपदीयम्—प्रथम काड, कारिका १४८

२ Ed. kielhorn, vot 1, Page 2

एकैकस्य हि शब्दस्य वहवोऽपभ्रन्शा . । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रन्शा : ।

३ (अ) चड प्राकृतलक्षणम्—२—१६
'गोर्गावि:'

(ब) हेमचद्राचार्य : प्राकृत व्याकरण—८—२—१७४
'गोणादय: गौ. गोणी गावी गाव. गावीओ'

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—१. जिसमे सस्कृत के समान शब्दो का ही प्रयोग हो। २ सस्कृत के विभ्रष्ट शब्दो का प्रयोग हो और ३. जिसमे देश्यभाषा के शब्दो का प्रयोग हो। दूसरे शब्दो मे इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटय-रचना मे तीन प्रकार के शब्दो का प्रयोग होता है—तत्सम, तद्भव अथवा विभ्रष्ट, और देश्य। यहा ऐसा लगता है कि पतजलि की अपभ्रंश और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो।

आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओ का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा. प्रकीर्तिता ॥

—नाट्यशास्त्र १७–४६

मागधी, अवन्ति, प्रच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दक्षिणी ये सात भाषायें हैं और अनेक विभाषायें है—यथा,

शकराभीर चाडाल शबर द्रमिलान्ध्रजा।
(शबराभीर चाडाल सचर द्रविडोद्रजा)
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृत ॥

—नाट्यशास्त्र १७–५०

शवरो, आभीरो, चाडलो, चरो, द्रविडो, ओद्रो और हीन जाति के वनचरो की बोलिया। भरत के इस उल्लेख मे अपभ्रश का स्पष्ट नाम कहीं नही आया है, क्योकि उसने केवल भाषाओ का उल्लेख किया है। इससे यह जान पडता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्रश की सज्ञा नही दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्रश का विकास उस कोटि तक नही हो पाया था, जिससे कि उसे भाषा कह कर पुकारा जा सके। विभाषाओ के उस समय कोई अलग नाम नही थे, वे बोलने वाली जातियो अथवा समुदाय के नाम से ही पुकारी जाती थी। जैसे—

अगारकारव्याधाना काष्ठयन्त्रोपजीविनाम्।
योज्या शवरभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा ॥
गवाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोपस्थान निवासिनाम्।
आभीरोक्ति शावरी वा द्राविडी द्रविडादिषु ॥

—नाट्यशास्त्र–१७–५४–५५

अर्थात् शवर और वनौकसी जगली भाषा का प्रयोग अगारकारो कोयला बनाने वाले, शिकारियो और काष्ठ यन्त्रो द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो द्वारा तथा अभीरोक्ति और शावरी का उपयोग गौ, अश्व, ऊट आदि पशुपालक और घोप निवासी ग्वालो के गाव मे रहने वाले जनो द्वारा किया जाता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि आभीरादि पशुपालक जातियो की भाषा आभीरोक्ति के नाम से जानी जाती रही है। जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे, यही आभीरोक्ति

इतनी विकासमान हो गई कि इसने अपना स्थान प्राकृतादि अन्य साहित्यिक भाषाओ के समकक्ष जमा लिया।

सम्भवत भरत के समय भाषा के रूप मे अपभ्रंश को कोई महत्व प्राप्त नही था, किन्तु जान पडता है कि आगे चलकर इसी आभीरोक्ति को ही अपभ्रंश की सज्ञा प्राप्त हो गई। भरत ने, नाटककार के लिए विभिन्न प्रदेश के निवासी पात्रो द्वारा किस प्रकार की बोली प्रयुक्त की जाय, इस विषय मे खुलासा निर्देश दिए हैं। उन्होने लिखा है कि गगा और सागर के मध्य की भाषा एकार बहुला है। हिमालय, सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा उकार बहुला है। विंध्याचल और सागर के मध्य की भाषा नकार बहुला है, सौराष्ट्र, अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भाषा चकार बहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद तटीय प्रदेश की भाषा टकार बहुला है।[1] भरत ने इसप्रकार की उकार बहुला भाषा के उदाहरण भी दिए हैं यथा 'मोरल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि। दण्डी के इस कथन से कि काव्य मे आभीरादि की भाषा अपभ्रंश कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकार बहुला आभीरोक्ति अपभ्रंश रही होगी। भरत ने जो उदाहरण इस उकार बहुला आभीरोक्ति के दिये हैं, उनमे 'णेइ', णिच्च', 'जोण्हउ' आदिशब्द है भी ठेठ अपभ्रंश के। परन्तु भरत के इन उदाहरणो मे प्राकृत प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्रंश का उदाहरण नही माना जा सकता।[2] हाँ, अपभ्रंश को जन्म देने वाली प्रवृत्तियो के बीज यहाँ अवश्य देखे जा सकते हैं।[3]

लगभग छठी शताब्दी मे पहले पहल हमे अपभ्रंश का एक भाषा विशेष के रूप मे उल्लेख मिलता है। वल्लभी सौराष्ट्र के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन 'सस्कृत-प्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध-

---

१ भरत, नाट्यशास्त्र

गगासागरमध्ये तु ये देशा: सप्रकीर्तिता।
एकारबहुला तेषु भाषा तज्ज्ञ प्रयोजयेत् ॥५८॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशा· श्रुतिमागता।
नकारबहुला तेषु भाषा तज्ज्ञ. प्रयोजयेत् ॥५९॥
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च।
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ॥६०॥
हिमवत्सिंधुसौवीरान्ये च देशा· समाश्रिता:।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥६१॥
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्बुदसमाश्रिता।
तकारबहुला नित्य तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥६२॥

२ केशवलाला ह० ध्रुव पद्य रचनानी ऐतिहासिक आलोचना—पृ० २८३-२८६

३ उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ० १२१

प्रबन्ध-रचना-निपुणान्तःकरण.' था।[1] जिस गुहसेन का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके शिलालेख ५५९ ई० से ५६९ ई० के प्राप्त हुए हैं।[2] बूलर प्रस्तुत शिलालेख को कुछ वर्ष बाद का मानते हैं।[3] फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में काव्य रचना होने लग गयी थी, यद्यपि प्रमाण स्वरूप उस युग की कोई रचना अभी तक हमें प्राप्त नहीं हो सकी है।

इसी शती के अन्तिम चरण में एक और प्रमाण मिलता है। आचार्य भामह ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है। यथा—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्य पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

समय मे अपभ्र श साहित्यिक भाषा बन चली थी और इसका प्रयोग आभीरो के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे। इस प्रकार भरत के समय मे आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति दडी के समय मे अपभ्र श मे परिणित होकर बोलचाल तथा साहित्य की भाषा बन गयी थी।

'कुवलयमाला कथा' के रचयिता जैन लेखक उद्योतन सूरि ने (वि० नवी शती) अपभ्र श का प्रयोग एक भाषा विशेष के अर्थ मे किया है। वे अपभ्र श काव्य के बड़े प्रशसक हैं—वे उसे प्राजल, प्रवाहमय और मनोहर मानते है।[1]

रुद्रट अपने 'काव्यालकार' मे काव्य को गद्य और पद्य मे विभाजित करने के पश्चात भाषा के आधार पर उसका छह भागो मे विभाजन करता है। सस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पिशाच भाषा और अतिम अपभ्र श जो स्थान भेदो से अनेक स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

भाषाभेद निमित: षोढा भेदोऽस्य सभवति।

—काव्यालकार २-११

प्राकृत सस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनीच।
षाष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्र शः ॥

—काव्यालकार २-१२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतो के समान ही अपभ्रंश को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और देश भेद के आधार पर विविधता की स्थापना की हैं।

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण मे बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियों को सस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्र श का भी ज्ञान कराया जाता था।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवी शताब्दी मे 'अपभ्र श' भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्ट समुदाय की भाषा बन चली थी।

राजशेखर ने अपने ग्रथ 'काव्य मीमासा' मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाति ही अपभ्र श का उल्लेख एक काव्य भाषा के रूप मे अनेक बार किया है। काव्य पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है[3]—

शब्दार्थो ते शरीरं, सस्कृत मुख, प्राकृत बाहु जघनपभ्र शः पैशाच पादौ उरो मिश्रम्।

---

१ ला० म० गाधी अपभ्रंश काव्यत्रयी—भूमिका पृ० ६७ से उद्धृत 'ता किं अवहस होहिइ ?' हूँ। त पि णो जेण त सक्कयपाय—उभय—सुद्धासुद्धपयसमतरगरग तवग्गिर णव-पाउस-जलयपवाहपूरपव्वालियगिरिणइसरिस समविसम पणय-कुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिस मणोहर।'

२ पुष्पदत . मआपुराण–५-१८-६
सवक्कउ पायउ पुण अवहसउ वित्तउ उप्पाइउ सधससउ।

३ राजशेखर काव्य मीमासा

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर है । सस्कृत भाषा मुख है । प्राकृत भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं । अपभ्रंश भाषा जघा है । पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषायें वक्ष स्थल है ।

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्य विशेषताओ के अनुसार दरबार में कवियो के बैठने के स्थान भी निश्चित किये हैं—

'उत्तर मे सस्कृत कवि, पूर्व मे प्राकृत कवि, पश्चिम मे अपभ्रश कवि • दक्षिण मे पैशाच कवि आसन ग्रहण करें ।

आगे चलकर राजशेखर ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श भाषाओ के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरु भू , टक्क और मादानक को अपभ्रश या अपभ्र श मिश्रित भाषा का प्रयोग करने वाला क्षेत्र कहा है ।[२] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने श्रवण और सुराष्ट्र को अपभ्रंश भाषा-भाषी कहा है ।[३]

नमि साधु ने रुद्रट के 'काव्यालकार' पर टीका करते हुए अपनी 'वृत्ति' मे लिखा है—[४]

'तथा प्राकृतमेवापभ्रश. स चान्यैरूपनागराभीग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरिभेद इति । कुतो देश विशेषात् । तस्य च लक्षण लोकादेव सम्यगवसेयम् ।''

वे अपभ्र श को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते हैं । अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रश—उपनागर, आभीर और ग्राम्या—का निर्देश करते हुए स्वीकार करते है कि 'अपभ्रश के इससे भी अधिक भेद हैं । अपभ्र श को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है ।' इससे जान पडता है कि इस समय तक अपभ्रश लोकभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।

भोजराज ने अपने 'सरस्वती कठाभरण' मे इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप मे ग्रहीत किया है ।[५]

---

१ राजशेखर काव्यमीमांसा, पृ० १३२-३३
तस्य चोत्तरत सस्कृता कवयो निविशेरन् ।····पूर्वेण प्राकृता कवयः ।····
पश्चिमेनापभ्रशिन कवय । दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।

२ राजशेखर काव्यमीमासा, पृ० १२४
सापभ्र शप्रयोगा सकलमरुभुवष्टक्कमालानकाश्च् ।

३ राजशेखर : काव्यमीमासा, पृ० ८३
सुराष्ट्रत्रवणद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रशावदशानि ते सस्कृत वचास्यपि ॥

४ नमि साधु काव्यालंकारवृत्ति—२-१२

५ भोजराज सरस्वती कठाभरण—२-१३
अपभ्रशेन तुष्यान्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ।

वाग्भट ने भी दडी के अनुकरण मे समस्त वाड्मय को चार भागो मे बाटा हैं। दडी ने काव्य-भाषा के चार भेद माने है, यथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और मिश्रित। वाग्भट का विभाजन इससे थोडा भिन्न है। वह मिश्र भाषा के स्थान पर भूतभाषा का उल्लेख करता है, अन्य भाषाए वे ही है—सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश।

सस्कृत प्राकृतं तस्य अपभ्र शो भूतभाषितम्।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥

—वाग्भटालकार २-१

आगे चलकर उसने भी अपभ्र श को देश्यभाषा के रूप मे ही ग्रहण किया हैं।

अपभ्रशस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेषु भाषिताम्।

—वाग्भटालकार २-३

इसी प्रकार अन्य विद्वानो यथा मम्मट, पृथ्वीधर, मार्कण्डेय, रससर्वस्वकार, विष्णुधर्मोत्तरकर्ता, हेमचन्द्र, नारायण, अमरचद, लक्ष्मीधर, नाट्यदर्पणकार, पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी और मुनि जिन-विजय आदि ने अपभ्रश पर मौलिक और परम्परागत विचार व्यक्त किए हैं, आगे चलकर उन पर यथावसर विचार किया जायेगा। अभी उन पर विचार करना अनावश्यक और असगत होगा क्योकि इनके उल्लेख महत्वपूर्ण होते हुए भी बाद के है, अत. इस स्थान पर उनका अध्ययन अनुपयोगी होगा।

अपभ्रंश विषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशो से निम्न परिणाम निकलते हैं।

१ आरम्भ मे अपभ्रंश का प्रयोग शिष्टेतर अथवा अपाणिनीय शब्द रूपो के लिए होता था।

२ भरत ने इसी अर्थ मे 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।

३ भरत के समय मे अपभ्रश का विकास इतना नही हुआ था कि वह भाषा कहला सकती। किन्तु उस समय मे अपभ्रश बीज रूप से वर्तमान थी और इसका प्रयोग एक बोली मात्र के रूप मे शबर, आभीर आदि अशिक्षित वनवासी ही किया करते थे।

४ छठी शताब्दी मे अपभ्रश शब्द साहित्यिक भाषा का द्योतक बन गया था और तत्कालीन आलकारिक और वैयाकरणो द्वारा मान्यता पा चुका था। अपभ्रश मे पर्याप्त साहित्य-सृजन होने लग गया था जो भामह और दडी जैसे आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुका था। इतना होने पर भी अभी तक अपभ्रश का आभीरादि से निकट सम्बन्ध माना जाता था।

५ नवी शताब्दी मे अपभ्रश को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान से देखा जाने लगा था। अब वह केवल शबर, आभीरादिकी बोली नही थी अपितु जन-सामान्य की भाषा बन चली थी और उसका व्यवहार प्राय समूचे उत्तर भारत मे··सौराष्ट्र से लेकर सुदूर पूर्व मे मगध तक होने लगा था। स्थान—भेद से इसमे कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही था, किन्तु काव्योपयोग मे 'आभीरी' का ही प्रयोग होता था।

६ ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक आलंकारिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों ने मान लिया था कि इस साहित्यिक भाषा के स्थान-भेद से अनेक प्रकार हैं। अपभ्रंश का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था और उसमें विपुल साहित्य-रचना होने लगी थी। सिद्धों के 'दोहाकोष' व जैनों के 'चरिउ' अपभ्रंश के ही दो भिन्न प्रकारों में रचे गये। इस प्रकार अपभ्रंश सौराष्ट्र से मगध तक फैल चली थी।

३. अपभ्रंश भाषा का विकास

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रंश का नाम दिया गया है। अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार कब से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कुछ भी कहना कठिन है। ढोला-मारू रा दूहा के सम्पादकों के अनुसार अपभ्रंश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है।[1] श्यामसुन्दर दास मानते हैं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य विद्यमान थे[2] और बारहवीं शताब्दी का मध्य-भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित माना जा सकता है।[3] देवेन्द्र कुमार के अनुसार अपभ्रंश का प्रथम परिचय तीसरी सदी ईस्वी से मिलने लगता है, किन्तु वह साहित्यारूढ़ छठी सदी में हो सकी। बारहवीं सदी तक उसका समृद्धि-युग रहा।[4] महाकवि कालिदास के 'विक्रमोवर्शीय' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। एस० पी० पण्डित[5], ज्यूल ब्लाक[6], तथा हर्मन याकोबी[7] आदि विद्वान इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु डा० आ० ने० उपाध्ये एवं डा० तगारे[8] इनको प्रामाणिक मानते हैं। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इनके प्रक्षिप्त होने पर भी अपभ्रंश का काल ४०० ई० स० से १००० ई० सं० तक मानते हैं।[9] इस विवाद से बचते हुए डा० धीरेन्द्रवर्मा,[10] डा० उदयनारायण तिवारी,[11] डा० हजारी प्रसाद[12] आदि विद्वान इसका प्रारम्भ पाचवीं अथवा छठी सती से मानते हैं।

---

१ ठाकुर पारीक स्वामी . ढोला मारू रा दूहा—भूमिका, पृ० ११०
२ श्यामसुन्दर दास हिन्दी भाषा, पृ० १४
३ वही, पृ० १६
४ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश प्रकाश, पृ० ७
५ उदयनारायण तिवारी : हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२से
६ डा० गुणे भविसयत कहा-भूमिका, पृ० ३७ से उद्धृत
७ डा० याकोबी . भविसयत कहा—भूमिका, पृ० ५८
८ डा० तगारे हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश
९ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या . भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० १७८
१० डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८
११ उदयनारायण तिवारी हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२
१२ हजारी प्रसाद द्विवेदी . हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२

गुलेरी प्रारम्भ के चक्कर मे न पड विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक अपभ्रश की प्रधानता मानते है।[1] राहुलजी छठी शती को ही प्राकृत और अपभ्रश की सीमा रेखा मानने के पक्ष मे है।[2]

इन विभिन्न धारणाओ के आधार पर निम्न निष्कर्ष अनुमानित किये जा सकते है। अपभ्रन्श का आरम्भ अवश्य ईसा की चौथी शती मे हो गया होगा, पाचवी शती मे उसका प्रयोग एक काव्य-भाषा के रूप मे होना प्रारम्भ हो चुका होगा और छठवी शती मे तो इसे शिष्ट समाज मे आदर मिलने लगा होगा। वलभी के शासक घर सेन का शिलालेख इस सम्बन्ध मे उचित प्रमाण प्रस्तुत करता है। छठवी शती से ग्यारहवी शती तक इस भाषा मे पुष्कल परिमाण मे साहित्य का सृजन होता रहा।[3] काव्य–रचना की यह धारा बारहवी शती तक चलती रही और तेरहवी शती मे देशभाषाओ मे परिणित हो गई।[4]

इसका यह अर्थ कदापि नही कि तेरहवी शती के बाद अपभ्रन्श मे कुछ भी रचनाए नही हुई। वास्तविकता तो यह है कि काफी समय तक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रन्श का रचना-प्रवाह साथ–साथ वहता रहा। सभवत यही कारण होगा कि रुद्रट ने संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रन्श को भी साहित्यिक भाषा स्वीकार किया है।[5] भाषा शास्त्रियो ने म० भारतीय आर्य भाषाकाल की मध्यकालीन अवस्था की साहित्यिक प्राकृतो का समय पाच सौ ईस्वी तक और उसके उत्तरकालीन अवस्था की अपभ्रन्श का समय पांच सौ ई० से एक हजार ई० तक माना है।[6] किन्तु प्राकृत का साहित्य पाच सौ ईस्वी के वाद भी लिखा मिलता है। वाक्पतिराज के 'गौडवहो' का समय सातवी, आठवी सदी माना जाता है। कौतूहल की 'लीलावई कहा' भी निसदेह उत्तरकालीन रचना है। प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवी शती के एक कवि राम पाणिवाद ने 'कसवहो' व 'उसाणिरुद्ध' नामक दो ग्रथो का भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत मे प्रणयन किया। अर्थात प्रथम ईस्वी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक सामान्यत और अठारहवी शती के आरम्भ तक विरलत. प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा है।[7] इसी प्रकार सस्कृत भाषा मे अद्यावधि काव्य सृजन होता ही है। अपभ्रन्श के सम्बन्ध मे भी प्राकृत की वात दोहरायी जा सकती है। डा० उपाध्येने योगीन्दु के 'परमप्पयासु' और 'योगसार'

---

१ चद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिंदी, पृ० ८
२ राहुल साकृत्यायन . दोहाकोश–भूमिका, पृ० ९
३ नेमिचन्द्र जैन हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन-भाग १, पृ० २७
४ टेस्सीटरी : पुरानी राजस्थानी, पृ० ८
५ रुद्रट, काव्यालकार, पृ० २-१२
६ डा० हरिवश कोछड़, अपभ्रन्श साहित्य, पृ० १६
७ डा० हरदेव वाहरी, प्राकृत और उसका साहित्य, पृ० १४२

का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है। तब से लेकर तेरहवी शती तक विशेष रूप से और सत्रहवी शती तक अपवाद रूप से अपभ्रन्श मे काव्य रचना होती रही है। भगवतीदास का 'मृगाक लेखा चरित' या 'चन्द्रलेखा' विक्रम सवत् १७०० मे लिखा गया है।[१] जिस प्रकार सस्कृत और प्राकृत मे रचनायें कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रही, उसी प्रकार अपभ्रन्श का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा। इसी प्रकार अपभ्रन्श का आधुनिक आर्य भाषाओ के पूर्व रूपो के साथ भी प्रचलन रहा। अपभ्रन्श यद्यपि १२ वी शती से बोलचाल की भाषा नही थी, केवल साहित्य की भाषा थी, फिर भी वह १५ वीं शती तक स्वतन्त्र रूप से अथवा अन्यतर प्रादेशिक भाषाओ मे घुलमिलकर प्रयोग मे आती रही है। इन तथ्य का समर्थन हमे सिद्धसाहित्य से मिलता है।

सिद्धो की रचनाओ के दो रूप उपलब्ध हैं–१ दोहाकोष २ चर्यापद। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषो और चर्यापदो मे ही दो प्रकार की उपभाषाओ की ओर सकेत किया है। चर्यापदो की भाषा पूर्वी हैं, जिसे वे पुरानी बगाली कहते हैं, क्योकि उसमे बहुत से क्रिया रूप, शब्द रूप तथा ऐसे मुहावरे हैं, जिसकी परम्परा पुरानी बगाली मे चली आई है। दोहाकोषो मे एक ही भाषा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रन्श।[२] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रन्श पर आधारित मानते हैं, किन्तु कही-कही पर उसमे पूर्वी बगाल के शब्द रूपो उच्चारणो तथा मुहावरो का प्रभाव मानते हैं।[३] इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुये डा० धर्मवीर भारती की मान्यता है–दोहे लिखते समय सिद्धो ने पश्चिमी-या शौरसेनी अपभ्रन्श का प्रयोग किया, क्योकि वह भाषा दोहो मे मँज चुकी थी, किन्तु जब उन्होने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया। किन्तु चूकि वह बोली अभी काव्य मे मँजी नही थी, अत. स्थान-स्थान पर उन्होने अभिव्यक्ति और काव्य परिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया।[४]

भरत ने अपने नाट्य शास्त्र मे उकार बहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धु सौवीर और इनके आश्रित देशो के लोगो के लिये करने का आदेश दिया है।[५] इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर–पश्चिमी प्रदेशो मे प्रकट होने लग गई थी। इस उकार बहुला अपभ्रश की प्रवृत्ति पर हाल मे शंकायें उठाई गई हैं। डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित

---

१ डा० हरिवश कोछड–अपभ्रन्श साहित्य, पृ० १७

२ चटर्जी–आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ११२

३ डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी, डाकार्णव, पृ० १९

४ डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध–साहित्य, पृ० २८९

५ भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० १७-६२

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिता ।
उकार बहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥

किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त 'प्राकृत धम्मपद' 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रथो मे भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। अत. उकार बहुला भाषा का अर्थ केवल अपभ्रन्श ही लगाना ठीक नही होगा। नामवर सिंह ने विस्तार पूर्वक बताया है कि 'प्राकृत धम्मपद' की रचना पेशावर के आसपास खेतान के निकट गोश्रृ ग अथवा गोशीर्ष विहार मे प्राप्त हुई थी।[1] यह भरत के निर्देशानुसार उकार बहुला भाषा का ही क्षेत्र था और इसलिये 'धम्मपद' की प्राकृत पर स्थानीय प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। इसी प्रकार 'ललित विस्तर' मे क्षेपको की भरमार है। इसका रूप लगभग चौथी शती मे स्थिर हुआ था चूकि चौथी शती मे अपभ्रन्श का उद्भव हो चुका था, इसीलिए 'ललित विस्तर' मे इस उकार बहुला भाषा का प्रभाव दीख पडता है। राजशेखर ने अपने ग्रथ 'काव्य-मीमासा' मे अपभ्रन्श का विस्तार क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भावानक बताया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रन्श का प्रसार राजस्थान, पजाब, सौराष्ट्र, गुजरात तथा समस्त पश्चिमोत्तर भारत मे हो गया था। शनै शनै 'इसका प्रसार बढता गया और नवी शती मे इसका प्रचार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था।[3] अपभ्रन्श कविता पर विचार करते हुए राहुल जी ने लिखा है—जहा सरहपा और सबरपा बिहार-बगाल के निवासी थे, वहा अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान मे हुआ था। स्वयभू और कनकामर शायद अवधी और बुदेली क्षेत्रयुक्त प्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्यखेट (मालखेड-दक्षिण हैदराबाद) का भी इस साहित्य के सृजन मे हाथ रहा है। इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य के निर्माण मे हाथ बटाया है।[4] इससे जान पडता है कि अपभ्रन्श के नाम से पहिचानी जाती एक साहित्यिक भाषा होनी चाहिए जो इस विस्तृत भू भाग मे कविता के लिये प्रयुक्त की जाती रही है। और जिससे कालान्तर मे विभिन्न अर्वाचीन आर्य भाषाओ का विकास हुआ। लेकिन यह बिल्कुल सभव नही है कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रन्श से आधुनिक विभिन्न आर्य भाषायें विकसित हुई हो। उदाहरणार्थ मागधी प्राकृत से जो अपभ्रन्श भाषा विकसित हुई, वही आधुनिक बगला, उडिया, आसामी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप मे बदल गई हो, यह सभव नही जान पडता है। इन सबकी पूर्ववर्ती अपभ्रन्श भाषायें निश्चय ही अलग-अलग रूपो

---

१ नामवरसिंह-हिन्दी के विकास मे अपभ्रन्श का प्रयोग, पृ० १८
२ राजशेखर-काव्यमीमासा, पृ० १२४
३ नेमिचन्द्र जैन-हिन्दी जैन साहित्य-परिशीलन, पृ० २०
४ राहुल सास्कृत्यायन-हिन्दी काव्य धारा-भूमिका, पृ० ५-६

और उप नागर इन तीन प्रधान भेदो मे ही अन्तर्भुक्त माना है[1] 'कुवलय-माला' मे अठारह देशी बोलियो के नाम गिनाये हैं। राहुल जी उनकी गणना अपभ्रन्श के प्रकारो मे करते हैं।[2]

अपभ्रश का जो भी साहित्य मिलता है, वह बहुत कम भाषागत भेदो को लिए है। यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है, यद्यपि उसमे स्थानीय प्रभाव अल्पमात्रा मे मिल सकता है। ग्यारहवी शती मे नमिसाधु ने अपभ्रश के तीन भेद उपनागर, आभीर और ग्राम्य गिनाये है। पुरुषोत्तम ने बारहवी शती मे अपभ्रश के नागरक, ब्राचड और उपनागरक भेद माने हैं। तेरहवी शती मे शारदातनय ने नागरक उपनागरक और ग्राम्य ये तीन प्रकार माने। सत्रहवी शती मे मार्कण्डेय ने नागर, उपनागर और ब्राचड़ ये तीन भेद माने, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। ब्राचड अपेक्षा कृत अपरिष्कृत मानी गई है। परिष्कृत अपभ्रश को नागर पुकारा गया है। जब यह प्राकृत से मिश्रित होती तो उसे उपनगर कहा जाता था।[3] यह विभाजन देशगत न होकर सस्कार की दृष्टि से किया गया है, अत आधुनिक आर्य भाषाओ की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिए उपयुक्त नही है। इसी समस्या के निराकरण के लिए प्राकृतो के अनुरूप ही विभिन्न अपभ्रशो की कल्पना की गई। देशगत भेदो को सस्कार के आधार पर किए गए भेदो मे अन्तर्भुक्त मानना अनुचित है, क्योकि जन भाषाओ के उत्पत्ति-स्थान भिन्न भिन्न प्रदेश हैं और जिनकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषाएं हैं, तब ये अपभ्रश भाषायें भी भिन्न-भिन्न ही हो सकती हैं और उन सबका समावेश एक दूसरे मे नही किया जा सकता।[4] वास्तव मे बात यह है कि अपभ्रन्श के देशगत कई प्रकार थे किन्तु चूकि वे साहित्य मे ग्रहीत नही होते थे, अत परवर्ती और उत्तरकालीन वैयाकरण उनके नमूने नही पा सके होगे। उपयुक्त उदाहरणो के अभाव मे इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था? डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इसी धारणा को प्रकट करते दिखाई देते हैं।[5] अवश्य ही बोलचाल की अनेक जनपदीय भाषाओ का प्रचलन होता रहा होगा।

इसी धारणा की पुष्टि हमे 'रविकर' के कथन मे मिलती है। रविकरने अपभ्रंश के दो रूप दिये हैं—एक का विकास साहित्यिक प्राकृत के आधार पर हुआ, परन्तु विभक्ति, समास, शब्द-विन्यास आदि की दृष्टि से वह भिन्न है और दूसरा देशी भाषा का रूप है।[6] यह देशी स्वरूप साहित्य मे अधिक व्यवहृत नही होने के

---

१ मार्कण्डेय : प्राकृत सर्वस्व, पृ० ३ तथा १२२

२ राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा—भूमिका, पृ० ७

३ कीथ · हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५

४ हरगोविन्ददास सेठ · पाइअ सद्द महण्णवो—भूमिका, पृ० ४५

५ डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका, पृ० ५०

६ डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल : प्राकृत विमर्श, पृ० ८

कारण आज अज्ञेय है किन्तु अपभ्र श का एक स्वरूप जो साहित्यिक भाषा के रूप मे मान्य था, उपलब्ध है। अपभ्रन्श के किस रूप (या किन रूपो) का प्रयोग साहित्य मे होता था, उसके विषय मे कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणो ने साहित्य मे प्रयुक्त अपभ्रन्श का आधार शौरसेनी ही माना है और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रन्श ही काव्य की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित थी।[1] डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्याका भी यही मत है कि पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्र श ही समूचे आर्यभारत, गुजरात व पश्चिमी पंजाब से बगाल तक प्रचलित 'लिंग्वा फ्रैंका' बन गई थी, जो मधुर और काव्योपयुक्त भाषा मानी जाती थी।[2] फिर भी इस समय आधुनिक आर्यभाषाओ का स्वरूप गठित हो रहा था। कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्र श ही काव्य की भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशो की बोलिया कभी-कभी उस प्रदेश मे रचे जाने वाले साहित्य को प्रभावित करती रही। बाद मे वे बोलियाँ भी स्वतत्र काव्य भाषाओ के रूप मे प्रयुक्त होने लगी।[3] बाद मे अवसर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ही कवि नई काव्य भाषा मे भी रचना करता है और पुरानी अपभ्र श मे भी अपना काव्य चमत्कार दिखाने का प्रयास करता है जैसे विद्यापति।[4] इस प्रकार की दोनो भाषाओ यथा अपभ्र श और देशी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उस काल मे ये दोनो भाषा रूप प्रचलित थे, और शिक्षितो द्वारा समझे जाते थे।[5]

भारतीय आर्य भाषा के विकास की जिस अवस्था को आज हम अपभ्रश के नाम से पुकारते हैं, उसके लिए सदा 'अपभ्र श' सज्ञा का व्यवहार नहीं हुआ है। प्राचीन सस्कृत ग्रथो मे उसका उल्लेख 'अपभ्र श' और 'अपभ्रष्ट' के रूप मे दिया गया गया है। अधिकाश सस्कृत विद्वानो ने 'अपभ्र श' शब्द का भी प्रयोग किया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' जैसे दो एक ग्रथो मे ही 'अपभ्रष्ट' सज्ञा का व्यवहार किया है।[6] किन्तु प्राकृत–अपभ्र श ग्रथो मे 'अवब्भस', 'अवहस', 'अवहत्थ,' 'अवहट्ट', 'अवहठ,' 'अवहट', आदि नाम भी मिलते हैं। परवर्ती कवियो द्वारा इन शब्दो का प्रयोग अधिकतर किया है। अवहट्टका अद्यावधि

---

१ डा० रामसिंह तोमर प्राकृत व अपभ्र श साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ६२-७२

२ चटर्जी : आरिजिन एड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लैंग्वेज, पृ० १६१

३ वही ; पृ० ११३-११४

४ डा० धर्मवीर भारती . सिद्ध साहित्य, पृ० २८८

५ डा० भडारकर रिपोर्ट आन दी सर्च फार एम एम एस १८८७-९४, पृ०७१

६ विष्णुधर्मोत्तरकर्त्ता. विष्णुधर्मोत्तर पुराण–ख० ३ अध्याय ३
अपभ्रष्ट तृतीय च तदनन्त नराधिप।
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते ।

ज्ञात सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर'–१३२५ ई० मे मिलता है।[1] जहा राज सभा मे भाट द्वारा षड्भाषाओ की गणना की जाती है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की अपनी भाषा की प्रशसा करते हुए उसे 'अवहट्ट' कह कर पुकारा है।[2] 'प्राकृत-पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर की राय मे 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है।[3] 'सदेश रासक' के रचयिता अब्दुर्रहमान ने अपने काव्य की भाषा को अवहट्ट कहा है।[4] 'कुवलयमाला कहा' के रचयिता उद्योतनसूरी ने 'अवहस' शब्द का प्रयोग किया है।[5] इसी शब्द का प्रयोग कही 'अवब्भस' के रूप मे भी हुआ है।[6] पुष्पदन्त सस्कृत और प्राकृत के साथ 'अवहस' की गणना करते हैं।[7] स्वयभू देव अपनी रामायण मे इसे 'अवहत्थ' कहकर पुकारते हैं।[8]

अपभ्रश को दी जाने वाली विभिन्न सज्ञाओ पर विचार करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि 'अवहत्थ, अवहट्ट, अवहस, अवहट आदि रूप अपभ्रश अथवा अपभ्रष्ट के तद्भव रूप हैं। प्राकृत अपभ्रश के ग्रथो मे जहाँ सस्कृत के लिए सक्कय और प्राकृत के पाइय, पाउअ आदि रूप व्यवहृत है, वहाँ अपभ्रंश का अवब्भस और

---

१ ज्योतिरीश्वर ठाकुर वर्णरत्नाकर–५५ ख, पृ० ४४
पुनु कइसन भाट, सस्कृत, पराकृत, अवहट्ट, पैशाची, शौरसेनी, मागधी, छहु
भाषाक तत्वज्ञ।

२ विद्यापति कीर्तिलता, प्रथम पल्लव
सक्कय वाणी बुहअन भावइ।
पाउअ रस को मम्म न पावइ ॥२०॥
देसिल वअना सब जनमिट्ठा।
त तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥२१॥

३ वशीधर : प्राकृत पैंगलम् टीका, पृ० ३
पढम मास तरडो
णाओ सो पिंगलो जअइ। गाआ १।
टीका—प्रथमो भाषातरड प्रथम आद्य भाषा अवहट्ट भाषा
यया भाषया अय ग्रथो रचित : सा अवहट्ट भाषा।

४ अब्दुर्रहमान . सदेश रासक—प्रथम प्रकम–छ–६
अवहट्टय सक्कय पाइयमि पैसाइयमि भापाए
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत भूसिय जेहि।

५ एल० वी० गाधी . अपभ्रश काव्यत्रयी, पृ० ९७–९८

६ अल्फ्रेड मास्टर 'वी० एस० ओ० ए० एस०, भाग १३-२
किं चि अवब्भस कआ दा।

७ पुष्पदन्त : महापुराण–सधि ५–कडवक १८

८ स्वयभू . पउमचरिउ। रामायण १-४। 'हिन्दी काव्यधारा' मे उद्धृत

अवहस हो जाना स्वाभाविक है ।[1] उनकी दृष्टि मे अपभ्रंश, अपभ्रष्ट, अवहस, अवभ्भस, अवहट्ट, अवहट आदि सभी शब्द समानार्थी हैं, ।[2] किन्तु शिवप्रसाद सिंह इसे नही मानते । उनके अनुसार हम इन शब्दो के प्रयोगो के कालक्रम पर विचार करें तो एक महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है । संस्कृत के अलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया । या यह कि उनके द्वारा रखा गया यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ हो गया है । किन्तु प्राकृत के कवियो ने इसे अवहस कहा । अपभ्रंशकवियो पुष्पदन्त आदि ने भी इसे अवहस ही कहा । 'अवहट्ट' कहा अद्दमाण (अब्दुर्रहमान) ने, 'प्राकृत पैगलम्' के टीकाकार वशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने । इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियो ने किया । क्या इस आधार पर यह नही कहा जा सकता कि परवर्ती अपभ्रंश के इन लेखको ने इस शब्द का प्रयोग जान बूझ कर किया । अपभ्रंश या अवहस या बहुप्रचलित 'देसी' शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे, परन्तु उन्होने वैसा नहीं किया । इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ट शब्द पीछे का है और इसका उपयोग परवर्ती अपभ्रंश के कवियो ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना मे थोडी परिवर्तित भाषा के लिए किया । वशीधर ने तो अपनी टीका (संस्कृत) मे सर्वत्र अवहट्ट ही लिखा, जब कि (संस्कृत) मे अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्राय होता था ।[3] अर्थात् इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी । इन तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के बाद की स्थिति अवहट्ट है ।[4] अपभ्रंश के व्याकरणिक आधार पर–प्रान्तीय शब्दो और रूपो के मेल से जो भाषा विकसित हुई–वह अवहट्ट थी, इसका काल तेरहवी सदी से पन्द्रहवी सदी तक माना जाता है ।[5] डा० चाटुर्ज्या विद्यापति के अवहट्ट पर विचार करते हुए इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं ।[6] दिवेतिया इसे कनिष्ठ अपभ्रंश मानते हैं और इसे बारहवीं से पन्द्रहवी शताब्दी तक की विकृत भाषा स्वीकार करते हैं ।[7]

हम पहले बता चुके हैं कि परिनिष्ठित भाषा के रूप मे शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर भारत मे प्रचार था, किन्तु स्थानीय बोलिया भी समानान्तर रूप से विकसित हो रही थी । स्थानीय जनपदीय बोलियो का विकास कालान्तर मे आधुनिक आर्य-भाषाओ मे हुआ किन्तु परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश अपना स्वरूप दरबारी

१ नामवर सिंह हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृ० १
२ वही, पृ० २
३ शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ६
४ देवेन्द्रकुमार · अपभ्रंश प्रकाश, पृ० ७
५ वही, पृ० २१
६ चटर्जी आरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बैंगाली लेंग्वेज, पृ० ११४
७ दिवेतिया : गुजराती लेंग्वेज एंड लिटरेचर भाग १, पृ० ४०

कवियो के सहयोग से टिकाने का यत्न करने लगी। भाट—चारणादि कवियो द्वारा व्यवहृत अपभ्रंश भाषा मे भी शनै शनै. परिवर्तन लाना जरूरी हो गया, ताकि उसे दरबारी तथा सामन्तगण समझ सकें। इस प्रकार साहित्यिक अपभ्रंश का यह विकृत स्वरूप अवहट्ट नाम से पहचाना जाने लगा।[1] डा० चाटुर्ज्या के अनुसार विद्यापति की अवहट्ट भी औपचारिक स्तुतिपरक दरबारी कविता की भाषा तक ही सीमित है।[2] इन सब तथ्यों के आधार पर निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

(१) अवहट्ट वस्तुत: अपभ्रंश ही है।

(२) अवहट्ट नाम से अपभ्रंश की विकसित अवस्था परवर्ती कनिष्ट अपभ्रंश का बोध होता है, जो अपभ्रंश के साहित्यिक आधार पर विकसित हुई।

(३) इसके विकास मे दरबारी कविता की परम्परा का बडा भारी हाथ रहा है।

(४) अवहट्ट मे स्थानीय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हैं।

इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ मे अपभ्रंश को व्यापक अर्थ मे ग्रहीत किया गया है, जिसमे अवहट्ट भी आ जाती है।

विद्यापति के पूर्वांकित उद्धरण 'देसिलवअना सब जन मिट्ठा' को लेकर कुछ विद्वानो ने अपभ्रंश को देसी या देशी माना है। इस दिशा मे विभिन्न विद्वानो ने काफी काम किया है। पिशेलने अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण मे 'देसी' पर विचार किया है।[3] ग्रियर्सन ने अपने एक विस्तृत निबन्ध 'आन दी माडर्न इण्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स' मे भी इस सम्बन्ध मे प्रकाश डाला है।[4] डा० उपाध्येने शिप्लेज एसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर मे प्रकाशित अपने निबन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' मे इस प्रश्न को उठाया है और डा० तगारेने तो अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिकल ग्रेमर आफ अपभ्रंश' मे 'देशी और अपभ्रंश' शीर्षक अलग विस्तृत अध्याय लिख डाला है। विद्यापति की उक्त पंक्तियो के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना देशी और अवहट्ट को एक ही मानते हैं।[5] डा० हीरा लाल जैन स्वयभू, पुष्पदन्त पद्मदेव, लक्ष्मण आदि अपभ्रंश के कवियो के लम्बे उद्धरण देकर सिद्ध करते हैं कि उनकी भाषा देशी थी।[6] किन्तु प्रसिद्ध भाषाविद् जूलब्लाक अपभ्रंश अर्थात् देशी, इस धारणा को सही नही मानते।[7] अत: देशी शब्द के प्रयोग का विकास-क्रम जानना ही ऐसी दशा मे एक मात्र मार्ग हो सकता है, जिससे हम सच्चाई तक पहुच सकें।

---

१ म० चि० मोदी अपभ्रंश पाठावली, पृ० २०

२ चटर्जी · आरिजिन एड डेवलपमेट आफ बैंगाली लेंग्वेज—भूमिका, पृ० ११४

३ पिशेल . प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४-१५

४ ग्रियर्सन : इडियन एटिक्वेरी, १९३१-३३

५ बाबूराम सक्सेना : कीर्तिलता—भूमिका, पृ० ७

६ डा० हीरालाल जैन · पाहुड दोहा—भूमिका भाग

७ वही—पृ० ३३

देशी शब्द का प्रयोग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भी किया है, किन्तु वहा भाषा देशी नही है, शब्द देशी है। उनकी राय मे जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो से भिन्न हो, उन्हें देशी मानना चाहिए। भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्राय बहुत पीछे तक आलकारिको और वैयाकरणो द्वारा मान्य रही है। बारहवी शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'देशी नाममाला' ऐसे ही शब्दो को लेकर चली है जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर न सिद्ध हो सके। उन्होने उन शब्दो को देशी माना है जो 'लक्षण' मे सिद्ध नही होते हैं।[1] देशी शब्द के बारे मे वैयाकरणो और आलकारिको की ऊपर कथित व्युत्पत्ति-प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेलने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और सस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी कह सकते है, जिसकी व्युत्पत्ति सस्कृत से न निकाली जा सके।[2] इस प्रकार हमे ज्ञात होता है कि 'देशी' का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है और भरत, रुद्रट हेमचन्द्राचार्य व पिशेल आदि वैयाकरण मानकर चलते हैं कि प्रत्यय-प्रकृति-विचार के घेरे के बाहर के शब्द देशी है।

भाषा अथवा बोली के लिए भी 'देशी' विशेषण अथवा संज्ञा का उपयोग किया जाता रहा है। 'तरंगावई कहा' के प्रणेता पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण' कहा है।[3] उद्योतन सूरी ने अपनी रचना 'कुवलयमाला' में महाराष्ट्री प्राकृत को देशी नाम दिया है और उसका प्राकृत—सम्भवत शौरसेनी से, भेद स्थापित किया है।[4] कौउहल ने 'लीलावई कहा' में महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी भाषा कहा है।[5] इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि भाषा के रूप मे देशी शब्द का यहां प्राकृत के लिए प्रयोग हुआ है किन्तु परवर्ती कवियो ने अपभ्रंश को भी देशी कह कर पुकारा है। स्वयभू ने अपनी रामायण—पउम चरिउ—को ग्रामीण भाषा अथवा देशी भाषा मे रचित बताया है।[6] अपभ्रंश के दूसरे एक महान कवि पुष्पदन्त ने भी 'महापुराण'

---

१ हेमचन्द्राचार्य देशी नाम माला

२ पिशेल प्राकृत भाषाओ का व्याकरण (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४-१५

३ पादलिप्त तरंगावती कथा
पादलित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसी वयणेहि।
नामेण तरंगावई कहा विचित्ता विचित्ता विउलाय।
. याकोबी द्वारा सनत्कुमार चरित—भूमिका, पृ० १७

४ कोउहल . लीलावई कहा—स० आ० ने० उपाध्ये द्वारा भूमिका मे उद्धृत पायय
भासा रइया माहट्ठय देसी वयण णिबद्धा।

५ कोउहल लीलावई कहा—गाथा, १-३०
भणिय च पियय भाए रइय मरहट्ठ देसी भासाए
अगाई इमीअे कहाए सज्जणा सग जोउ गाई।

६ (क) स्वयभू . रामायण—हिंदी काव्यधारा—पृ० २६
छुडु होंति सुहासिय—वयणाइ। गामेल्लभास परिहरणाइ।

मे अपनी काव्य-भाषा को देसी के नाम से पुकारा है ।[1] एक सहस्त्र ईसवी मे कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'पासणाह चरिउ' की भाषा को 'देसी सद्दत्थगाढ' से युक्त बताया ।[2] इन सब उल्लेखो से जान पडता है कि परवर्ती काल मे अपभ्रश देशी भाषा कहलाने लगी थी ।

जब अपभ्रश साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ होकर रूढि-ग्रस्त हो गई तो उसकी तुलना मे अवहट्ट को भी देसी कहा जाने लगा । इसी प्रकार जनपदीय बोलिया भी देसी नाम से पुकारी जाने लगी । विद्यापति का,[3] उल्लेख हमारे कथन का समर्थन करता है । महाराष्ट्र के सन्त कवि ज्ञानेश्वर ने भी देसी शब्द का प्रयोग पुरानी मराठी के लिए किया है ।[4] इन निर्देशो से जान पडता है कि देशी शब्द का प्रयोग प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट और जनपदीय बोलियो के लिए समय समय पर होता रहा है । वस्तुत देशी विशेषण एक सापेक्षित शब्द है । प्राकृत से भी पहले पालि के लिए इस सज्ञा का प्रयोग किया जाता था । भगवान बुद्ध ने अपना उपदेश देश भाषा मे ही किया था और उसी भाषा मे उन्हे सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था ।[5] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग मे साहित्यारूढ भाषा के सामानान्तर कोई न कोई देशी भाषा रही है, जो जनता के सामान्य समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती रही है । उसे ही सदा देशी कहा जाता रहा है, अत देशी का अर्थ केवल अपभ्रन्श मानना अनुचित है ।

डाक्टर कीथ ने अपने ग्रंथ 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' मे पहले खण्ड मे भाषाओ का विवेचन किया है । उन्होने रुद्रट और दण्डी का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रश किसी रूप मे कभी देश भाषा नही थी । वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियो की भाषा थी और उन्ही के साथ-साथ उसका प्रसार व उसकी प्रतिष्ठा हुई, अतएव उसे मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक

(ख) वही–
देसी भासा उभय तडुज्जल (कवि दुक्कर–घण-सद्द–सिलायल)

१ पुष्पदन्त · महापुराण—१/८/१०
ण विणयामि देशी ।

२ पद्मदेव : पासणाह चरिउ
वायरणु देसि सद्दत्थगाढ,
छदालकार विसाल पोढ ।
जह एवायइ वहुलकरवर्णेहिं,
इय-विरइय कव्व विपनसर्णेहिं ।

३ 'देसिल वयना, सय जन मिट्ठा ।'

४ ज्ञानेश्वर . ज्ञानेश्वरी, अध्याय १८
अम्हो प्राकृते देशी कारे बन्धे गीता ।

५ डा० कोलते . विक्रम स्मृति ग्रथ, पृ० ४७९

६ नामवर सिंह हिन्दी के विकास मे अपभ्रन्श का योग, पृ० ८

आर्य भाषाओ के बीच की कडी मानना ठीक नही है।[1] यहा हम डाक्टर कीथ की मान्यता पर विचार करेंगे। उनकी यह धारणा कि अपभ्रश मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक आर्य भाषाओ के बीच की कडी नही है, आज कोई नही मानता। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह मान्यता गलत है। रुद्रट का उल्लेख 'षष्ठनु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रश' और मार्कण्डेय का सत्ताइस प्रकार के विभाजन का आधार हमे अपभ्रश को देश भाषा मानने को बाध्य करता है।[2] उनकी यह मान्यता कि अपभ्रश आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रामको की भाषा थी, पूरी ठीक नही लगती। हा, अपभ्रश के विकास, विस्तार और प्रतिष्ठा मे अवश्य इस समुदाय का हाथ रहा है, इससे इन्कार नही किया जा सकता।

आरम्भ मे अपभ्रश को आभीरों की भाषा माना जाता था। 'आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगिर' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रश वह भाषा है जिसका काव्य मे उस समय आभीरादि निम्न वर्ग के लोग प्रयोग करते थे। इसका यह अभिप्राय नही कि अपभ्रश आभीर लोगो की निजी भाषा थी या आभीरादिजन इस भाषा को अपने साथ कही से लाये। वास्तव मे आभीर या उनके साथी जहा जहा गये, उन्होंने वही की स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमे निज स्वाभावानुकूल स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिए। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत अथवा[3] विकसित भाषा को ही अपभ्रश का नाम दिया गया है। इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रश के साथ आभीरो का सम्बन्ध जुडा हुआ है, अतः अपभ्रश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा।

आभीर जाति का उल्लेख सबमे पहले महाभारत मे मिलता है। नकुल के प्रतीची-विजय प्रसग मे आभीरो को सिन्धुके किनारे रहने वाला कहा गया है।[4] शल्य-पर्व मे बलदेव की तीर्थ यात्रा के सदर्भ मे आता है कि राजा ने उस स्थान मे प्रवेश किया, जहाँ शूद्र आभीरो के कारण सरस्वती नष्ट हो गई।[5] जब अर्जुन यादवियो को लेकर द्वारका से वापिस लौटते है, तो दस्यु, लोभी और पापकर्मी आभीर हमला करके महिलाओ को छीन ले जाते है। अर्जुन के साहसपूर्ण जीवन मे यही एक ऐसा प्रसग है जब कि उसके विश्वविजयी गांडीवकी कुछ भी न चल सकी।[6] अन्यत्र

---

१ कीथ हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३

२ श्यामसुन्दर दास . हिंदी भाषा, पृ० १८

३ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २४-२६

४ महाभारत–पर्व ७, अध्याय ३२, श्लोक १०

५ वही, पर्व ९, अध्याय ३७, प्रथम श्लोक

६ वही, पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४४-४७

उनको द्रोण के सुपर्णव्यूह में योद्धाओ की पक्ति मे रखा गया है।[1] इन्हे शूद्र माना गया है।

पाणिनी के समय मे भी इन्हे 'महाशूद्र' कह कर पुकारा गया है।[2] मनुस्मृति मे आभीरो को ब्राह्मण पिता और अम्बस्थ माताओ से उत्पन्न माना है।[3] इसी से जयचद विद्यालकार इन्हे मारवाड व राजपूताने का मूल निवासी गिनते है।[4] किन्तु अधिकाश विद्वान इन्हे भारत मे बाहर से आने वाले वर्ग मे सम्मिलित करते हैं। आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरो के दो दलो की कल्पना की है। पहली बार जो आभीर आए वे आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर ग्रहीत होकर 'शूद्राभीर' कहलाने लगे।[5] दूसरा दल बाद मे आया, वह उद्धत और लुटेरा था। इसलिए वह भारतीय संस्कृति मे अन्तर्भुक्त नही हुआ। आगे यवन आक्रमण काल में वे सब इस्लाम धर्म मे दीक्षित हो गये।[6] इन्ही आभीरो की बोली स्थानीय भाषा का सबंध पाकर अपभ्रश के रूप मे विकसित हुई, ऐसा माना जा सकता है। इन तथ्यो पर गभीरता से विचार करने पर एक प्रश्न उठता है, कि असाधु शब्दो के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला 'अशभ्रश' विशेषण सस्कृत वैय्याकरणो, उच्चवशी पडितो, द्वारा आभीरी को 'महाशूद्रो' की भाषा मानकर-तिरस्कार व घृणा से 'अपभष्ट' अथवा 'अपभ्रश' सज्ञा के रूप मे कही थोप तो नही दिया गया है, जो कि फिर प्रचलित हो गया । जैसे हिन्दी की स्वच्छदवादी और रोमाटिक कविता के लिए दिया गया 'छायावाद' नाम।

कुछ विदेशी इतिहासकारो ने, और उनके आधार पर अनेक भारतीय विद्वानो ने वैदिकधर्म और बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मण और क्षत्रिय के सघर्षकी पृष्ठभूमि पर इन आभीर गुर्जर, हूण आदि नवीन आने वाली दुर्दान्त और साहसी जातियो को क्षत्रियो के रूप मे सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[7] ब्राह्मण वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए हूण, आभीर, गुर्जर आदि नवागन्तुको को अपनी छाया मे ले लिया था। उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञानुष्ठानो के विधान किये। माउट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियो का आविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था।[8] कारण कुछ भी रहे हो, इस मे कोई सदेह नही कि इस जाति का प्रसार समस्त उत्तरापथ और मध्य भारत मे हो गया और इनके साथ ही अपभ्रश भाषा को फैलने व विकास पाने का अवसर मिला।

ईसा की दूसरी शताब्दी मे आभीरो का प्रसार काठियावाड तक था, ऐसा अनुमान रुद्रदमन के एक अभिलेख से लगाया जा सकता है। काठियावाड मे 'सुन्द'

---

१ महाभारत-पर्व ७, अध्याय २० श्लोक, ६
२ वासुदेव शरण अग्रवाल: इडिया एज नोवन टू पाणिनी—पृ० ८०
३ मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक १५
४ देवेन्द्र कुमार अपभ्रंश प्रकाश, पृ० ८७
५ डा० गुणे: भविस्सयत्त कहा, भूमिका, पृ० ५३
६ देवेन्द्र कुमार: अपभ्रश प्रकाश, पृ० १७
७,८ डा० भगवत शरण उपाध्याय: भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण पृ० १०६ तथा पृ० ३२६

३- अपभ्रन्श साहित्य का विकास

यद्यपि हमने अपभ्रन्श के काल को ४०० ई० से माना है किन्तु इस समय का कोई साहित्य आद्यावधि उपलब्ध नही हुआ है। आठवी शती से अपभ्रन्श का साहित्य विकसित अवस्था मे दिखाई देता हैं और तब से १५ शती तक छुटपुट तौर पर इसमे रचनाए होती रही हैं। समस्त भारतीय साहित्य की भाति ही अपभ्रश के साहित्य को भी धार्मिक भावनाओ से प्रेरणा मिली है। अपभ्रन्श साहित्य के विकास को ठीक तरह समझने के लिए इन मूल प्रेरणाओ को जानना होगा और ऐसा करने के लिये तत्कालीन परिस्थितियो से परिचित होना अनिवार्य है। अपभ्रन्श कालीन युग और उसकी परिस्थितियो का विवरण हमारे अध्ययन मे उपयोगी होगा।

राजनीतिक अवस्था :

गुप्त साम्राज्य के ह्रास काल में-(ईसा की छठी शती मे) राजनैतिक दृष्टि से पटना, कन्नौज और श्रीमाल महत्व के स्थान थे। समस्त उत्तरापथ मे फैला हुआ गुप्त सम्राज्य सिकुडकर पटने के आस पास के प्रदेश मे रह गया था। मध्य देश मे मौखरियो का आधिपत्य स्थापित हो चला था। उनकी राजधानी कन्नौज को अब वही महत्ता प्राप्त हो चली थी, जो कि गुप्त काल मे (छठी शती तक) पाटलिपुत्र (पटना) को थी। मौखरियो के श्रीहत होने पर कन्नौज पर राष्ट्रकूटो का आधिपत्य हुआ किन्तु इससे कन्नौज की महत्ता मे रच मात्र भी फर्क न पडा। कन्नौज एक विशाल केन्द्र था और उसका प्रभुत्व भारत मे १,२०० ई० तक बना रहा।[1], पजाब मे गुजरात और गुजरानवाला प्रान्त, मारवाड मे श्रीमाल (भिन्नमाल–भीनमाल)और गुर्जरत्रा मे (भरूच मे) गुर्जर जाति का वोलवाला था।

सातवी शताब्दी मे मौखरियो के वश मे हर्ष जैसा पराक्रमी राजा हुआ जिसने उत्तरी भारत की राजनैतिक स्थिति को सभाले रखा। इसके समय मे भारत का अन्य पडोसी देशो से सपर्क बना रहा। दक्षिण भारत मे पुलिकेशी द्वितीय एक शक्तिशाली राजा था। इस काल मे भारत मे अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रही यद्यपि थोड़ी बहुत गडबडी कही न कही चलती रहती थी, किन्तु वह तत्कालीन अवस्थाओ को देखते हुए नगण्य थी।

आठवी शताब्दी मे भारत का एक नई शक्ति से पाला पडा। ७१२-७१३ ई० तक सिन्ध और मुलतान हिन्दुओ के हाथ से अरबो की अधीनता मे चले गये थे।[२] यद्यपि अरबो की यह सिंध विजय प्रयत्न करने पर भी अधिक क्षेत्र मे बढ नही

(ख) जैक्सन, बोम्बे गजेटियर भाग-१-अक-१ पृ० ४६५-६६
दिवेटिया: गुजराती लेंग्वेज एड लिटरेचर, पृ० ३५

१ डा० रागेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृ० १२२

२. राहुल साकृत्यायन : हिन्दी काव्य-धारा-भूमिका, पृ० ३०

सकी किन्तु श्रीमाल और सुराष्ट्र पर इन लोगों के हमले इस समय होते रहे। इधर छोटे छोटे राज्य भी शक्ति संग्रह करने लगे थे।

नवीं शताब्दी में हर्ष का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चला था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अनेक छोटे छोटे राज्य शक्तिशाली बन चले थे। इनमें से बंगाल और बिहार के पाल, पश्चिम में गुजरात-मालवा के प्रतिहार और दक्षिण में मान्य-खेट के राष्ट्रकूट मुख्य थे। ये तीनों कन्नौज को हस्तगत करना चाहते थे। कन्नौज नगरी एक ऐसी स्वयवर कन्या थी, जिसे राष्ट्रकूट, प्रतिहार और पाल तीनों व्याहना चाहते थे लेकिन यह स्वयवर कन्या सौत बनकर नहीं रहना चाहती थी। अब तीनों उम्मीदवारों को फैसला करना था—कौन अपना देश छोड़ कान्यकुब्ज जाने के लिए तैयार है। प्रतिहार नागभट्ट ने फैसला किया, वह कन्नौज का स्वामी बन गया, बाकी दोनों मुह ताकते रह गये।[1]

दसवीं शती में अनेक छोटे-बड़े शासक प्रबल बन चले थे। आपस में छोटी बातों को लेकर झगड़े होते रहते थे। षड्यन्त्र और विदेशी सहायता के बल पर भी शत्रु-पक्ष को पराजित करना उचित समझा जाता था। स्थानीय प्रदेशों को अधिक महत्ता दी जाने लगी थी। देश भक्ति का संकीर्ण स्वरूप 'स्वस्थान-भक्ति' मात्र बन चला था। इतने राजनैतिक उथल-पुथल के होने पर भी जनता के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था।

ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी के आक्रमण हुए। इस काल में प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हो चली थी और फलस्वरूप उनके अधीन रहनेवाले चन्देल, कल-चुरि तथा चौहान स्वतन्त्र होने लगे थे। इन सभी स्वतन्त्र राज्यों में परस्पर सद्भाव, सहयोग और सहिष्णुताका अभाव था। वे आन्तरिक असतोष व कलह से जर्जर हो चले थे। इनमें से कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह विदेशी आक्रान्ताओं को दीर्घकाल तक पराजित कर सकता।

बारहवीं शताब्दी में कुछ नये राज्य सिर उठाने लगे। उत्तरभारत में पालों गहड़वारों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त गुर्जर-सोलकी और मालवा के परमार भी पर्याप्त प्रभावशाली हो गये थे। चक्रवर्ती सम्राट कहलाने की लालसा से प्रायः इन सब में सघर्ष और मनोमालिन्य चलता रहता था। अजमेर के चौहानों में से पृथ्वीराज और वीसल देव तुर्कों से टक्कर लेने में सफल रहे। वीसल देव स्वयं अच्छा कवि था।[2] दिल्ली के लौह स्तम्भ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी[3] कि

---

१ राहुल साकृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा—भूमिका, पृ० ३०

२ हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदि काल—पृ० ३३

३ वही—पृ० ३४ से उद्धृत

आविन्ध्यादा हिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसगात्
उद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छ-विच्छेद—

मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ-विहीन करके यथार्थ आर्यावर्त बना दिया है। अपने वशजो को पुकार कर वह कहता है कि मैंने तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद कर दिया हैं, परन्तु बाकी पृथ्वी के जीतने मे तुम लोगो का मन उद्योग-शून्य न हो इस बात का ध्यान रहे।

तेरहवी शताब्दी हिन्दू-राज्य सत्ता के पतन का युग था। सामाजिक संकीर्णता, अपसी कलह, क्षुद्र स्वार्थ और आलस्य के कारण नवागन्तुक इस्लाम के जोश का ठीक से मुकावला नही हो सका।

धार्मिक अवस्था :

अपभ्रंशकालीन राजनैतिक उथल-पुथल की सक्षिप्त जानकारी पा लेने के बाद हमे अवगत हो जाता है कि इस युग मे बौद्ध, जैन, ब्राह्मण और इस्लाम इन चारो धर्मों का प्रचार हो चला था। हमारे आलोच्य-युग के कवि-जनो मे बौद्ध, जैन, हिन्दू और मुसलमान, चारो प्रकार के लोग हैं। अधिकाश साहित्य धार्मिक परम्पराओ से अनुप्राणित रहा है। ऐसी दशा मे हमे आलोच्य-युग की स्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारी भारतीय वर्ण-व्यवस्था ने ब्राह्मण को आध्यात्मिक क्षेत्र मे सदा से अगुवा मान रखा है। जब ईसा के पहले की दो तीन सदियो मे यवन, शक, आभीर गुर्जर आदि जातिया बाहर से आ रही थी, उस समय ब्राह्मणधर्म और बौद्धो मे सघर्ष चल रहा था। बौद्धो ने ऐसे विदेशी तत्वो को प्रोत्साहन दिया जिससे कि ब्राह्मण धर्म समाप्त हो जाये, किन्तु ब्राह्मण धर्म वैदिक काल से इस धरती पर फैला हुआ था। उसे नष्ट न किया जा सका क्योकि उसकी जड़ें गहरी थी। साथ मे उसने इन्हे क्षत्रिय के वर्ण मे स्वीकार कर अपने मे अन्तर्भुक्त कर लिया। अशोक के समय बौद्ध धर्म ने एक बार पुन हिन्दू धर्म पर छा जाना चाहा। प्रतिक्रिया स्वरूप सातवी शताब्दी के अन्त मे कुमारिल भट्ट ने वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा स्थापित करने का बीडा उठाया। आठवी शती मे शकराचार्य के हाथो बौद्धो और जैनो के नास्तिकवाद को बहुत हानि सहनी पडी।

वैदिक ज्ञान के मन्द हो जाने पर पुराणो का प्रचार हुआ। नवीन सस्कारों का प्रचलन हुआ। यज्ञ कम हुआ किन्तु कर्मकाण्ड, श्राद्ध, तर्पणादि मे पर्याप्त वृद्धि हुई। मन्दिरो व मठो का निर्माण होने लगा। एलोरा के कैलाश-मन्दिर के समान अनेक कलामय मन्दिर बने। व्रतो तथा प्रायश्चितो का विधान स्मृतियो मे स्थान पाने लगा। भगवान के भिन्न नामो को देवता मानकर उनकी पृथक-पृथक उपासना

नाभिर्देव · शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसल · क्षोणिपाल : ।
ब्रूते सम्प्रति चाहमानतिलको शकभरी-भूपति:
श्री मद्विग्रहराज एव विजयी सन्तानजानात्मजान् ।
अस्माभि करद व्यधायि हिमवद् विन्ध्यान्तराल भुव
शेप—स्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योग शून्यं मन. ॥

—इडियन एटिक्वेरी—खण्ड १९, पृ० २१८

आरम्भ हो गई थी। ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और एन्द्री–इन सात शक्तियों को मातृका नाम दिया गया है। काली, कराली, चामुंडा व चण्डी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की भी कल्पना की गई। आनन्द-भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी और ललिता आदि विषय-विलास-परक शक्तियों की भी कल्पना की गयी।[1]

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और क्षत्रियों का जब एक और मिलन हुआ है तो वह राज्यतन्त्र में फला-फूला है। अवैदिक क्षत्रियकुल गण-व्यवस्था में थे और ब्राह्मण को सर्वोपरि नहीं मानते थे। वे ही बौद्ध और जैन बनकर समृद्ध हुए। यद्यपि गण-व्यवस्था उगते सामन्तवाद के सामने छिन्न-भिन्न हो गई, और कालान्तर में बौद्ध और जैनों को भी सामन्तीय व्यवस्था के अनुरूप अपने को बदलना पड़ा। परन्तु उन्होंने एक काम किया। वे क्षत्रिय ही पुरोहित बन गये अर्थात् बौद्ध और जैन क्षत्रिय जो वेद को नहीं मानते थे, उठते सामन्तकाल के विकास काल में क्योंकि ब्राह्मणों से पौरोहित्य नहीं छीन सके थे, उन्होंने संघबद्ध होकर अपने भीतर ही श्रमणीय परम्परा डालकर एक नये पुरोहित वर्ग को बना लिया।[2] कहने का अर्थ यही है कि ब्राह्मण, जैन, और बौद्ध सभी धर्म एक दूसरे से कुछ तत्व और विशेषताएं ग्रहण कर रहे थे।

कालान्तर में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म की अनेक अवान्तर शाखाएं हो गयी। यद्यपि अनेक बार इन धर्मों में छोटा बड़ा मतभेद या झगड़ा खड़ा हो जाता था किन्तु अधिकांश जन धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु ही थे। ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी उनमें एकता थी। पंचायतन पूजा इसी एकता का परिणाम थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी देवता की पूजा कर सकता था। सभी देवता ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि थे। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक, चौथा परम आदित्य–भक्त।[3] हर्ष के समय में बुद्ध और हिन्दू देवताओं की साथ-साथ पूजा होती थी, गुप्त काल में भी एक ही मन्दिर में नृसिंह, गंगा, यमुना, दशभुज–चण्डी, शेषशायी विष्णु, ब्रह्मा, जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा बुद्ध मूर्ति मिल जाती थीं।[4] यही कारण है कि हमें तत्कालीन साहित्य में प्रायः सम्प्रदाय विशेष के अतिरिक्त अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों के संकेत भी मिल जाते हैं।

आठवीं शती के आरम्भ से ही अरबों का भारत से सम्बन्ध बनने लगा था। बगदाद के खलीफाओं ने भारत से अनेक विद्वानों को ससम्मान बुलाया था, जिन्होंने भारतीय दर्शन, वैद्यक, गणित और ज्योतिष के बहुत से ग्रंथों के अरबी अनुवाद करने में सहायता की थी। दसवीं शती तक मुलतान और सिंध तक अरब फैल चले

१ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भारतीय संस्कृति, पृ० २७

२ रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ० १६६

३ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा . मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३७

४ व्योहार राजेन्द्र सिंह त्रिपुरी का इतिहास, पृ० ७२

थे और बारहवी शती तक मुसलमानी शासन कन्नौज तक फैल गया था। इस समय तक भारतीय समाज मे सकीर्णता घर कर चुकी थी। हमारे रूढिबद्ध समाज मे अशमात्र भी नमनीयता नही बची थी। धर्म केवल बाह्याचारो और कर्मकाण्ड के जम्बाल जाल मे उलझ कर रह गया था। इसकी प्रतिक्रिया मे भागवत धर्म से अनुप्राणित हो, देश मे भक्ति की लहर चल पडी। भक्तों, सन्तो और सूफी–साधको ने बाहरी कर्मकाड के स्थान पर आन्तरिक भाव प्रवणता को महत्व दिया। विक्रम की प्रायः दूसरी शताब्दी से लेकर उसकी चौदहवी शताब्दी तक के इस लम्बे युग मे भक्ति ने अनेक रूप यथा प्रेममयी भक्ति, तन्त्रोपचारमयी भक्ति, ज्ञानमूलक भक्ति, रागात्मिका भक्ति आदि ग्रहण किये।[1] अनेक मुसलमान और हिन्दू सन्तो ने जात-पात कर्मकाण्ड, बाह्यानुष्ठान आदि भेद मूलक बातो का विरोध किया और समाज मे भाईचारा स्थापित करना चाहा। सूफी–सन्तो ने अपने ढग से भारतीय आख्यानो को कहा। इस युग के मुसलमान कवि भारतीयता मे ओत-प्रोत थे। 'सदेश-रासक' के रचयिता मुसलमान कवि अब्दुल रहमान की कविता मे जो भारतीय आत्मा बोल रही है, यह बनावटी बात नही थी। अब्दुल रहमान ने देवता का मगलाचरण करते वक्त अपने को मुसलमान भक्त साबित किया है।[2] इस्लाम की भारत मे प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अनेक हिन्दू और मुस्लिम संत परलोकवाद और मानव की सहज सहृदयता के बल पर सामाजिक रचना का उपदेश दे रहे थे।

सामाजिक अवस्था ·

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करने मे एक विशेष कठिनाई इसलिए उपस्थित होती है कि मध्यकाल मे और विशेपतया हर्ष के बाद आने वाले, प्रस्तुत विषय के विवेचन काल मे किसी एक केन्द्रीय सत्ता के न होने के कारण सभी प्रान्तों और प्रदेशो मे विभिन्न रूप मे सामाजिक तथा आर्थिक विकास हो रहा था[3] अत. हमारे अध्ययन मे यह अधिक वैज्ञानिक होगा कि हम मध्यकालीन भारतीय समाज-व्यवस्था पर समग्रता से विचार कर सके। इसी कारण से प्रस्तुत विवेचन सामान्य अवस्था को लेकर चल रहा है।

आर्थिक दृष्टि से ग्राम भारतीय समाज-व्यवस्था की धुरी रहा है। खेती हमारा प्रमुख उद्योग था और है। सामन्तो मे परस्पर सघर्ष होते रहते थे किन्तु उनसे किसान को अधिक हानि नही उठानी पडती थी। मेगस्थनीज कहता है कि युद्ध काल मे भी कृषि कार्य चलता रहता था। वह लिखता है कि दोनो पक्ष एक दूसरे के सहार मे लीन रहते हैं परन्तु किसानो को कोई हानि नही पहुचाता।[4] हर्ष

---

१ परशुराम चतुर्वेदी . उत्तरी भारत की परम्परा, पृ० ९३

२ राहुल साकृत्यायन . हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४२

३ धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य, पृ० ८६

४ अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० २१९

के काल में भी किसान परेशानी से मुक्त था।[1] तत्कालीन सरकारें किसान व खेती के विकास के लिये सिंचाई साधनो का निर्माण और मरम्मत किया करती थी।[1] किसान के साथ गाव स्वशासन मे स्वतन्त्र थे। ये ग्राम देश के सारे प्रबन्ध, राजनीति, व्यवसाय और संस्कृति की इकाइयो से पृथक् थे। ग्राम जनतन्त्र अपने मे सर्वथा स्वतत्र सत्ता होते थे, जिस पर राजशक्ति का कुछ वश नही चल पाता था।[2]

आलोच्य युग मे भारतीय समाज-व्यवस्था का आधार वर्ण-व्यवस्था बिगड़ चली थी। प्रत्येक वर्ण जातियो और उपजातियो मे विभक्त हो चला था। छोटे छोटे कारणो मे यह भेद भाव बढता ही जा रहा था। विभिन्न वर्णों मे जीविकाओ का विपर्यय प्रचलित हो गया था। मनुस्मृति मे कहा गया है[4] कि श्राद्ध मे ऐसे ब्राह्मणो को न बुलाये जो कितव, मास विक्रयी, पशुपाल और तैलिक हो। इसी प्रकार कुसीद जीवी, पशुपालक, सोम विक्रेता, तैलकार, धनुप-बाण-निर्माता, पक्षी-पालन से जीवन निर्वाह करने वाला ब्राह्मण भी श्राद्ध-भोजन मे निषिद्ध ठहराया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणो का बहुत बडा भाग शुद्ध कर्मकाड और स्मृति-प्रतिपादित पौरोहित्य छोड़कर कृषि व अन्य व्यवसाय अपना चुका था। कृषि-कर्म आरम्भ मे वैश्यो का ही कार्य था, किन्तु बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण अनेक वैश्यो ने उसे अपावन समझ त्याग दिया और अनेक शूद्रो ने उसे ग्रहीत कर लिया। ब्राह्मणो व क्षत्रियो के लिये भी कृषि का विधान किया जाने लगा।[4] इसी प्रकार क्षत्रिय भी शस्त्र के साथ शास्त्र का भी अभ्यास करने लगा। अनेक शासक भोज, गोविन्दचन्द्र, बल्लालसेन, लक्ष्मणसेन, विग्रहराज (चतुर्थ) राजेन्द्र चोल आदि अपने पाडित्य के लिए प्रख्यात हैं।

जातियो की सापेक्ष स्थिति की दृष्टि से अगर हम देखें तो स्थूल तौर पर अपभ्रन्श काल मे हमारे समाज-गठन मे बहुत सी नई जातियों का समावेश हुआ है, बहुत सी जातियो के स्तर बदले हैं और बहुत सी पुरानी जातियो का परिवर्तित समावेश हुआ है।[5] आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि उस समय जाति व्यवस्था इतनी रूढ नही थी। बहुत सी जातियो का पद उठता गिरता रहता था। 'बहुत सी नीची जातिया ब्राह्मण बन गई थी। इन जातियो मे बहुत से कृषक भी थे।[7] बहुत सी

१ अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति पृ० २१९

२ सरकार · पोलिटिक्स इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थ्यौरीज़ आफ हिंदूज, पृ० १०३-४

३ मार्क्स एण्ड एंगेल्स आन इंडिया, पृ० ७५-७६

४ मनुस्मृति, अध्याय ३, १ श्लोक, १५१-५२

५ वैद्य . हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इंडिया भा० २, पृ० १८३

६ धर्मवीर भारती . सिद्ध साहित्य, पृ० ८९-९०

७ क्षितिमोहन सेन . भारत मे जाति भेद, पृ० ४१

जतिया अपने को ब्राह्मण मानती थी, पर अन्य ब्राह्मण अपने से उन्हे हेय समझते रहे। इसी प्रकार अनेक शूद्र जातिया अपने को क्षत्रिय और क्षत्रिय जातिया अपनेको वैश्य बनाने के लिए यत्न करती रही।" ऐसे ही ब्राह्मण और अन्य जातिया शायद बादमे चलकर तान्त्रिक और अवैदिक साधनाओ तथा अनुष्ठानो को प्रोत्साहन और सरक्षण देती रही होगी।

समाज मे बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी। वातावरण सामन्ती था। खान-पान मे छुआछूत, धर्म के क्षेत्र मे कर्मकाड और ऊपरी आडम्बर बढ चला था। सामाजिकता बहिर्मुखी थी।

अपभ्रंश साहित्य की रूपरेखा

हम पहले देख चुके है कि छठी शताब्दी मे अपभ्रश-काव्य सस्कृत व प्राकृत काव्य की बराबरी मे आ बैठा था।[२] यद्यपि अभीतक हमे इस कालकी कोई रचना उपलब्ध नही हो पाई है। हमे आठवी शती की अनेक रचनाएँ अपभ्रश मे मिली है, जिनकी काव्यगत और भाषागत प्रौढता चिन्त्य है। अपभ्रश मे साहित्य निर्माण सोलहवी शताब्दी तक होता रहा, किन्तु इसका उत्कर्षकाल आठवी से तेरहवी शती तक ही माना जाता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के उदय के साथ अपभ्रश मुख्यरूप से जैन धर्म की भाषा होकर रह गई और उसमे साहित्यरचना उत्तरोत्तर कम होने लगी।[३] श्वेताम्बर सप्रदाय के जैन १३वी, १४वी शताब्दी के पश्चात् अपभ्रश मे रचना करना छोडकर तत्कालीन लोकभाषाओ मे रचना करने लगे, दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन विद्वानो ने १६वी शताब्दी तक भी अपभ्रश भाषा को अपनाये रखा।[४] रध्धू आदि जैन कवियो के काव्य ग्रथ इसके प्रमाण है।

अध्ययनकी सुविधा के लिये अपभ्रश साहित्य को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। विभिन्न प्रदेशो मे उपलब्ध अपभ्रश साहित्य के आधार पर इसका प्रादेशिक-विभाजन किया जा सकता है—यथा

१ पश्चिमी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य

इसमे स्वयभू, योगीन्दु, धनपाल, हेमचन्द्र, अब्दुलरहमान, रामसिह आदि कवियो की कृतियो को गिना जा सकता है।

२. महाराष्ट्र प्रदेश का अपभ्रश साहित्य

---

१. क्षितिमोहन सेन : सस्कृति-सगम, पृष्ठ ३१-६१।
२. डा० हीरालाल जैन 'अपभ्रश भाषा और साहित्य'—नागरी प्र० पत्रिका वर्ष ५०, अंक ३-४, पृ० १०६
३ डा० शभूनाथसिंह . हिन्दी महाकाव्य का स्वरूपविकास—पृ० १७२
४. अगरचद नाहटा—वीर गाथाकालका जैन भाषा साहित्य—ना० प्र० प०, वर्ष५०, अक १—२ पृ० १०

इनमें पुष्पदन्त, मुनिकनकामर आदि कवियों की रचनायें गृहीत की जा सकती है।

३. पूर्वी प्रान्तो का अपभ्रंश साहित्य

इसमें सिद्धों की कविता और विद्यापति की कीर्तिलता को गिना जा सकता है।

४. उत्तरी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य

इसमें नाथपंथियों के अपभ्रंश पदों की परिगणना की जा सकती है।

धर्म व सम्प्रदाय की दृष्टि से भी अपभ्रंश साहित्य का विभाजन व वर्गीकरण किया जा सकता है। अपभ्रंश साहित्य के निर्माण व संरक्षण मे जैन धर्म का बड़ा भारी हाथ रहा है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। इसी तथ्य को निगाह मे रखते हुए अपभ्रंश साहित्य के दो विभाग किये जा सकते हैं।

क—जैन अपभ्रंश साहित्य
ख—जैनेतर अपभ्रंश साहित्य

जैन अपभ्रंश साहित्य

जैन अपभ्रंश साहित्य को समग्रत तीन उपविभागों में बाटा जा सकता है। १—सिद्धान्त साहित्य २—पुराण चरितादि साहित्य ३—कथा साहित्य।

१. सिद्धान्त साहित्य के अन्तर्गत उस समग्र साहित्य को ग्रहण किया जा सकता है जो धार्मिक सिद्धान्त, सम्प्रदाय विशेष की मान्यतायें, कर्मकाण्ड और श्रावकों के लिये आदर्श उपासना पद्धति आदि बातो को लेकर चलता हो। योगीन्दुका 'परमप्पयासु' (परमात्म प्रकाश) व 'योगसार' रामसिंह का 'पाहुडदोहा', देवसेन कृत 'सावयधम्मदोहा' जैसे ग्रंथ भी इस विभाग मे स्वीकृत किये जा सकते है।

२. पुराण—चरितादि साहित्य के अंतर्गत तीर्थंकरों, चक्रवर्तियो, बलदेवों, वासुदेवों, प्रतिवासुदेवों आदि त्रिषष्ठि शलाका पुरुषो के जन्म जन्मान्तर की जीवन गाथाओं को आधार बनाकर रचा गया समस्त साहित्य आ जाता है। भारतीय साहित्य मे एक युग ऐसा भी ज्ञात पड़ता है कि जब कि प्रत्येक धर्म के आचार्यों ने बहुत से [illegible] पुराण साहित्य की रचना की है। विद्वानों का अनुमान है कि [illegible] शास्त्र और आगमों की विचारधारा को लोकप्रिय तथा बोधगम्य रूप मे प्रस्तुत करने के लिए पुराण साहित्य का आविर्भाव हुआ। कहीं कहीं इन ब्राह्मण, बौद्ध और जैन पुराणो मे एक ही कथा एक से ही महापुरुषों की जीवन-गाथा मिलती है, किन्तु उनमें अपने-अपने धार्मिक आग्रहों से इन गाथाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर दिया गया है।[1] इन्हीं धार्मिक प्रयोगों के फलस्वरूप रामकथा और कृष्णकथा के कई रूपान्तर प्रचलित हो गये। अस्तु। जैनों के पुराण साहित्य मे पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' (तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार), स्वयम्भू कृत 'पउम-चरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ' तथा कनकामर कृत 'करकंडुचरिउ' का अन्तर्भाव होगा।

१. नामवरसिंह . हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—पृ० १८४

३. कथा काव्य के अन्तर्गत हमे वह सारा साहित्य मानना होगा जो चाहे धार्मिक अथवा लौकिक प्रेरणा के फलस्वरूप रचा गया हो और काल्पनिक कथाओ अथवा लोकप्रचलित कथानको को लेकर लिखा गया है। धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' एक ऐसी ही रचना है । श्रीचन्द्र कवि रचित 'कथाकोष' ऐसा दूसरा उदाहरण है।

जैनेतर अपभ्रश साहित्य

जैनेतर अपभ्र श साहित्य के भी दो विभाग किये जा सकते है–लौकिक और धार्मिक। जैनेतर लौकिक साहित्य मे अजैन लेखको द्वारा रचित समस्त कथा साहित्य, मुक्तक और फुटकर साहित्य ग्रहीत किया जा सकता है। प्रेम शृगार, वीर भावादि सवधी फुटकर पद्य व दोहे, अब्दुलरहमान कृत 'सदेशरासक', विद्यापति रचित 'कीर्ति-लता' आदि रचनायें ऐसी ही कृतिया है। इसी प्रकार जैनेतर धार्मिक साहित्य मे ब्राह्मण, सिद्ध, नाथ सभी पथियो द्वारा रचित साहित्य माना जायेगा । नाथो व सिद्धो के चर्यापद और दोहे इसमे गिने जा सकते हैं।

तीसरा वर्गीकरण ऐतिहासिक विकासकी दृष्टि से किया जा सकता है। प्रत्येक शती के साहित्य का अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है।

हमारे विषय की दृष्टि से ये तीनो प्रकार के वर्गीकरण अनुपयोगी हैं। प्रदेश की दृष्टि से किया गया विभाजन वैज्ञानिक नही कहा जा सकता । उसके दो कारण है। यदि एक प्रान्त का निवासी लेखक दूसरे प्रदेश मे जाकर रचना करता है, तो उसकी रचनाओ मे पहले प्रान्त की विशेषताएँ आवश्यक रूप से होगी, यद्यपि प्रस्तुत वर्गीकरण मे उसे हम दूसरे प्रदेशका कवि ही मानेंगे। दूसरी कठिनाई पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे अनेक रचयिताओ के प्रदेश के सवधमे विद्वानो मे मतभेद का होनाहै। उक्त दोनो कारणो से प्रस्तुत प्रवध मे यह वर्गीकरण स्वीकृत नही किया जा सकता।

दूसरे विभाजन का आधार धार्मिक है। इससे विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायो के सिद्धान्तो, मान्यताओ और विश्वासो के अध्ययन मे सुभीता हो सकता है परन्तु काव्य-रूपो के तुलनात्मक अध्यन के लिये इसकी अनुपयोगिता निर्विवाद है

तीसरा विभाजन ऐतिहासिक है। आजतक प्रकाश मे आये साहित्य को लेकर अपभ्रश साहित्य के विकास का ऐतिहासिक ढाचा खडा तो किया ही जा सकता है, किन्तु प्रामाणिक तिथिनिर्देशो के अभाव मे उसे सर्वमान्य स्वरूप नही दिया जा सकता। दूसरा इस प्रकार के अध्ययन व वर्गीकरण से हमे अपने अनुशीलन मे कोई सहायता नही मिल सकती। हमे डिंगल कविता के स्वरूप विकास का अध्ययन करना है तो उसके लिए अपभ्रश साहित्य का मनन भी काव्यरूपो के आधार पर ही करना होगा। साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा करने वाले के लिए समूचे अपभ्रश काव्य के प्रबन्ध व मुक्तक स्वरूपो का अध्ययन ही अधिक सगत, व्यवहारी व उपयोगी होगा इसलिये इसी चौथे प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर आगामी पृष्ठो मे अपभ्रश

साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। डिंगल काव्य-रूपो के विकास को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह पृष्ठ भूमि बडी उपयोगी सिद्ध होगी । इस शती के आरम्भ मे अपभ्रश साहित्य के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी सीमित थी। गुणे, राहुल, दलाल, मुनि जिनविजय, डा० हीरालाल जैन, पी० एल० वैद्य, नेमिनाथ उपाध्ये, भायाणी, नाथूराम प्रेमी, कोछड, बागची प्रभृति भारतीय विद्वानो व जेकोबी जैसे विदेशी सशोधको के प्रयत्नो से अपभ्रश साहित्य सम्बन्धी हमारी जानकारी बहुत कुछ बढी है फिर भी उसे पर्याप्त नही कहा जा सकता। अपभ्रश का विपुल साहित्य अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित है अत अपभ्रश साहित्य को लेकर जो भी विवेचना की जायेगी, वह अन्तिम नहीं हो सकती। अत यहा केवल प्रकाशित और ज्ञात किंतु अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रथो को आधार बनाकर प्रस्तुत विवरण दिया जा रहा है। साहित्यिक प्रवृत्तियो के विकास के अध्ययन की दृष्टि से इतना काफी होगा।

अपभ्रश महाकाव्य

दण्डी, भामह आदि आचार्यो ने महाकाव्य के जिन लक्षणो व स्वरूप की व्याख्या की है, उन्ही मान्यताओं के बलपर अपभ्रंश के महाकाव्यो को नही परखा जा सकता। सस्कृत मे पुराण, चरित व कथा के काव्य–रूपों मे आसानी से विभेद स्थापित किया जा सकता है, ऐसा अपभ्रश मे सम्भव नही है। अपभ्रंश मे चरित नाम से अनेक पुराण रचे गये हैं और पुराण नाम मे अनेक काव्यग्रथ। वस्तुत. पौराणिक काव्य और चरितकाव्यो मे नगण्य सा अन्तर है। स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रश के पौराणिक काव्यो और चरितकाव्यो मे बहुत अतर नही है। पौराणिक काव्यो मे विषयका विस्तार बहुत अधिक होने से सधियो की सख्या पचास से सवा सौ तक होती है, जब कि चरितकाव्यो मे विषय विस्तार मर्यादित होता है, जिसमे सधि-सख्या अधिक नही होती। शेष बातो-जैसे सन्धि, तक, कडवक, पक्तियुगल आदि दृष्टि से दोनो मे कोई भेद नही है।[1] अपभ्रश के पौराणिक काव्य ही चरित काव्य है और चरित काव्य ही पौराणिक काव्य है। दोनो की क्षेत्रीय सीमारेखा बहुत फीकी है। उदाहरणार्थ स्वयभूके 'रिठ्ठणेमि चरिउ' को 'हरिवश पुराण' भी कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि अपभ्रश के अधिकाशत पौराणिक ग्रथ काव्य-कृतियां ही हैं। अधिक से अधिक उन्हें पौराणिक शैली के प्रबन्धकाव्य अथवा महाकाव्य माना जा सकता है।

'कथा' कहलाने वाले अपभ्रश ग्रथ भी ऐसे ही है। धनपाल कृत 'भविसयत कहा' जैसे ग्रन्थ कथा से अधिक काव्यकृति है। चरित कथा और पुराण की तरह ही रासक, चर्चरी, फागु, लता, वेलि, रसायन, प्रकाश, कौमुदी, सकिर्तन, विलास, विजय-रूपक आदि नाम देकर भी इस काल मे प्रशस्ति-मूलक-प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी जैसे अपभ्रश मे 'भरत बाहुबलिरास,' 'स्थूलिभद्ररास,' 'सदेश-

---

१ भायाणी · पउमसिरिचरिउ–भूमिका पृ० १५

रासक', 'कीर्तिलता,' आदि ।[1] अत. केवल नाम के आधार पर ही काव्य रूप का निर्णय करना त्रुटिकर होगा।

जैसा कि हम अन्यत्र बता चुके है, अपभ्रंश मे प्रवन्ध काव्यो की बहुलता है। इन अपभ्रंश प्रबंधात्मक काव्यो का बहुत बडा भाग महाकाव्यो के रूप मे है। महाकाव्यो के अन्तर्गत प्राय समस्त पुराण काव्यो, और विशाल चरित काव्यो की परिगणना की जा सकती है। आकार और लघु वितुवस्न्यास की दृष्टि से अनेक प्रवन्धात्मक काव्य खण्ड काव्य माने जा सकते हैं। ये खण्ड काव्य भी तीन प्रकार के दीख पडते हैं (१) कल्पना प्रधान 'सदेश रासक' आदि (२) ऐतिहासिक जैसे 'कीर्तिलता' (३) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाए जैसे 'श्रुतिपचमी रास'। अपभ्रश के उपलब्ध महाकाव्यो मे प्राचीनतम स्वयभू के 'पउम चरिउ' और 'हरिवश पुराण' है। उसके वाद से १७ वी शताब्दी तक के ऐसे प्रमुख प्रवन्ध काव्यो की, जिन्हे परम्परागत परिभाषा के अनुसार महाकाव्य माना जा सकता है, सूची नीचे दी जा रही है।[2]

१	पउम चरिउ– (रामायण)	स्वयभू	९० सधिया	८-९ शताब्दी
२	रिठ्ठणेमि चरिउ– (हरिवश पुराण)	,,	११२ ,,	८-९ ,,
३	महापुराण— (त्रिषठ्ठिपुरिसगुणालकारु)	पुष्पदन्त	११२ ,,	१० ,,
४	भविसयत्त कहा–	धनपाल	२२ ,,	१० ,,
५	सुदसण चरिउ—	नयनन्दि	१२ ,,	१० ,,
६	हरिवंशपुराण–	धवल	१२२ ,,	१० ,,
७	जम्बूसामि चरिउ—	वीर कवि	११ ,,	११ ,,
८	पासुपुराणु—	पद्मकीर्ति	१८ ,,	११ ,,
९	पासचरित—	विवुध श्रीधर	१२ ,,	१२ ,,
१०	णेमिणाहचरिउ—	हरिभद्र सूरी		१२ ,,
११	विलासवईकहा—	सिद्धसेन	११ ,,	१२ ,,
१२	करकडु चरिउ—	कनकामर	११ ,,	१२ ,,
१३	पज्जुणकहा—	सिद्ध व सिंह	१५ ,,	१२ ,,
१४	जिणदत्त चरिउ—	कवि लक्ष्मण	९ ,,	१३ ,,
१५	पाडवपुराण–	यश'कीर्ति	११ ,,	१५ ,,
१६	चन्दप्पहचरिउ—	यश.कीर्ति	११ ,,	१५ ,,
१७	वाहुवलिचरिउ—	धनपाल	१८ ,,	१५ ,,
१८	सान्तिणाहचरिउ—	शुभकीर्ति	१९ ,,	१५ ,,

१ डा० शभूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७५

२ डा० शभूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १७६

१९	मेहेसरचरिउ—	रइधू	१४ ,,	१५ ,,
२०	पद्मपुराण—	रइधू	१४ ,,	१५ ,,
२१	सिरियालकहा—	रइधू	१० ,,	१५ ,,
२२	सम्भवणाहचरिउ—	तेजपाल	१० ,,	१५ ,,
२३	णायकुमारचरिउ—	माणिकराज	९ ,,	१६ ,,
२४	सान्तिणाहचरिउ—	महीन्दु	१३ ,,	१६ ,,
२५	वड्डमाण कव्वु—	जयमित्रहल्ल	११ ,,	१६ ,,

डा० शम्भूनाथ सिंह द्वारा दी गई प्रस्तुत सूची से मतभेद हो सकता है। डा० हरवंशलाल ने 'करकडुचरिउ' तथा 'जम्बूसामि चरिउ' को महाकाव्य न मानकर खण्ड काव्य माना है। हम इस समूची सूची को इसी रूप मे ग्रहण करने के पक्ष मे नही है। इसलिए हम प्रस्तुत सूची मे से केवल मुख्य और प्रतिनिधि रचनाओ पर ही विचार करेंगे। अपभ्रंश महाकाव्य निम्न कोटि के मिलते हैं।

(अ) पौराणिक शैली के महाकाव्य—यथा—'पउम चरिउ', 'रिट्ठनेमि चरिउ', 'महापुराण', 'हरिवंश पुराण' आदि।

(ब) रोमाचक शैली के महाकाव्य—यथा—'भविसयत कहा', 'सुदसण चरिउ', 'विलासवईकहा' आदि।

यहाँ हम इन दोनो कोटि के महाकाव्यों पर विचार करेंगे। 'पउम चरिउ' आद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंश महाकाव्यो मे सबसे अधिक पुराना और एक महत्व का महाकाव्य है। यह राम कथा का जैन सस्करण है। राम कथा भारतवर्ष की सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है और इस पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीनो मे ही यह कथा अपने अपने ढग से लिखी गई है और तीनो ही धर्म राम को अपना अपना महापुरुष मानते हैं।[1] अभी तक अधिकाश विद्वानो का मत यह है कि इस कथा को सबसे पहले वाल्मीकि मुनि ने लिखा था, और सस्कृत का सबसे पहला महाकाव्य वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि सभी पुराणो मे थोड़े थोडे हेरफेर के साथ सक्षेप मे लिपिबद्ध की गई है। इसके सिवाय आध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण आदि रामकथा को लेकर अनेक रामायण लिखे गये। जैन और बौद्ध आचार्यो ने अपने धार्मिक विश्वासो के अनुरूप इसी कथा को परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित एव सम्पादित किया। वृहत्तर सास्कृतिक भारत के जावा, सुमात्रा आदि देशो के साहित्य मे भी इसका अनेक रूपान्तरो के साथ विस्तार हुआ।[2] अपभ्रंश के आदि महाकाव्य 'पउमचरिउ' को भी रामकथा होने का श्रेय जाता है। 'पउमचरिउ' के रचयिता अपभ्रंश के प्रथम महाकवि हैं। राहुल जी की

---

१ नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ९१

२ विशेष विवरण के लिए – डा० कामिलबुल्के : रामकथा

दृष्टि मे तो वह भारत के एक दर्जन अमर कवियो मे से एक था।[1] स्वयंभू कृत 'पउम चरिउ' अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण रचना है। यह ग्रथ बारह हजार श्लोक प्रमाण मे है और इसमे सब मिलकर ९० सधिया हैं—विद्याधर काण्ड मे २०, अयोध्याकाण्ड मे २२, सुन्दरकाण्ड मे १४, युद्धकाण्ड मे २१ और उत्तरकाण्ड मे १३।[2] इनमे ८३ सधिया स्वयंभू की और शेष ७ उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयभू की है। ८३वीं सधि के अन्त की पुष्पिका मे भी यद्यपि त्रिभुवन स्वयंभू का नाम है, इसलिए स्वयभू देव की रची हुई ८२ ही सधिया होनी चाहिए, परन्तु ग्रथान्त मे त्रिभुवन ने अपनी रामकथा – कन्या को सप्तमहासर्गोगी या सात सर्गों वाली कहा है, इसलिए ८४ से ९० तक सात सन्धियां ही उनकी बनाई जान पडती हैं। सम्भव है ८३वी सन्धि का अपनी आगे की ८४वी सधि से ठीक सदर्भ बिठाने के लिए उसमे भी उन्हे कुछ कडवक जोड़ने पड़े हो और इसलिये उसकी पुष्पिका मे भी अपना नाम दे दिया हो।[3]

इस प्रकार से 'पउम चरिउ' को त्रिभुवन स्वयभू द्वारा पूरा किया गया। नाथूराम प्रेमी का निश्चित मत है कि स्वयभू का 'पउम चरिउ' उनकी रुचि और समझ के अनुसार सम्पूर्ण ही था। अधूरा नही था। पीछे उनके पुत्र त्रिभुवन ने अधूरे को पूरा नही किया है, बल्कि उसमे इजाफा किया है।[4] त्रिभुवन ने जो अश बढाये हैं, वे 'पउम चरिउ' की प्रधान कथा के लिये अनिवार्य और प्रासगिक नही है। डा० भायाणी प्रेमी जी के मत से असहमत जान पडते है।[5] हम प्रेमी जी की मान्यता का समर्थन करते हैं। उन्होने सप्रमाण इस प्रश्न को सुलझा दिया हैं।[6]

काव्य-शैली की दृष्टि से स्वयभू का प्रस्तुत महाकाव्य विशेष महत्व रखता है। परवर्ती डिंगल महाकाव्यो मे हमे जो विशेषताए दीख पडती हैं, उनकी परम्परा को पूर्वरूप समझने के लिए प्रस्तुत रचना का महत्व असदिग्ध है। डिंगल के प्रबंध-काव्यो मे जो काव्य-रूढिया और शैलीगत मोड आये है, उनमे से कुछ तो सस्कृत, प्राकृत से ग्रहण किये गये हैं किन्तु अधिकाश अपभ्रश परम्परा के द्वारा होकर आये हैं। काव्यारम्भ मे देवता की स्तुति, विषयवस्तु का निर्देश, अपनी असमर्थता और दीनता का निवेदन पूर्व-कवि प्रशसा, सज्जन-स्तुति और दुर्जन-निन्दा, प्रयुक्त छन्दो का

---

१ राहुल साकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ५०

२ 'पउम चरिउ' अतिम प्रशस्ति।
सिरि–विज्जाहार–कडे सधीओ हुति बीस परिमाण।
उज्झा कंडामि तहा बावीस गुणेह गणगाए।
चउदह सुन्दरकडे एक्काहिय बीस जुज्झकडे य।
उत्तरकडे तेरह सधीओ णवइ सव्वाउ॥

३ नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २००

४ वही : पृ० ३०४

५ डा० भायाणी पउमचरिउ, भूमिका, पृ० ४३-४४

६ नाथूराम प्रेमी . जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २०४

उल्लेख, देशवर्णन, नगर-वर्णन के साथ ही साथ राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति आदि का विशद वर्णन और कहीं कहीं विभिन्न वस्तुओं की नामावली और परिगणना, कथा कहने का प्रश्नोत्तरी तरीका आदि बातें ऐसी हैं, जो प्राय. संस्कृत के कुछ परवर्ती काव्यों तथा अपभ्रंश और प्राकृत के प्राय अधिकांश काव्यो मे समान रूप से पाई जाती है और डिंगल के प्रबन्ध काव्यों मे भी ये रूढियां इसी तरह अपना ली गई है। आगे चलकर इनके सम्बन्ध मे यथा स्थान विचार किया जायेगा।

अपने महाकाव्य का आरम्भ स्वयंभू ने बड़ी ही उदात्त भूमिका के साथ किया है। प्रारम्भ में गुरु-वन्दना है। इसके बाद कवि का आत्म-निवेदन है। परम्परागत तरीके से कवि ने पंडितो से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि दूसरा न होगा न तो मैं व्याकरण जानता हू और न वृत्ति-सूत्र की व्याख्या ही कर सकता हूं, न मैंने पाचों महाकाव्यो को सुना है और न पिंगल-प्रस्तार आदि छन्द लक्षण ही जानता हू। भामह दंडी के अलंकार-शास्त्र से भी अपरिचित हूं फिर भी मैं काव्य-रचना का व्यवसाय छोडने मे असमर्थ हूं।[1] फिर सज्जन दुर्जन स्मरण की परिपाटी का पालन किया गया है। जैन-राम-कथा की परम्परा का निर्वाह करते हुए कवि ने अपनी कृति रची है। फिर भी रसात्मकता और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कवि ने विभिन्न मर्मस्पर्शी भावो के चित्रण, प्राकृतिक दृश्यो और घटनाओ के वर्णन तथा वस्तु व्यापार के संश्लिष्ट और प्रासंगिक निरूपण में पर्याप्त मौलिकता और धार्मिक रूढियों से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है।[2] स्वयंभू के युद्ध वर्णन पढकर परवर्ती डिंगल कवियो की याद आ जाती है। कवि का भाषा पर अपरिमित अधिकार जान पडता है और फलस्वरूप वह परुष अथवा कोमल, धीमा अथवा गतिशील नादसौन्दर्य उत्पन्न करने में सफल हो जाता है। यहा यह नाद-सौन्दर्य प्रभावान्वितिका एक सबल अंग बनकर आता है, क्लिष्टता का कारण नहीं बनता। पावसराज ने ग्रीष्मराज पर हमला करना तय किया। मेघरूप काला, मतवाला विशालकाय हाथी सजाया गया। पावसराज उस पर सवार हुए, हाथ मे इन्द्रधनुष धारण किया। लडाई शुरू हो गई। पावसराज ने धनुष का आस्फालन किया, तडित् रूप मे टंकार ध्वनि प्रकट हुई, मेघ-गज-घटा को प्रेरित किया और जलधारा के रूप में सहसा बाण-वर्षा कर दी। युद्ध का भयंकर दृश्य ध्वनि और अर्थ दोनों मे साकार हो उठा है।

> धग-धग-धग-धगतु उद्धाइउ, हस-हस-हस-हसतु सपाइउ।
> जल-जल-जल-जलतु पचलंतउ, जालावलि फुलिंग मेल्लंतउ।
> धूमावलि धय दंडु उब्भेप्पिणु, वरवाउलिखग्गु कड्ढेप्पिणु।
> झड-झड-झड-झडतु पहरंतउ, तरुवर रिउ भड भज्जंतउ।
> मेह-महा-गयघड विहडंतउ, जं उण्हालउ दिट्ठु भिडंतउ।

---

१ देवेन्द्रकुमार : पउमचरिउ–पृ० ८–९

२ डा० भायाणी . पउमचरिउ–भूमिका–पृ० ४८–४९

घत्ता–घणु अप्फालिउ पाउसेण, तडि टकारं फार दरिसते ।
चोइवि जलहर हत्थि हड, णीर सरासणि मुक्क तुरते ।
[पउम चरिउ २८–२]

एक ही प्रकार के शब्दो की पुनरावृत्ति—शब्दो का अनुरणनात्मक प्रयोग चारण काव्यो की विशेषता रही है । 'पृथ्वीराजरासो' से लेकर 'वशभास्कर' जैसे मिश्रित काव्यो तथा डिंगल गीतो मे यह प्रवृत्ति बहुतायत से मिलती है । पुनरावृत्ति तो डिंगल गीतो की आधार शिला बन गई है । स्वयभू का युद्ध वर्णन पढते ही हमे चन्दबरदायी, सूर्य्यमल्ल, गणेशपुरी तथा अन्य राजस्थानी कवियो के युद्ध वर्णन याद आ जाते है । युद्ध मे धनुष की टकार, खड्गो की खनखनाहट, योद्धाओ की हुकार, शत्रुओ को देखकर वीर की ललकार, सभी कविता मे शब्दो की ध्वनि मे सुनी जा सकती है ।

हणहण-हणकार महारउद्दु । छणछण-छणतु गुणपिपछिसद्दु ।
करकरकरतु कोयंड पवरु । थरथरथरतु णारायणियरु ।
खणखणखणतु तिक्खग्ग खग्गु । हिलिहिलहिलतु हय चचलग्गु ।
गुलुगुलुगुलतु गयवर विसालु । 'हण हण' भणतु णरवर विसालु ।
[पउम चरिउ ६३–३]

कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास, यमक, तद्गुण, अनन्वय, अपन्हुति आदि अनेको अलकारो का सहजस्वाभाविक रूप से प्रयोग किया है । इसी प्रकार छदो की दृष्टि से कवि ने गन्धोदकधारा, द्विपदी, हेला द्विपदी, मजरी, शालमाजिका, आरणाल, जमेटिया, पद्धडिका, वदनक पाराणक, मदनावतार, विलासिनी, प्रमाणिका, समानिका, भुजग प्रयात आदि अनेक छदो का प्रयोग किया है ।[1]

स्वयभू का दूसरा महाकाव्य 'हरिवश पुराण' या' रिट्ठणेमिचरिउ' महाभारत के हरिवश का जैन रूपान्तर है । अपभ्रश मे इस विषय पर बहुत से काव्य लिखे गये हैं । दशवी शताब्दी के कवि धवलका 'हरिवश पुराण', पुष्पदन्त के 'महापुराण' के भीतर हरिवश की कथा और पन्द्रहवी , सोलहवी सदी के कवि पडित रइधू कृत 'हरिवश पुराण' या' रिठ्णेमचरिउ' उसके उदाहरण है । किन्तु 'महाभारत' और 'हरिवश' सम्बन्धी जैन काव्य ग्रन्थो मे स्वयभू का 'हरिवशपुराण' ही सर्वोत्कृष्ट है ।[2] यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है । भडारकर ओरिएटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट मे 'हरिवश पुराण' की जो प्रति सुरक्षित है , उसमे कुल ११२ सधिया हैं । अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वयभू ने केवल ९२ सधियो की ही रचना की थी, जिसमे १३ सधियो का यादवकाड, १९ सधियो का कुरुकाड और ६० सधियो का युद्धकाड है । इसके बाद उनके त्रिभुवन ने १७ सधिया और जोडी । शेष ६ सधिया

१ डा० भायाणी : पउमचरिउ, भूमिका, पृ० ७८
२ शम्भूनाथसिह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १८१

यश.कीर्ति की रचना मालूम होती है, जो पन्द्रहवी शताब्दी के आस पास हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ का प्रारम्भ 'पउमचरिउ' के ढग से ही देवस्तुति, पूर्व कवि प्रशसा, विनम्रता प्रदर्शन, विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता निवेदन आदि के बाद श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर रूप मे हुआ है। यह प्रश्नोत्तर तरीका चदवरदायी के पृथ्वीराज रासो मे भी है, जहा कविपत्नी कवि से पृथ्वीराज की कीर्ति को लेकर प्रश्न कर बैठती है। अगले अध्याय मे इसपर गहराई से विचार किया जायेगा।

कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवश पुराण को ही रखा है किन्तु कही-कही समयानुकूल परिवर्तन भी कर दिए हैं। उदाहरण के लिये द्रौपदी स्वयवर मे मत्स्यवेधकी प्रतिज्ञा के स्थान पर केवल धनुष चढाने का कवि ने उल्लेख किया है। इस परिवर्तन मे जैन धर्म की अहिंसा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[2]

कथा को देखते हुए यदि ग्रन्थ मे विवरण की अधिकता हो तो स्वाभाविक ही होगा, किन्तु कवि ने अपनी कृति को सरस बनाये रखा है; कही पाठक का मन ऊबता नही। युद्ध वर्णन का तरीका परवर्ती डिंगल काव्यो के तरीके से अद्भुत साम्य रखता है। वही ध्वनि प्रभाव, वैसी ही गत्यात्मक छद योजना और योद्धाओ की मुठभेड का वैसा ही सजीव चित्र देखिये—

भज्जत सभाउइ । जुज्झत सुहडाइ ।
णिग्गत अंताइ । भिज्जत गत्ताइं ।
लोटत चिंधाई । तुट्टत छत्ताइ ।

—हरिवंशपुराण ७-६।

रथ टूट रहे हैं, योद्धा युद्ध करते जा रहे है, प्रहार से आतें बाहर निकल पडती हैं, गात्र रुधिर मे भीग रहे हैं, ध्वजायें भग्न हो पृथ्वी पर लोट रही हैं और छत्र टूटते जा रहे हैं। वैसे कवि पर सस्कृत का, विशेषत: बाण का प्रभाव स्पष्ट है। उसने स्वय स्वीकार किया है कि बाण से उसने बडे-बडे समासो या शब्दाडबर वाली भाषा ली।[3]

महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालकार पुष्पदन्त द्वारा रचा हुआ महा काव्य है।[4] पुष्पदन्त मान्यखेद के भरत और उनके पुत्र नन्नके आश्रित कवि थे और इन्हे अपने कवित्व का बडा अभिमान था। इन्होने अपने को कव्व-पिसल्ल, अभिमान-मेरु, कविकुलतिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती-निलय आदि उपाधियो से

---

१ हेमचन्द्र मोदी · अपभ्रश पाठावली, टिप्पणी, पृ० २३-२५

२ डा० रामसिह तोमर · प्राकृत अपभ्रश साहित्य और इसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव। डा० कोछड द्वारा पृ० ६८ पर उद्धरित

३ हरिवश पुराण, १-२
'बाणेण समविक वणवणउ त अक्खर-डंबरु अप्पणउ'

४ श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित, माणिक्यचन्द्र जैन ग्रथमाला से तीन खण्डो मे स० १९९३, ९६ और ९८ मे प्रकाशित

विभूषित किया है[1]। विद्वानो द्वारा इनका समय ईसा की दसवी सदी माना गया है।[2] उनका व्यक्तित्व तेजस्वी और प्रगल्भ था। वे स्पष्टवक्ता थे और डिंगल के परवर्ती विसरकाव्य रचयिताओ की निडरता की याद दिलाते है। इस महाकाव्य के दो खड हैं— आदि पुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का चरित्र है और उत्तर-पुराण मे अवशेष तेईस तीर्थंकरो की जीवन-गाथाए है, जिनका एक दूसरे से कोई विशेप सबध नही।[3] साथ ही मे चक्रवर्तियो, वासुदेवो, प्रतिवासुदेवो व बलदेवो कुल ६३ महापुरुषो की कथाए दी गई हैं। यह विशालकाय ग्रथ अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। राम और कृष्ण कथाओ का जैनस्वरूप भी हमे यहाँ मिल जाता है। पुष्पदन्त के वीर योद्धा और वीर नारी के चित्र उत्तरकालीन राजपूत योद्धा और वीर भार्याके जान पडते हैं, वही रग, वही चटक, वही तेज, वही प्राणवत्ता! इस महाकाव्य मे अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग उसी अर्थ और सदर्भ मे डिंगल मे भी हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना का महत्व बढ जाता है स्वयभू मे जहाँ सारल्य है, वहाँ पुष्पदन्त मे अलकार-मोह। उदाहरण देखिये—

वहु कासु वि देइ ण दहिय तिलउ अहिलसइ वइरिरुहिरेण तिलउ।
वहु कासु धिवइ ण अक्खयाउ खलवइ करि मोत्तिय अक्खायाउ।

हरिवश-पुराण—५२-१३। ४-५

अर्थात् किसी युद्धान्मुख योद्धा की वधू उसे दधि तिलक नही लगाती वह उसे वैरी के रुधिर से तिलक लगाना चाहती है। किसी की वधू अपने पति को अक्षत का टीका नही लगाती, वह शत्रु के आहत हाथियो को गज–मुक्ताओ से अपने पति का टीका करती है।

इसी प्रकार आमने–सामने एक दूसरे से भिडने को तत्पर सेनाओ का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

चल चरण चार चालिय धराइ डोल्लाविय गिरि विवरतराइ।
ढलहलिय घुलिय विर विसहराइ भयतसिर रसिय घण वणयराइ।
झखझलिय दलिय सायर जलाइ जल जलिय काल कोवाणलाइ।
पय हय रय छइय णहतराइ अणलक्खिय हिमयर दिणयराइ।
करि वाहणाइ सपसाहणाइ हरि हरि गीवाहिव साहणाइ।
आयइ अण्णण्णहु समुहाइ असिदाढालइ ण जव मुहाइ।

—हरिवशपुराण–५२–१४।८–१३।

---

१ डा० हरिवश कोछड अपभ्र श साहित्य—पृ० ७३

२ नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास—पृ० ३२९

३ नेमिचन्द्र शास्त्री : हिन्दी जैन--साहित्य परिशीलन भाग १ —पृ० ४८

अन्यत्र हम इस दृष्टि से विशद तुलना करेंगे। वैसे कवि अपनी रचना मे महाभारत से प्रभावित जान पडता है। जिस तरह महाभारत अपने बारे में कहता है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'–अर्थात् जो यहाँ है, वही अन्यत्र भी है, जो यहाँ नही है, वह अन्यत्र भी नही मिलेगा। पुष्पदन्त एक कदम आगे बढ़कर कहते है—

अत्र प्राकृत लक्षणानि सकला नीति स्थितिच्छन्दसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णतिय:।
किं चान्यत्रदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्ध ययोरीदृशम्॥

—महापुराण--५९ वी सधि--प्रारभिक प्रशस्ति

अर्थात् इस रचना मे प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलकार, रस, तत्वार्थ-निर्णय सब कुछ आ गया है। यहाँ तक कि इस जैन-चरित में जो कुछ है, वह अन्यत्र नही मिलेगा।

इसी प्रकार पृथ्वीराजरासो मे घोषणा की गई है—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षट्भाषा पुराण च कुराण कथितं मया।

—पृथ्वीराजरासो–१–८३

इस परम्परा का विकास अद्भुत है।

धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' श्रुत-पचमी का महात्म्य प्रदर्शित करने के उद्देश्य से लिखा गया काव्य है। इसकी कथा लौकिक आधारो पर बढ़ती है। हमारी धार्मिक कथाओ मे लौकिक और अलौकिक का अद्भुत मिश्रण देख पड़ता है, वही इसमे भी है। अनेक अतिप्राकृत प्रसगो की अवतारणा प्रस्तुत काव्य में हुई है, जो इस रचना को लोकधर्मी बना देती है। सक्षेप मे कथानक यो है—

राजपुर मे धनपति नामक एक नगरसेठ रहता था। उसने उसी नगर के एक दूसरे वणिक हरिबल की कन्या कमलश्री से विवाह किया, जिससे कुछ दिनो बाद भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। न जाने पूर्वजन्म के किस कर्म के कारण धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने कमलश्री को पीहर भेजकर सरूपा नामक एक दूसरी लडकी से शादी कर ली। कुछ समय बाद सरूपा से बधुदत्त नामक पुत्र हुआ। बधुदत्त के सयाने होने पर उसके पिता ने उसे व्यापार के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी। बधुदत्त ने अनेक अन्य वणिक--पुत्रो के साथ कचन देश की यात्रा की। भाई को व्यापार के लिये जाते देखकर भविष्यदत्त ने भी साथ हो लेना चाहा। कमलश्री ने अपने पुत्र को बहुत मना किया कि बधुदत्त के साथ मत जाओ, लेकिन भविष्यदत्त ने बधुदत्त पर विश्वास करके यात्रा आरभ कर दी। यात्रा पर जाने से पहिले बधुदत्त की माता ने अपने बेटे से कहा कि अवसर पाकर तुम

भविष्यदत्त को समुद्र मे उठाकर फेक देना, दूसरी ओर कमलश्री ने अपने पुत्र भविष्यदत्त को नीति और सदाचार की बातें बताईं व उनके पालन का उपदेश दिया। यात्रा आरम्भ होने के कुछ अरसे बाद अचानक तूफान आ गया और इस सार्थकी नौकाए तिलक द्वीप से जा लगी। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त उपासना के हेतु पुष्पादि लाने कही चला गया तो बधुदत्त उसे उस द्वीप मे अकेला छोडकर चल पड़ा।

अकेला भविष्यदत्त इधर--उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी मे पहुचा जो जन-शून्य थी। वहाँ उसे एक सुन्दरी मिली और वही एक राक्षस भी आ टपका। उसने उन दोनो का विवाह करा दिया। बारह वर्ष तक उस नगरी मे सुख-पूर्वक जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त अन्त मे अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर चलने को प्रस्तुत हुआ। ज्यो ही वह समुद्र तट पर पहुँचा, उसने अपने सौतेले भाई बधुदत्त को देखा, जो अपने घर वापिस लौट रहा था। बधुदत्त ने अपने किए पर पश्चाताप प्रगट किया। चलने से पहले भविष्यदत्त ज्योही जिन--मन्दिर मे प्रणाम करने गया, बधुदत्त उसकी पत्नी सहित सारी धनराशि लेकर निकल गया। घर आकर बधुदत्त ने भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी भावी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की तिथि निश्चित कर ली। इधर भविष्यदत्त की मा श्रुत--पचमी का व्रत रखती है और भविष्यदत्त जिन-पूजा करता है। फलस्वरूप उसकी सहायता के लिए एक देव उपस्थित होता है। उस देव ने भविष्यदत्त को अपार धनराशि दी और सकुशल उसके घर पहुचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँचकर अपने भाई बधुदत्त की पोल खोल दी और राजा से न्याय की फरियाद की। राजा ने बधुदत्त को दड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापिस दिला दी। यही प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

दूसरे खड मे क्रमश. दो प्रकार की कहानियाँ है। पहली तो यह कि कुरुराज और तक्षशिला-नरेश मे लड़ाई हुई जिसमे भविष्यदत्त का काम महत्वपूर्ण रहा और उसीके पराक्रम से कुरुराज को विजय मिली। पुरस्कार-स्वरूप राजाने आधा राज्य और अपनी पुत्री भविष्यदत्त को दी। कहानी का अन्तिम मोड यह है कि उसमे भविष्यदत्त के विविध पूर्वजन्मो की अद्भुत कहानियाँ कही गई है और जिनके सुनने-पर वह अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य दे कर तपस्या को निकल पड़ा। कहानी के पहले खड मे लोक कथा का जो सहज रस है, वह अतिम खड के सोद्देश्य मोड से नष्ट हो जाता है। सभवत. इसीलिए धनपाल ने स्वय ही इस कथाके दो खड कर दिये हैं।[1]

जैसाकि अभी हमने देखा 'भविसयत कहा' एक लोककथा की सरसता लेकर चली। प्रसगानुकूल काव्यमयता भी इसमे है। देखिये युद्धमे घुडसवार योद्धाओ का हाल—

तो हरि खर खुरग्ग सघट्टि छाइउ रणु अतोरणे।
णं भडमच्छरग्गि सधुक्कण धूम तमधयारणे॥

—भविसयत कहा—पृ० १०२–३॥

१　नामवर सिंह : हिंदी के विकास मे अपभ्रश का योग—पृ० २३०–३१

अर्थात् घोडों के तीक्ष्ण खुराग्रो के सघर्षण से उद्भूत रजसे तोरण रहित युद्ध-भूमि आच्छन्न हो गई। वह रज मानो योद्धाओ की क्रोधाग्नि से उत्पन्न हुआ हो।

इस ग्रथ की भाषा मे बहुत से शब्द इस प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं, जो प्राचीन हिन्दी कविता मे यत्र-तत्र दिखाई दे जाते है।[1] इसी प्रकार मे कथा मे चित्रित पोयण-पुर के राजा का चरित्र भारतीय सामन्तवादी चरित्रो का ही प्रतीक है।

धवल कवि द्वारा १२२ सधियो एव १८ सहस्र श्लोक परिमाण मे रचित हरिवशपुराण अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति मुझे कारजा के ज्ञानभडार मे देखने को मिली, उसमे से मैने कुछ स्थलोका निर्देश उतार लिया है। उसी के आधारपर प्रस्तुत जानकारी दी जा रही है। वैसे प्रस्तुत ग्रथ मे कोई विशेष बात नही है। जैनो के हरिवश पुराण कथाओ की परम्परा मे ही इसे लिया जा सकता है। कथा का स्वरूप वही है जो स्वयभू तथा इतर जैन कवियो मे उपलब्ध है। हाँ युद्ध वर्णन बडे सजीव है। वे परवर्ती डिंगल-पिंगल वीर काव्यो की परम्परा की पूर्व लडी हैं, इसे आसानी से कहा जा सकता है। उदाहरण देखिए—

रहवउ रहहु गयहुगउ धाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्कु परायउ।
तुरउ तुरूग कुखग्ग विहत्थउ, असिववखरहु लग्गु भय चतउ।
वज्जहिं गहिर तूर हय हिंसहिं, गुलु गुलत गयवर बहु दीसहिं।
....हणुहणु मारु मारु पभणतिहिं।
दलिय धरत्ति रेणु णहि धायउ, लहु पिसलुद्धउ लुद्धउ आयउ।
फिक्कारउ करंति सिवदारुणु सुम्मइ मुहड भमति रुहिरारुणु।
भलहल मेल कुतसर भिण्णा, गय वर हय करवालहिं छिण्णा।
णर वर णाह पडिय दो खडिय, धर तक्खणि णकर कहि मडिया॥

विधहिं तडात्तडा, मुट्ठिहिं भडा भडा।
कुत घाय दारिया, खग्गहिं वियारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।
सग्ग हरय ढुक्कही, सीहणाह वुक्कहिं। ८९-१०

अर्थात् रथी रथकी ओर, गज गज की ओर दौडा। धानुष्क धानुष्क की ओर भागा। घोडा घोडे से, निश्शस्त्र निश्शस्त्र से, और असि निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। वाद्य जोर जोर मे बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे है और हाथी चिघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

—'मारो मारो' सैनिक चिल्ला रहे है? पददलित धूलि आकाश मे फैल रही है। शीघ्र रक्त लोलुप पिशाच घिर आते है। शृगाल भयकर शब्द कर रहे है। रक्तरजित योद्धा तस्तत घूम रहे हैं, शस्त्र भिन्न हो रहे है, हाथी और घोड़े तलवारो से छिन्न हो रहे हैं, राजा द्विधा विभक्त हो गिर रहे हैं।

१। डा० हरिवश कोछड. अपभ्रंश साहित्य—पृ० १०२
२। वही—पृ० १०६—१०७

योद्धा विद्धहो रहे है, भट मूर्छित हो रहे हैं, कोई भालो के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे है, जीवन की आशा को छोड कायर भाग रहे है ।

इस प्रकार हमने कुछ प्रमुख अपभ्र श के महाकाव्यो का अपने विषय की अनुरूपता के सधान मे अध्ययन किया । यहाँ जान बूझकर इन महाकाव्यो का शास्त्रीय अध्ययन नही किया गया है, क्योकि ऐसा करना, हमारे अध्ययन के लिए अनावश्यक ही नही, अनुचित भी होता । अत डिगल काव्योकी भूमिका की दृष्टि से इन काव्यो के वीररसात्मक अशो को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है ।

अपभ्र श खडकाव्य

अपभ्रंश खडकाव्यो का निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता है ।

१—शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे गये काव्य, जिनमे किसी धार्मिक या पौराणिक महा पुरुष के चरित का अकन किया गया है ।

२—धार्मिक दृष्टिकोण मे रहित ऐहिक भावना से युक्त काव्य, जिनमे किसी लौकिक घटना का वर्णन है ।

३—साम्प्रदायिक भावना विहीन ऐसे काव्य, जिनमे किसी राजा के चरित का वर्णन है ।

प्रथम प्रकार के उन काव्य ग्रथो का विवेचन ही यहाँ अभीष्ट है, जिनसे डिंगल काव्यरूपो को समझने मे सहायता मिले । इस दृष्टि से सबसे पहले पुष्पदन्त विरचित 'णायकुमार चरिउ' पर विचार किया जाय । यह कवि पुष्पदन्त द्वारा रचा हुआ ९ सधियो का एक खडकाव्य है जिसका उद्देश्य श्रुतपचमी व्रत का महात्म्य प्रदर्शित करना है । अनेक कथानक रुढियो, अलौकिक घटनाओ तथा इन्द्रजालादि के चमत्कारो से भरे इस कथाकाव्य मे इर्ष्या, कलह, शौर्य, स्नेह आदि दशाओ के सुन्दर चित्र है । कथा के नायक नागकुमार को कवि ने वीर रसका आश्रय दिखाया है । यह वीररस शृगार से परिपुष्ट है ।[1] नागकुमार के सौदर्य और शौर्य को देखकर मोहित हुई स्त्रियो की उद्विग्नता का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है ।—नागकुमार के शौर्यसे उद्भूत नारी हृदय के प्रेम की व्यजना कवि ने स्थान-स्थान पर की है । ऐसे स्थलोपर शृगार रस वीररस को समृद्ध करता है । प्रस्तुत कृतिको देखकर वीर और शृगार की उस सयुक्त धारा की परम्परा का परिचय मिलता है, जो परवर्ती डिगल रचनाओ व हिन्दी के अन्य वीर काव्यो मे प्रवाहित होती रही । नागकुमार मगध देशीय कनकपुर के राजा जयधर की दूसरी रानी पृथ्वीदेवी के पुत्र थे । जयधर की पहली रानी विशालनेत्रा थी और उससे उन्हे श्रीधर नाम का एक पुत्र भी हुआ था । राजा ने दूसरी शादी यों की कि उनके यहाँ एक दिन एक अद्भुत व्यापारी आया और उसने राजा को गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र दिया । चित्र राजा को इतना

१—हरिवश कोछड : अपभ्र श साहित्य—पृ० १३३

पसद आया कि उन्होंने उस राजकुमारी से शादी कर ली । बाद मे मालूम हुआ कि व्यापारी के वेश मे स्वय वासव ही आए थे ।

पृथ्वीदेवी रानी होकर आई तो लेकिन पहली रानी विशालनेत्रा के वैभव से उन्हे ईर्ष्या होने लगी । एक दिन जब विशालनेत्रा राजा के साथ उद्यान मे क्रीडा के लिए गई तो पृथ्वीदेवी जिन मदिर चली आई । यहाँ मुनि पिहिताश्रवने उन्हे धर्मोपदेश दिया और साथ ही पुत्रवती होने का आशीर्वाद भी । नागकुमार उस पुत्र का नाम इसलिए पडा कि पुत्र उत्पन्न होने के बाद राजा और रानी पुत्रको लेकर फिर मुनि के दर्शन के लिए गए । इधर राजा-रानी मुनिसे बात करते थे, उधर पुत्र कुएँमे गिर पडा । कुएँ मे एक नाग ने उस राजकुमार की रक्षा की और वहाँ से वह राजकुमार को नाग-लोक ले गया । वही उसका नाम नागकुमार हुआ और उसने एक नागकन्या से शादी भी की । कुछ दिन नागलोक मे रहने के बाद नागकुमार पृथ्वीपर आया । यहाँ उसने अपनी माँ की दुर्दशा देखी । राजा ने उसे दण्ड देकर उसके सभी आभूषण छीन लिए थे । नागकुमार अपनी माँ को आभूषण पहनाने के लिए जुआ खेलने गया और जीतकर बहुत से आभूषण ले भी आया । जब राजा ने यह सुना तो स्वय भी उसे जुआ खेलने के लिए बुलाया और अपने पुत्र से जुये मे सारा राज-पाट हार बैठा । नागकुमार ने केवल अपनी माँ के गहने लेकर बाकी सब कुछ पिता को लौटा दिया ।

नागकुमार के ऐसे ही प्रतापी कार्यों से सौतेले भाई श्रीधर को ईर्ष्या हुई । उसने नागकुमार की हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न हो सका । इसके विपरीत नागकुमार ने बिगडैल हाथी को ठीक करने जैसे जीवट के कार्यों से लेकर वशीवादन जैसे कलापूर्ण कार्यों मे भी उसके ऊपर विजय प्राप्त की । इस सिलसिले मे नागकुमार ने अनेक शादियाँ की लेकिन सभी रानियो मे उसे लक्ष्मीमती ही प्रिय थी । एक दिन उसने मुनि पिहिताश्रव से इसका कारण पूछा तो उन्होने बताया कि पूर्वजन्म मे दोनो ने 'श्रुतपञ्चमी' व्रत किया था । इसपर मुनि 'श्रुत-पञ्चमी व्रत' का विधान बताते हैं । नागकुमार बहुत दिनो तक सुखपूर्वक जीवन बिताने के बाद अत में तपस्या करने चले जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते है ।[1]

'जसहर चरिउ' कवि पुष्पदन्त द्वारा चार सधि में लिखा गया काव्य है । 'जसहर' या यशोधर की कथा जैन साहित्य मे बहुत प्रसिद्ध है । यह कथानक जैन सम्प्रदाय मे इतना प्रिय रहा है कि सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर लेखकोने इसे अपने अपने ढग से प्राकृत और सस्कृत मे लिखा हैं । कथा सक्षेप मे निम्न है ।

यौधेय-देशीय राजपुर नगर मे एक दिन कापालिकाचार्य भैरवानंद पधारे । उनकी महिमा सुनकर राजा ने उन्हे पास बुलाया और आकाशमे उडने की सिद्धि माँगी । भैरवानन्दने इस सिद्धि की प्रप्ति के लिये देवी की विधिवत् पूजा का विधान बताया । पूजा-विधिका मुख्य अग था नरयुग्मकी बलि । राजपुरुषो को तत्काल आज्ञा

१—नामवर सिंह हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—पृ० २२२-२३

हुई और वे नगर मे घूमते हुये दो वालक और बालिका क्षुल्लकों को पकड लाये। ये क्षुल्लक सुदत्त नामक तपस्वी के शिष्य थे। राजा के सामने जव ये क्षुल्लक लाये गये तो उनके मुखपर कुछ ऐसे सामुद्रिक चिन्ह दिखाई पडे कि राजाने उनके वध की आज्ञा देने की जगह उनका परिचय पूछा। क्षुल्लको ने अपने गुरु से जैसा सुना था, उसीके अनुसार उन्हे अपने पूर्व जन्म की सारी कहानी सुना दी। कथा प्रसग मे भेद खुला कि इनमे एक पूर्व जन्म का यशोधर है और दूसरी बालिका उसकी माँ हैं। विविध कर्मों के अनुसार ये कभी पशु योनि मे पैदा हुए और कभी नर योनि मे, कभी पति पत्नी के रूप मे, कभी भाई-बहिन के रूप मे और कभी माँ-बेटे के रूप मे। वर्तमान राजा और रानी भी उनके साथ पूर्व जन्मो मे अभिन्न रूप से जुडे हुए थे।

यह सब सुनकर राजा को बडा पश्चाताप हुआ और अतमे भैरवानन्दके साथ राजा-रानी क्षुल्लकोके गुरु सुदत्त के पास जाकर जैनधर्म मे दीक्षित हो गए।[1]

इसकी पूरी कथा बड़ी ही पेचीदी है—केला के पात-पात मे पात की तरह इसमे कहानी के भीतर कहानी है, नाना जन्मातरो की ऐसी पेचीदी कहानी अपभ्रश मे कोई नही है।[2]

'णायकुमार चरिउ' तथा 'जसहर चरिउ' मे भारतीय कथा साहित्यकी विविध विशेषताएँ दीख पड़ती है। अनेक स्थलो पर लोकविश्वास उभर उठे हैं। परवर्ती राजस्थानी वात साहित्य मे इन्ही के समान अलौकिक तत्वो की भरमार है, जो भारतीय कथा साहित्यकी अविच्छिन्न धाराकी द्योतक है।

नयनदी द्वारा रचित 'सुदसण चरिउ' अपभ्रंश की एक महत्वपूर्ण रचना है जो वारह सधियो मे लिखी गई है। चपापुरी मे ऋषभदास नामक एक श्रेष्ठीका एक गोपाल मित्र था। पञ्चनमस्कार के फलस्वरूप डूब मरने पर वह गोपाल अपने मित्र श्रष्ठी के यहाँ जन्मा। उसका नाम सुदर्शन रखा गया। सुदर्शन का विवाह वही के एक अन्य श्रेष्ठी सागरदत्त की पुत्री मनोरमा के साथ हुआ। विवाह के अवसरपर दी जानेवाली दावत और भोजन का वर्णन कवि ने जमकर किया है। परवर्ती हिन्दी-राजस्थानी रचनाओ मे इस प्रकार खाद्य पदार्थों की परिगणना करने और जमकर वर्णन करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। धाड़ीवाहन राजाकी रानी अभया सुदर्शन पर मुग्ध हो, अपनी एक पडिता सखी के द्वारा उसे बुलवा मगाती है। पर सुदर्शन अपने आदर्शसे नही डिगता। फलस्वरूप रानी झूठ मूठ शोर मचाकर सुदर्शन को गिरफ्तार करवा देती है। एक अतिमानव-देव आकर सुदर्शन की रक्षा करता है। राजा पराजित होता है। कवि फिर धार्मिक उद्देश्य से पचनमस्कार का महात्म्य प्रतिपादित करता है, और इस प्रकार काव्य का अन्त होता है।

नयनदी की भाषा और वर्णन शैली को देखने मे 'सुदसण चरिउ' निस्सन्देह

१—नामवरसिंह · हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग-पृ० २२५

२—नामवर सिंह: हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग-पृ० २२५

अपभ्रंश का एक उत्कृष्ट काव्य सिद्ध होता है। कवि ने तो इसे पूर्णरूप से दोष-रहित घोषित किया है।[1]

मुनि कनकामर द्वारा रचित 'करकंड चरिउ' १० संधियो मे रचा हुआ एक रोचक खंडकाव्य है। तीन चौथाई भाग मे करकडुकी मुख्य कथा है और शेष मे नौ आवान्तर कथाएँ हैं, जिन्हे राजा को नीति की शिक्षा देने के बहाने कहा गया है। चम्पा के शासक धाडीवाहन एक बार दोहद इच्छा पूरी करने अपनी पत्नी पद्मावती के साथ हाथीपर घूमने निकला। हाथी बिगड उठा। रानी ने राजा को अपने प्राण बचाने को राजी किया और स्वय हाथी पर ही बैठी रही। हाथी के जलाशय मे प्रवेश करने के बाद वह सकुशल उतर आती है। उसे पास के श्मशान में एक पुत्र होता है, जिसे एक विद्याधर ले जाता है। बच्चे के हाथपर कडु अर्थात् खुजली होने के कारण वह करकडु कहलाया। यही पुत्र विद्याधर द्वारा पोषित होकर दन्तिपुरका कालान्तर मे राजा बना। चम्पानरेश ने करकडु को अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। फलस्वरूप करकडु और उसके पिता चम्पानरेश मे युद्ध हुआ। रानी पद्मावती ने दोनो का परस्पर संबंध बताकर शान्ति स्थापित कर दी। पिता पुत्र को राज्य दे वन मे तपस्या के लिए चले गये।

इसके बाद दिग्विजय की कामना से करकडु चेर, चोल, पाड्यनरेशो पर आक्रमण करता है और सफलता पाता है। फिर अनेक अलौकिक घटनाओ के वात्याचक्रमे उलझा, सकट उठाता, किन्तु अन्त मे सिद्धि पाता वह अपनी राजधानी आ पहुँचता है। नगर मे एक बार शीलगुप्त नामक मुनि आते हैं। वे राजा को प्रबोध देते हैं, फलस्वरूप करकडु अपना राज्य अपने पुत्र को देकर सन्यासी हो जाता है। प्रस्तुत कृति के युद्धवर्णन अनुरणनात्मक शब्दो के सचयन से अत्यधिक प्रभाव-मय हो गये हैं।

धाहिल कवि विरचित 'पउमसिरी चरित' चार संधियों का खंड काव्य है। यह काव्य धार्मिक आवरण से आवृत एक सुन्दर ेम कथा है। पद्मश्री कथा की नायिका है। वह न तो ऐतिहासिक पात्र है और न पौराणिक ही। कवि ने पूर्व जन्म की कथाओ का वर्णन कर बताना चाहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी करनी के अनुसार फल पाता है और प्रयत्न करने पर अपने सद्कार्यों और पुण्यमय जीवन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कविकी सहृदयता ने काव्य को सरल बना दिया है। पद्मश्री का वियोग वर्णन राजस्थानी लोकगीतो की विरहिनी नारीकी याद दिला देता है। वही सरसता है, सादगी है और जीवन है। डिंगल के लिए प्रस्तुत कृतिका विशेष महत्व नही। बारहवी शती मे ही रास या रासक नामक काव्य विधाका भी उदय दिखाई देता है। इसका प्रथमस्वरूप हमे शालिभद्रसूरि (वि० १२४१) के भरत बाहुबलिरास मे मिलता है। रास काव्यों में अगले अध्याय मे विस्तार मे विचार किया जायेगा। भरतबाहुबलि रास वीर रसका काव्य है जिसमें भरत तथा बाहुबलि के परस्पर युद्ध का वर्णन है।

१—डा० हरिवंश कोछड : अपभ्रंश साहित्य–पृ० १७३

इस काव्य मे हमे उस रूढ युद्ध-वर्णन-शैली का रूप मिलता है जो वाद के वीरगाथा-काव्यो की विशेषता वन गई है ।[1]

चल चमाल करिमाल कुल कडतल कोदड ।उ।
झलकई सावल सवल-सेलहल मसल पमड ।उ।
सिंगिणि गुण टकार सहित बाणावलि ताणइ
परधु उलालइ करि घरहं पाता उलाइ ॥

इसकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्र श से आगे की स्थिति की जान पड़ती है क्योकि इसमे नव्यभाषाओ का स्वरूप जगह जगह झाँक उठा है ।

अपभ्रंश के दूसरी कोटि के खडकाव्यो मे 'सन्देशरासक' एक मात्र उल्लेखनीय रचना है । अद्दहमाण का 'सदेशरासक' अनेक दृष्टियो से महत्व का स्थान रखता है । इस काव्य का रचयिता जाति से मुसलमान होते हुए भी सस्कृत तथा प्राकृत काव्य-परपराका पूरा जानकार दिखाई पडता है । परम्परागत काव्यरूढियो का जो प्रयोग सदेशरासक मे मिलता है, वह इसका प्रमाण है । सदेशरासक की भाषा यद्यपि पूर्णत: परिनिष्ठित अपभ्र श नही कही जा सकती, तथा यह उसकाल की रचना है, जव नव्य भाषाओ का उदय होने लगा था ।[2] तथापि सदेशरासक की भाषा मे नव्यभाषाओ का आदि रूप इतना स्पष्ट नही हुआ है । सदेशरासक की भाषा उस स्थिति का सकेत करती है जव उसमे आगे वढने की लालसा तो है, पर रह रह कर पुरातन का प्रेम उसे पीछे खीचे लिए जा रहा है ।[3]

सदेशरासक एक सदेशकाव्य है । कथासूत्र इतना ही है कि विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रिय के वियोग मे रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए बटोही को देखती है और दौडकर उसे रोकती है । पथिक को रोककर उससे पूछती है कि कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे ? पथिक वतलाता है कि मैं सामोर से आ रहा हूँ और स्तभतीर्थ को जा रहा हूँ । स्तभतीर्थ का नाम सुनते ही नायिका भाव-विह्वल हो उठती है और पथिक से कहती है कि मेरा प्रिय अर्थ प्राप्ति के लिए खभात गया है, कृपाकरके मेरा सदेश उसे दे देना । इस तरह वह थम-थम कर धीरे धीरे अपनी विरह-व्यथा कहती जाती है । पथिक जाने की जल्दी मचाता है फिर भी नायिका के रुदन से प्रभावित हो रुक जाता है । वह पूछता है—तुम्हारा पति किस ऋतुमे तुमसे अलग हुआ ? यह प्रश्न नायिका मे अतीत स्मृति जगा देता है । उसे याद आता है कि तव ग्रीष्म था जब उसका पति उसे छोडकर गया था । सालभर पूरा हो गया । इसके सदर्भ मे छहो ऋतुओ मे विरहिन की क्या अवस्था रही, इसका व्यौरा दिया

१—भोलाशकर व्यास : हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास-खड १—पृ० ३४३

२—मुनिजिनविजय: सदेशरासक—भूमिका—पृ० १३

३ भोलाशकर व्यास. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास-खड-१, पृ४ ३५६

है। काव्य का तीसरा प्रकम इसी षड्ऋतु वर्णन के हेतु रचा गया है ऐसा जान पड़ता है। पथिक को संदेश देकर नायिका ज्यो ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा मे उसका प्रिय उसे आते दीख जाता है।

'रासक' अथवा 'रास' नाम से लिखे हुए काव्यग्रंथ अपभ्रंश में तथा उसके बाद पुरानी राजस्थानी और हिन्दी मे भी मिलते है लेकिन विषय को देखते 'संदेश-रासक' उन सबसे भिन्न है। उससे मिलता जुलता केवल एक रास काव्य राजस्थानी मे है—'वीसलदेरास' [1]। अन्यथा अन्य रासकाव्य एक तरह से 'चरितकाव्य' है जिनमे किसी राजा के युद्ध और विवाह की कहानी वर्णित दिखाई पड़ती है।

संदेश रासक के अनेक स्थल भावसौंदर्य, चिन्ताधारा, अभिव्यंजना की तीव्रता और ताजगी की दृष्टि से चिन्त्य हैं। उसकी जैसी ही उक्तियाँ और भावनाएँ हमे डिंगल व पिंगल की अनेक परवर्ती रचनाओ मे व्यक्त दीख पड़ती है।

तीसरे प्रकार की रचनाओ मे विद्यापति रचित कीर्तिलता महत्वपूर्ण रचना है। यह एक ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमे कवि ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह के यशका गान किया है। अपभ्रंश मे इस प्रकार की यही एकमात्र उपलब्ध रचना है। इस प्रकार के अनेक काव्य भी रचे गये होंगे, किन्तु वे या तो संरक्षण के अभाव मे लुप्त हो गये होंगे अथवा अभी भी अज्ञात होंगे। चरित काव्य होते हुए भी कीर्तिलता एक दृष्टि से तथाकथित अन्य ऐतिहासिक काव्यो से भिन्न है। इसमे ऐतिहासिक तथ्यों या घटनाओं को विकृत नही किया गया है। इसलिए चरितकाव्य होते हुए भी कीर्तिलता मे के कथानक रूढियाँ बहुत कम पाई जाती हैं, जो तत्कालीन और बाद के चरितकाव्यो मे भरी पड़ी है। 'कीर्तिलता' चार पल्लवो मे विभाजित है। रासो मे कवि और कवि की पत्नी के संवाद से कथा का आरम्भ होता है और बीच बीच मे शुक और शुकी पूछते रहते हैं। कीर्तिलतामे भृंग और भृंगी के प्रश्नोत्तरके रूप में कथा चलती है। इस साम्य की ओर हजारीप्रसादजी ने हमारा ध्यान खीचा है।[2] कीर्तिलता की वस्तु बडी संक्षिप्त है। मलिक असलान नामक मुसलमान सामन्त ने काव्य के नायक के पिता का वध कर तिरहुतपर अधिकार जमा लिया। कीर्तिसिंह तथा वीरसिंह असलान को दंड देनेके लिए जौनपुर के बादशाह इब्राहिमशाह के पास गये। द्वितीय पल्लव मे जौनपुर की समृद्धि, बाजार, लोगो के रहन सहन का चित्रण है। तृतीय पल्लव मे दोनो भाई बादशाह के पास पहुँचते हैं। बादशाह प्रसन्न होकर असलान को दंड देने के लिए एक सेना दोनो भाइयो के साथ कर देते हैं। चतुर्थ पल्लवमे सेना प्रयाणका वर्णन है। बादशाह की फौज की सहायता से युद्ध मे कीर्तिसिंह विजय पाता है और असलानको मार पिता के वध का बदला चुका लेता है।

कीर्तिलता की भाषा मे अनेक विदेशी शब्द है—जिनका कवि ने अपने तरीके से प्रयोग किया है। उत्तरकालीन डिंगल रचनाओ मे भी यह प्रवृत्ति काफी दीख पड़ती

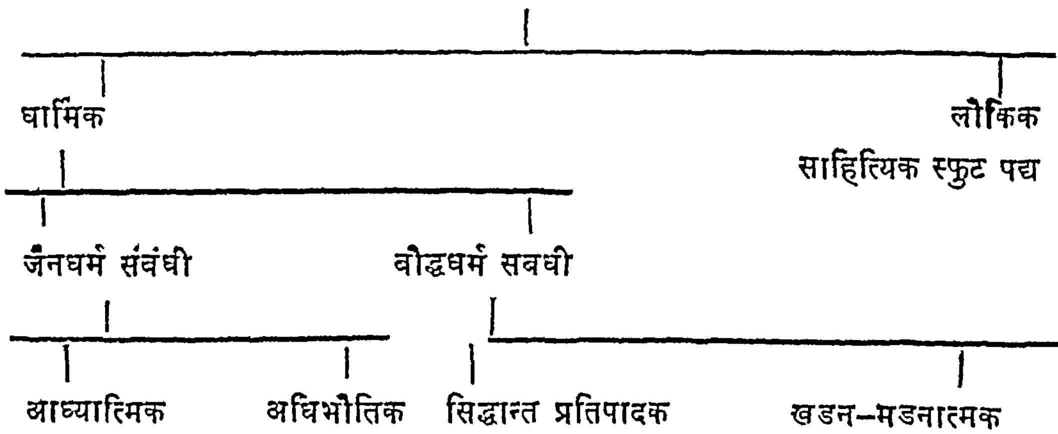
१—नामवरसिंह · हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—पृ० २५२

२—हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ६१–६२

है। इस प्रवृत्ति से झुंझलाकर मोतीलाल मैनारिया तो कह उठे हैं—एक बात जो डिंगल के सभी कवियो मे समान रूप से पाई जाती है वह है शब्दोकी मनमाने ढंग से तोड-मरोड़।[1] यही शिकायत डा० कोछड को भी विद्यापति से है। कैसी विचित्रता है।[2]

अपभ्रश मुक्तक काव्य :

अपभ्र श का मुक्तक काव्य दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है—। १। धार्मिक काव्य। २। लौकिक काव्य। धार्मिक काव्य के प्रेरणा स्रोत बौद्ध और जैन धर्म रहे हैं और लौकिक काव्य के उदाहरण विभिन्न व्याकरण ग्रथो, लक्षणग्रथो तथा इतर रचनाओं मे उद्धृत मिल जाते हैं। इनमे वीरता, प्रेम, शृगार आदि की भावनाओ को तीव्र अभिव्यजना मिली है। अपभ्र श की मुक्तक रचनाओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है।[3]



परवर्ती डिंगल काव्य पर अपभ्र श के धार्मिक काव्य का प्रभाव नगण्य सा है। हाँ, उसने हिन्दी-राजस्थानी के सतसाहित्य को अवश्य प्रभावित किया है। किन्तु चूकि वह प्रस्तुत प्रवधके क्षेत्र के अतर्गत नही आता अत हमने अपभ्रश के धार्मिक मुक्तक काव्य का विशद विवेचन अप्रासगिक समझ यहाँ नही किया है। मात्र सामान्य परिचय से ही हमने सतोष कर लिया है।

जैनो के धार्मिक मुक्तक काव्यो मे योगीन्दु का 'परमप्पयास' (परमात्म प्रकाश) व योगसार,[4] मुनि रार्मसिह कृत 'पाहुड दोहा',[5] देवसेन रचित, 'सावयधम्म दोहा'[6] जिनदत्तसूरिका 'उपदेश रसायन रास' आदि प्रमुख व उल्लेखनीय रचनायें है। बौद्ध:

१—मोतीलाल मेनारिया : डिंगल मे वीररस—पृ० २१

२—हरिवंश कोछड : अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६४

३—डा० हरिवंश कोछड अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६७

४—डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा सपादित व १९३७ ई० मे प्रकाशित

५—डा० हीरालाल जैन द्वारा सपादित—कारजा सीरिज्—सं० १९९० मे प्रकाशित

६—वही— ,, ,, ,, ,, ,, १९८९ ,,

सिद्धो की कविता के मुख्य विषय थे,—रहस्यमयी भाषा मे सिद्धान्त-प्रतिपादन, सहजमार्ग, गुरु की महत्ता, कायारूपी पुण्य-तीर्थ, वाह्याडम्बर का विरोध आदि।

सिद्धो के काल के सबध मे पर्याप्त मतभेद है । श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा सिद्धका समय वि० स० ६६० माना है। श्री राहुल साकृत्यायन इनका काल सन् ७६० ई० मानते हैं। इस प्रकार राहुलजी सिद्धो का काल ८०० ई० से १२०० ई० तक मानते हैं। डा० चाटुर्ज्या सिद्धो की भाषा को इसकाल के वादकी समझते हैं और भाषा के आधारपर सिद्धो का काल १००० ई० से० १२०० ई० के लगभग मानते हैं ।[1]

सिद्धों की सख्या चौरासी मानी गई है। राहुलजी ने चौरासी सिद्धोकी नामावली भी दी है।[2] सिद्ध वास्तव मे चौरासी ही थे या इस सख्या का कोई विशेष महत्व था, यह कहना कठिन है। इन चौरासी सिद्धोकी परम्परा मे अनेक सिद्ध समसामयिक है। अनेक सहज यानी सिद्धो के नाम नाथसिद्धो की सूची मे समानरूप से मिलते हैं।[3] सिद्धोके नाम के पीछे पाद शब्द सम्मान का द्योतक है । इसका विकृतरूप 'पा' है। इनकी सभी रचनाओ मे प्राय: मिलती जुलती बातें व्यक्त की गई हैं। अविद्या से मक्त होकर अपने ही अतर्गत रहनेवाले सहजानन्द को प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है।

सिद्धो के छदोमे विविधता नही है। 'चर्चागीत' मे गेय पद हैं। 'दोहाकोष' मे प्रधान छद दोहा है। कुछ सोरठे तथा अन्य छद भी है, परन्तु उनकी सख्या कम है। सिद्धो की भाषा को लेकर बडा भ्रम फैला है। विनयतोष भट्टाचार्य इनकी भाषा उडिया,[4] हरप्रसाद शास्त्री बँगला,[5] राहुलजी मगही[6] मानते है। किन्तु डा० बगची[7] और चटर्जी[8] सिद्धो की भाषाको निश्चित तौर पर अपभ्रश ही मानते हैं। वस्तुत: सिद्धो की भाषा के दो रूप है । एक तो पूर्वी अपभ्रश जिसमे पश्चिमी अपभ्रश के रूप भी मिल जाते है और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश ।

तत्रशास्त्र से सबधित महत्वपूर्ण अपभ्रश कृति 'डाकार्णव तत्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धातोका विवेचन है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वीप्रभावयुक्त अपभ्रश है। इसमे चौपाई आदि प्रमुख छद है। इसका रचनाकाल ग्यारहवी शतीके लगभग है।

१—चटर्जी आरिजिन ऐण्ड डेवलपमेन्ट आफ वेगाली लेग्वेज खड १–पृ० १२३

२—राहुल साकृत्यायन. पुरातत्व निवधावली मे इसीपर लेख—

३—हजारी प्रसाद: नाथ सप्रदाय–पृ० २७–३२

४—विनयतोष भट्टाचार्य. साधनमाला–गायकवाड सिरीज–पृ० ४३

५—हरप्रसाद शास्त्री: वौद्ध गान ओ दोहा–पृ० २४

६—राहुल साकृत्यायन गगापुरातत्वांक–पृ० २५४

७—प्रवोधचद्र वागची : ओरियटल जर्नल–भा० १–१९३३–३४–पृ० २५२

८—चटर्जी : ओरिजिन एंड डेवलपमेन्ट आफ वेंगाली लेग्वेज–ख० १–पृ० ११२

कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएँ अशतः अपभ्रश मे मिलती हैं। अभिनव गुप्त के 'तत्रसार' का इनमे प्रमुख स्थान है । इसमे शैवमत की व्याख्या है जिसके अनुसार व्यक्ति ही परम शिव है, किन्तु अशुद्धि के कारण वह अपने आपको नही देख पाता । यो तो यह ग्रथ सस्कृत मे है, किन्तु प्रत्येक अध्याय के अन्त मे प्राकृत–अपभ्रश मे पूरे अध्याय का सार दिया गया है । इसका रचनाकाल १०१४ई० के आसपास माना गया है । दूसरी महत्वपूर्ण कृति शितिकठाचार्य कृत 'महानय-प्रकाश' है जिसमे ६४ अपभ्रश पद्य है । इसका रचनाकाल १५ वी सदी ई० का उत्तरार्द्ध है। शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओ मे साहित्यिकता का अभाव है और अलावा नाथसम्प्रदाय के कुछ प्रभाव के जो जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह के समय अत्यधिक बढ गया था, डिंगल साहित्य पर इनका प्रभाव नगण्य सा है। यही कारण है कि हमने बौद्धो, सिद्धो, शैवो तथा जैनो के शुद्ध धार्मिक साहित्य पर विस्तृत विचार नही किया है । ऐसा करना हमारे लिए अनावश्यक होता।

अपभ्रश लौकिक अथवा ऐहितापरक मुक्तक काव्यपरपरा का जहाँ तक प्रश्न है, उसमे अत्यधिक साहित्यिक सौंदर्य है । ये मुक्तक पद्य सस्कृत-प्राकृत के ग्रथो मे इतस्तत. विकीर्ण मिलते है, जिन्हे अलकार व्याकरण और छन्दो के ग्रथो मे नियमो और उदाहरणो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।

ये साहित्यिक सुभाषित रूप मे प्राप्त मुक्तक पद्य हमे मुख्य रूप से निम्न लिखित ग्रथो मे मिलते हैं .—

१–कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक नाटक का चतुर्थ अक

२–हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का ८ वा अध्याय, छन्दानुशासन और प्राकृत द्वयाश्रय काव्य ।

३–सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' ।

४–मेरुतुगाचार्य कृत प्रबधचिन्तामणि ।

५–राजशेखर सूरि कृत प्रबन्ध कोश ।

६–प्राकृत पिंगल ।

७–पुरातन प्रबध सग्रह ।

इनके अतिरिक्त आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक, रुद्रट के काव्यालकार, भोज के सरस्वती कण्ठाभरण, धनजय के दशरूपक आदि अलकार ग्रन्थो मे भी कतिपय अपभ्रश पद्य मिलते हैं ।

इन पद्यो के विषय मे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि विविध ग्रन्थो मे प्राप्त इन अपभ्रंश पद्यो के काल के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता । जिन ग्रन्थो में ये पद्य उद्धृत किये गये मिलते हैं वे पद्य ग्रन्थकार के अपने भी हो सकते हैं और यह भी सभव है कि उनको ग्रन्थकार ने अपने से पूर्वकालीन किसी कवि के ग्रन्थ से उदाहरण रूप मे उद्धृत किया हो । कौन सा पद्य स्वय ग्रन्थकार का बनाया हुआ है और कौन सा उसने किसी दूसरे कवि का उदाहरण रूप से उद्धृत किया है, इसका ज्ञान सरल नही ।

ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व मे शक्ति का लास्य भी है।[1] जरा बानगी देखिये।[2] :—

सयोग शृंगार—'जिवँ जिवँ वकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ ।।'

हे० प्रा० व्या० ८–४–३४४

अर्थात् ज्यो ज्यो वह श्यामा लोचनो की वक्रता– कटाक्ष पात सीखती है, त्यो त्यो कामदेव अपने बाणो को कठोर पत्थर पर तेज करता है।

'पिय सगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
मइ मिन्नि वि विन्नासिआ निद् न एम्व न तेम्व ।।'

हे० प्रा० व्या० ८–४–४१८

अर्थात् नायिका कहती है–न तो प्रिय सगम मे निद्रा है और न प्रिय के परोक्ष होने पर। मेरी दोनो प्रकार की निद्रा विनष्ट हो गई, न इस प्रकार से नीद है न उस प्रकार से।

वियोग—'जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ।।'

हे० प्रा० व्या० ८-४-३३३।

अर्थात् प्रिय ने प्रवासार्थ जाते हुए जितने दिन बताये थे उन्हें गिनते गिनते नख से मेरी अगुलियाँ जीर्ण हो गई।

कौए के शब्द को सुनकर निराश हो कौए को उड़ाती हुई विरहिणी के नैराश्य भाव और प्रिय दर्शन से उत्पन्न आनन्दोल्लास का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पद्य मे मिलता है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति।

हे० प्रा० व्या० ८-४-३५२।

प्रवासी नायक गरजते मेघ को सबोधन करते कहता है—

'जइ ससणेही तो मुअइ अह जीवइ निन्नेह।
बिहि वि पयारेहिं गइअ घण कि गज्जहि खल मेह ।।

वही ८-४-३६७।

१—नामवरसिह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग–पृ० २४५

२—सूत्रो का निर्देश डा० पी० एल० वैद्य द्वारा सपादित हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अनुसार है।

नही है। इस भाषा विषमता के कारण कल्पना की गई है कि कुछ पद्य उनके अपने हैं और कुछ अन्य कवियो के, जो यथास्थान उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये गये है।

सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' मे कवि ने अपभ्रंश मे ऋतु वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त स्थल स्थल पर स्फुट पद्य भी मिलते है, जिनमे सुभाषित, प्रेम प्रसग, कथा सदर्भ, उपदेश आदि मिलते हैं। कुछ पद्यो मे समस्यापूर्ति का ढग भी दीख पड़ता है। यथावश्यकता आगे इनके उदाहरणो का अध्ययन किया जायेगा।

मेरुतुंगाचार्य रचित 'प्रबंध चिन्तामणि' में भी अनेक अपभ्रंश मुक्तक उपलब्ध हैं, जो काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि के है। पता नही ये दोहे मुंज के जीवन पर लिखे हुए किसी प्रबध काव्य के कुछ अवशिष्ट मणि है, अथवा मुक्तक रूप मे ही लोक परम्परा मे चल पडे थे। फिर भी एक दोहे मे पूरे प्रसंग का मार्मिक निष्कर्ष भरा पडा है।[1] मुंज की कहानी अपने आपमे इतनी काव्यात्मक है कि ये सीधे-सादे दोहे भी प्रसंग-गर्भत्व के कारण हृदय पर सीधे चोट करते हैं। तैलपराज की कैद मे पडा हुआ मुंज अपने किये पर झंख रहा है। एक तो उसने अपने मन्त्रि रुद्रादित्य मेहता के मना करने पर भी गोदावरी पार करके तैलप पर चढ़ाई की और अपने उस शुभ-चिंतक मत्री को खो दिया। दूसरे यहाँ आने पर तैलप-भगिनी मृणालवती पर विश्वास करके भाग निकलने की बनाई योजना उससे कह दी और इस तरह अपनी जान ही नही, अपने साथियो की जान भी खतरे मे डाल दी। इतनी भूलो का फल उसे भोगना पडा और वह भी इस रूप मे कि उसे रस्सी मे बाँधकर घर घर उससे भीख मगवाई गई। मुंज सम्बन्धी दोहो मे इसी पीडामय अनुभूति को वाणी मिली है।

झोली तुट्टवि किं न मूउ किं हूअ न छारह पुंजु।
हिण्डइ दोरी दोरिवउ जिम मकडु तिम मुंजु ॥[2]

मुंज के मृणालवती को कहे गये पद्य भी सरस है—

मुंजु भणइ मृणालवइ जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सयखण्ड थिय तोइ स मीठी चूरि ॥[3]

अर्थात् मुंज मृणालवती से कहता है कि तुम अपने गये हुए यौवन को याद करके दुःखी मत हो। मिश्री शतखड होकर चूर चूर हो जाये तो भी उसकी मधुरता नष्ट नही होती।

एक अन्य उदाहरण देखिये-जो हेमचन्द्र-व्याकरण मे पाठान्तर के साथ उपलब्ध है।

एहु जम्मु नग्गह गियउ भडसिरि खग्ग न भग्गु।
तिक्खा तुरिय न वाहिया गोरी गलिन लग्ग ॥[4]

१—नामवरसिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योगदान—पृ० २५०-२५१
२—मुनि जिनविजय· प्रबध चिन्तामणि—पृ० २३
३—मुनिजिनविजय: प्रबध चिन्तामणि पृ० २३
४—वही—पृ० ३२

अर्थात् दिगम्बर व्रत पालन करते करते जन्म बीत गया । किसी योद्धा के सिरपर न खड्ग प्रहार किया न तेज घोडा चलाया और न किसी सुन्दरी को गले लगाया। यह जीवन तो व्यर्थ ही चला गया।

अन्य ग्रथो मे उपलब्ध होने वाले नमूने भी इसी भावधारा को लिये है। अत. व्यर्थ के विस्तार से बचने के लिए हम उनकी चर्चा यहाँ नही करेंगे । अभी तक विवेचित उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्र श के इन मुक्तको का उत्तराधिकार डिंगल को मिला है। विस्तृत विवेचन के लिए कृपया पांचवाँ अध्याय देखिये

अब तक अपभ्र श साहित्य के जिन स्वरूपो पर विचार किया गया था वे सब पद्य मे ही थे। गद्य मे बहुत कम साहित्य अद्यावधि प्राप्त हुआ है। हाँ, चन्द पुस्तकों मे कुछ गद्य-प्रयोग मिल जाते हैं। उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला कथा' में अपभ्रंश गद्य के कुछ वाक्य मिल जाते हैं–

जनार्दन च्छिहू कत्थ तुज्झें कल्ल जिमि अल्लया ? तेन भणिउ-साहिउ जे तेतउतस्स वलव-खइएल्लयहू तणए जिमिअल्लया।[1]

अर्थात् हे जनार्दन ! मैं पूछता हूँ, तुमने कल कहाँ जीमा (खाना खाया) ? उसने उत्तर दिया–वही जो वलक्षयिक, उसके यहाँ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक अपनी पुस्तक मे इसी रचना से एक अन्य उदाहरण दिया है।[2] यह मथुरा स्थित अनाथालय के कोढियो, पगुओ, अधो, अपाहिजो आदि की भाषा का नमूना है–

'सयलं पुहईमडल परिभमिऊण संपत्तो महुराउरीए । एत्थ एक्कम्मि अणाहमण्डवे पविट्वो। अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोड्ढीए । वलक्ख खइयए। दीण दुग्गय। अन्धलय । पगुलय । किंच वहुणा जो माउ-पिउ-रुट्ठेलउ सो सो सव्वो वितत्थ मिलिएल्लउ त्ति । ताहू च तेत्थु मिलिएलय सह समाणह एक्केक्क महाआलावा पयत्ता। भो भो ! कयरहिं तित्थे दे (वे) वा गयाहं कयरा वाहि पावं वा पिट्टइ त्ति। एक्केण भणिअं अमुक्का वाणारसी कोढिएहि। तेण वाणारसी गयाण कोढु प्फिट्टइ त्ति।

अण्णेण भणिअ–हु हु कहिउ वुततउ जपिएल्लउ। कहिं कोढ । कहिं वाणारसी। मूलत्थाणु भटारउ भो (को) ढइ जे देइ। उद्दालि लोअहुं।

अण्णेण भणिअ–काइ इमेण जत्थ चिरपरूढ पाउ फिट्टह, तुम्भे, उद्दिसह तित्थ।

अण्णेण भणिअं–प्रयागव उपडिअह चिर परूढ पाय विहत्थ वि फिट्टत्ति ।

अण्णेण भणिअ–अरे ! पाव पुच्छिय पाय साहहि ?

1–अपभ्रंश काव्यत्रयी: पृ० १०४ से उद्धृत

2–हजारीप्रसाद द्विवेदी' हिन्दी साहित्य का आदिकाल–पृ० २०

अण्णेण भणिअ—खेदु मैल्लह। जह् परमाइ। पिइवहकयइ पि
महापावइ गगासगमे ण्हायह भइखभडारयपडिअह णासइ त्ति।'

इस उद्धरण मे पहिले उद्धरण की अपेक्षा सस्कृत के तत्सम शब्दो की बहुलता नही। ऐसा होना 'स्वाभाविक ही था। फिर भी प्रयाग गगा-सगम, खेद आदि कुछ तत्सम शब्द प्रयुक्त हो ही गये है। इस प्रकार नवी शताब्दी मे शिक्षाभ्यासी या सुशिक्षित लोगो की भाषा मे ही नही, अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित लोगो की भाषा मे भी तत्सम शब्द प्रयुक्त होने आरम्भ हो गये थे।'

अपभ्रंश गद्य का प्रौढ उदाहरण हमे विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' मे देखने को मिल जाता है। परवर्ती डिंगल काव्यो मे वचनिका, दवावैत आदि रूपो मे गद्य का जो प्रयोग हुआ है उसकी जीवन्त परम्परा हमे विद्यापति मे मिल जाती है। वैसा ही तुकान्त गद्य, वैसा ही वाक्य-विन्यास। यथा—

गरुअ गरुअ मुण्ड।
मारि दस सथि मानुस करो मुण्ड।
विन्ध सओ विधाताओ किनि काढल।
कुम्भोद्भव करे नियमातिक्रम पेलि पव्वतओ वाढल।
धाए खनए मारए जान,
महाउओ क आकुस महते मान।[1]

डिंगल के दवावैत बिल्कुल इसी पद्धति पर रचे जाते रहे है। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए चौथा अध्याय।

हमारे द्वारा अब तक किये गये अपभ्रश के अध्ययन से उसके विपुल साहित्य और उसके सामर्थ्य से हमारा परिचय हो गया है। इसमे सधि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चाचर, फाग, स्तुति, स्तोत्र, कथा, चरित, पुराण आदि प्रकार के काव्यो मे मानव जीवन और जगत् की अनेक भावनाओ और विचारो को वाणी मिली है। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियो के चिंतन की चिंतामणि है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है, यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न होने वाले ऐहिक-रस का रागरजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषो के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक पुत्रो के दु.ख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थंकरो की भावोच्छ्वासित स्तुतियो, अनुभव भरी सूक्तियो, रहस्यमयी अनुभूतियो, वैभव-विलास की झाँकियो आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेह-सिक्त गाथाओ के विविध चित्रो से अपभ्रश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयभू जैसे

१—शिवप्रसाद सिंह. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा पृ० ५५

महाकवि के हाथों इसका बीजारोपण हुआ, पुष्पदन्त, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और काण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया, और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का सबल प्राप्त हुआ। ऐसे महाकवियों और इतने महाकाव्यों तथा गीत काव्यों के इस साहित्य का, जो आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर शेष संपूर्ण भारतवर्ष के सामान्य लोक तथा शिक्षित मंडली के हृदय की वाणी था, भारतीय साहित्य में कितना महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है—यह सहज ही अनुमेय है।[1]

१—नामवरसिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० १८३

३

डिंगल : भाषा और साहित्य

डिंगल की व्युत्पत्ति और विवेचन

डिंगल राजस्थान की शुद्ध साहित्यिक भाषा रही है।[1] भले ही भले यह नाम बाद मे मिला हो। यह भाषा पहले मारवाडी, मरु भाषा, मरु-धर-भाषा, मरुदेशीया भाषा आदि नामो से पुकारी जाती थी।[2] राजस्थानी की उपभाषाओ मे 'मारवाडी' सब से प्रधान है और सदा से रही है। जिस प्रकार आजकल हिन्दी की अनेक उपभाषाओ मे से 'खडी बोली' साहित्य की भाषा है और इन दिनो हिन्दी का अर्थ ही खडी बोली से लिया जाता है, उसी प्रकार 'मारवाडी' भी राजस्थान की साहित्यिक भाषा रही है। साहित्य सर्जना के लिए इसी का बहुविध उपयोग किया जाता रहा है। राजस्थान के सभी वर्गों के लेखको ने साहित्य रचना के लिए 'मरवाड़ी' को अपनाया।[3] इसका यह अर्थ कदापि नही कि राजस्थानी की अन्य उपभाषाओ यथा मेवाडी, हाडौती, ढूढाड़ी आदि मे कोई साहित्य लिखा ही नही गया। इन उपभाषाओ मे भी थोडी बहुत काव्य-रचना हुई है, किन्तु मारवाडी साहित्य की तुलना मे परिमाण और स्तर दोनो दृष्टियो से उसका कम महत्व है। जिस प्रकार आज भी ब्रज, भोजपुरी, मैथिला, बुंदेलखडी, राजस्थानी आदि उपभाषाओ मे अनेक कवि कवितायें लिखते हैं, किन्तु खडी बोली हिन्दी ही आधुनिक साहित्यिक भाषा मानी जाती है, उसी प्रकार मारवाडी भी राजस्थान की साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन रही है। कालान्तर मे यही भाषा डिंगल नाम से पुकारी जाने लगी। 'मरुभाषा' का प्राचीनतम उल्लेख कहाँ और कब पाया जाता है और किसलिए यह 'मरुभाषा' डिंगल कहलाने लगी, इसपर आगे विचार किया जायेगा, तब तक हम जरा मरुभाषा की इस नवीन सज्ञा 'डिंगल' की व्युत्पत्ति पर विचार करें, तो समीचीन ही होगा।

१—त्रिलोकी नारायण दीक्षितः अवधी और उसका साहित्य—पृ० २५

२—नरोत्तमदास स्वामी -राजस्थानी—भाग १—पृ० ८

३—वही—पृ०।

'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ-संगति को लेकर अनेक विद्वानो ने नाना-प्रकार की क्लिष्ट कल्पनायें की हैं। इन सभी प्रकार की धारणाओ का विवेचन और मूल्यांकन डिंगल साहित्य की भाव-भूमि से परिचित होने के लिए अनिवार्य तो नही है, पर वह हमे विभिन्न विद्वानो की विचार दिशा की ओर संकेत करेगा और इस दृष्टि से यह सतुलित और वैज्ञानिक अध्ययन से लिए अवश्य उपयोगी होगा, इसी लिए अनिवार्य न होते हुये भी हम 'डिंगल' की व्युत्पत्ति पर यहाँ विचार करेंगे।

राजस्थानी भाषा और साहित्य के सबंध मे डा० एल० पी० टैसीटैरी ने अभूत-पूर्व सेवायें की है। इस इटैलियन विद्वान ने राजस्थानी भाषा का सब से पहले स्वतत्र वैज्ञानिक अध्ययन किया। उनकी धारणा थी कि 'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गवारू था। व्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्यशास्त्र के नियमो का अनुसरण करती थी, पर डिंगल इस संबध मे स्वतत्र थी, इसीलिए इसका यह नाम पडा।[1]

डा० टैसीटैरी की इस मान्यता के आधार पर अनेक विद्वान इसी भ्रामक धारणा को प्रश्रय देते रहे हैं कि 'राजस्थान की वह असस्कृत भाषा डिंगल कहलाई जिसमे वीर रसात्मक काव्य रचना के कारण परुपतत्व विशेष रूप से था और परि-मार्जन एवं व्याकरण तथा छदशास्त्र के अनुशासन का अभाव था। शायद उसे मध्य प्रदेश की भाषा पिंगल, जिसमे अपेक्षाकृत व्याकरण और छद शास्त्र का अधिक निय-न्त्रण था, उपहास के 'हेतु जोडा मिलाने के लिए डिंगल कहा गया हो।[2]' यह धारणा इतिहास के तथ्यो के विपरीत जान पडती है। डिंगल के अनेक कवि अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान्, इतिहासकार, दर्शन वेदान्त व साहित्य शास्त्र के ज्ञाता और षट्भाषा-प्रवीण रहे हैं। उदाहरण के लिए हम कविराजा बाकीदास, पृथ्वीराज (पीथल) कुशललाभ, दुरसाआढा आदि को ले सकते हैं। ये सभी लोग शिक्षित व शिष्ट थे। समाज व राजदरबारो मे ऊँचे सम्मान के अधिकारी थे। वे भला स्वयं अपनी भाषा को 'गवारू' कैसे मान सकते थे ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। बाकीदास ने स्वयं अपने को डिंगल-पिंगल मे निष्णात माना है। इसके साथ ही हमे ध्यान रखना चाहिए कि डिंगल सदा साहित्यिक भाषा रही है। लोकभाषा से साहित्य मे प्रयुक्त की जानेवाली भाषा सदैव अधिक संस्कृत और परिमार्जित होती है, ऐसी दशा मे डिंगल को गवारू मानना उचित नही है। व्रजभाषा की तुलना मे भी डिंगल को हीन नही ठहराया जा सकता। व्रज भाषा सदृश्य ही डिंगल का अपना छद-शास्त्र है, अपना व्याकरण और अपना अलकार-विधान है। डिंगल भाषा के अनेक ग्रंथ तथा फुटकर गीत, कवित, दोहे आदि अद्यापि मिल चुके हैं और इनमे व्याकरण, छंद, रस, अलंकार आदि साहित्य के विविध अगो व नियमो का पालन उतनी ही सचाई से

1. Dr. Tessitory—Journal of the Asiatic Society of Bengal Vol. X, No. 10 Page 376.

२—शिवनन्दन प्रसाद : हिन्दी साहित्य-प्रेरणायें और प्रवृत्तियाँ पृ० ३३

किया गया है, जितना ब्रजभाषा के कवियो ने अपनी रचनाओ मे किया है।[1] डिंगल भाषा तत्कालीन राजदरबारो मे ब्रजभाषा से भी अधिक मान्यता और सम्मान पाती थी, अत इस शिष्ट समुदाय की प्रिय भाषा डिंगल को 'अनियमित' अथवा 'गँवारू' कहना युक्तिसगत नही जान पडता।

दूसरा मत डा० हरप्रसाद शास्त्री का है। शास्त्रीजी ने 'डिंगल' की व्युत्पत्ति डगल से बतलाई है। उनकी धारणा है कि प्रारभ मे इस भाषा का नाम डगल था, पर बाद मे पिंगल शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया।[2] अपने मत के समर्थन मे उन्होने जोधपुर के कविराजा मुरारीदान द्वारा प्रस्तुत एक प्राचीन छद का उदाहरण भी दिया है, जिसे वे चौदहवी शताब्दी की रचना मानते है। वह अश यह है—

दीसँ जंगल डगल, जेथ जल बनल चाटे।
अनहुता गल दिये, गल हुता गल काटे॥

शास्त्री जी ने इसका कोई अर्थ नही दिया है और केवल यही कह कर छोड दिया है कि 'इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरुदेश की भाषा डिंगल कहलाती है।' इन पक्तियो का अर्थ प्राचीन परपरा के वर्तमान कवि उदैराज उज्वल ने 'मरु-स्थल की भूमि और अन्न जल के वर्णन के रूप' मे ग्रहण किया है।[3] किन्तु यह अर्थ खीचतान कर किया गया है। मेनारियाजी ने इसी गीत को पूरा उद्धृत किया है और सअर्थ, सप्रमाण सिद्ध किया है कि यह गीत अल्लूजी चारण का लिखा हुआ है, जो १७ वी शताब्दी मे हुए है। इसमे ईश्वर की सर्वशक्तिमानता का वखान किया गया है।[4] हमे तो यही अर्थ समीचीन जान पडता है, अतः यह कहा जा सकता है कि शास्त्री जी का यह मत किसी वैज्ञानिक आधार के अभाव मे अनुपयुक्त ही ठहराया जायेगा।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे गजराज ओझा ने अपना एक लेख प्रकाशित कराया जिसमे उन्होने डिंगल के नामकरण का आधार डिंगल भाषा की 'ड' कार वहुलता को माना है। उनके विचार मे 'ड' वर्ण की प्रधानता को ध्यान मे रख कर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रखा गया है।[5] यह मत केवल क्लिष्ट-कल्पना मात्र है। अनेक डिंगल रचनाओ मे 'ड' वर्णों का बाहुल्य नही है और

१—डा० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १५
२—हरप्रसाद शास्त्री : प्रिलीमनेरी रिपोर्ट आन दी आपरेशन इन दी सर्च आफ एम० एस० एस० आफ बार्डिक क्रानिकल्स—पृ० १५
३—उदैराज उज्वल . राजस्थान भारती—भाग २, अक २, पृ० ४६.
४—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १७-१८
५—गजराज ओझा : नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भा० १४, पृ० १२२-१४२

न किसी भाषा का नाम किसी वर्ण की बहुलता के आधार पर ही रखा जा सकता है। संसार की किसी भी भाषा के नामकरण का यह आधार शायद नहीं मिलता, ऐसी दशा में इस मत को महत्व नहीं दिया जा सकता।

पुरुषोत्तम स्वामी के मत में 'डिंगल' शब्द डिम-गल से बना है। डिम का अर्थ है–डमरू की ध्वनि तथा गल का गले से तात्पर्य है। डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। वीर रस के देवता महादेव का प्रिय बाजा डमरू है। गले से जो कविता निकल कर डिम् डिम् (डमरू ध्वनि) की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे, उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है, इसलिये वह डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] इस मत के प्रमुख खंडनकर्ता हैं–अयोध्या नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह। उनके अनुसार न तो महादेव वीर रस के देवता है और न डमरू की ध्वनि उत्साह-वर्धक ही मानी गई है।[2] वीर रस के देवता महादेव नहीं इन्द्र है। महादेव तो रौद्र रस के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं, अतः यह मत भी निराधार है। इसी के समकक्ष राव मोहनसिंह का अनुमान है। उनके अनुसार दंगल—डंगल—डिंगल बना है। 'दंगल भाषा' का आशय युद्ध समय में ओजसूवृद्धि करने वाली भाषा है।[3] कुछ भी हो, यह मात्र अनुमान ही है।

जगदीशसिंह गहलोत एक नई मान्यता का उल्लेख करते है। उनके अनुसार डिंगल डिंभ+गल से बना हुआ है। इस मत के समर्थक 'डिंभ' का अर्थ बालक और 'गल' का अर्थ गला लेकर डिंगल का अर्थ करते है—'बालक की भाषा'। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी, उसी तरह राजस्थान की यह काव्य भाषा डिंभगल या डिंगल कहलाई।[4] बालक की भाषा स्वाभाविक होने पर भी अपरिमार्जित और अपरिष्कृत होती है अतः इस मत को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता।[5]

पंडित मोतीलाल मेनारिया की मान्यता है कि प्रारंभ में डिंगल एक तरह से चारण-भाटों ही की भाषा थी और ये लोग अपनी काव्य रचनायें बहुधा इसी भाषा में किया करते थे। अपने आश्रय दाताओं के कार्यकलापों का, उनके शौर्य पराक्रम का, ये लोग बहुत बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया करते थे। धन के लोभ से कायर को शूर, कुरूप को सुन्दर, मूर्ख को पंडित और कृपण को दानी कह देना इनके लिए एक

१—पुरुषोत्तम स्वामी : नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १४ पृ० २५५

२—महाराजा प्रताप नारायणसिंह : रस कुसुमाकर–पृ० १६३

३—राव मोहन सिंह : प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ३ संपादकीय पृ० १

४—जगदीशसिंह गहलोत का मत: स्वामीद्वारा उद्धृत–किसन रुकमणिरी वेलि प्रा० पृ० ६

५—गोवर्द्धन शर्मा : सरस्वती संवाद–भाग २, अंक २, पृ० ४६

साधारण बात थी ।[1] अर्थात् वे डीग हाँका करते थे, इसीलिए जो भाषा इस प्रकार डीग हाँकने के काम मे ली जाती थी, उसका शीतल, श्यामल, धूमिल आदि शब्दो के अनुकरण पर लोगो ने–सभवत श्रोताओ ने डीगल (डीग से युक्त) नाम रख दिया यथार्थत 'डिंगल' शब्द डीगल का परिवर्तित रूप है । प्रारभ मे जिस समय मारवाडी के लिये इस शब्द का प्रयोग होना शुरू हुआ उस समय यह डीगल ही बोला और लिखा जाता था । बाद मे धीरे धीरे डिंगल हो गया जिसका मूल कारण डा० ग्रियर्सन आदि अग्रेज लेखक हैं । 'डिंगल शब्द के उच्चारण से अपरिचित होने के कारण इन्होने 'पिंगल' और 'डीगल' के उच्चारण मे कोई भेद नही किया और अपने ग्रथो मे दोनो की हिज्ज एक ही तरह से लिखी, Pingala और Dingala । Pingala का उच्चारण हिन्दी वाले 'पिंगल' करते जा रहे थे, इसीलिये यह समझकर कि 'डीगल' भी इसी तरह बोला जाता होगा, उन्होने इसे 'डिंगल' बोलना और लिखना शुरू कर दिया ।[2] यह मत भी सर्वांग सम्मत नही जान पड़ता क्योंकि कौन ऐसा स्वाभिमानी कवि होगा, जो अपनी भाषा को डीगल जैसी हीनता बोधक सज्ञा से सबोधित करे । इसमे कोई सन्देह नही कि डिंगल मे अत्युक्तिमूलक कविता काफी है ।[3] किन्तु आशिक रूप से इसका आरोप सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि साहित्योपर भी लगाया जा सकता है । अनेक चारणो और भाटो द्वारा अत्युक्ति मूलक रचनायें लिखी गई, किन्तु हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि अनेक डिंगल कवि बडे विद्वान, स्वाभिमानी और आत्मचेता थे । बाकीदास ने अपने काव्य को डिंगल मे रचित माना है । इनके स्वाभिमान के विषय मे प्रसिद्ध है कि वे अपने आश्रयदाता जोधपुर नरेश के बीमार पडने पर इसलिये मिलने नही गये कि चिकित्सक के आदेशानुसार मिलने वाले सरदारो को पर्दे के बाहर से ही हाजिरी बजानी पडती थी और महाराजा को नेत्र व्याधि के कारण बाहर आने की मनाई थी । बाकीदास तब ही उनसे मिलने गये जब कि यह असम्मानजनक शर्त उनके लिए हटा दी गई ।[4] डिंगल के अनेक कवि अपने स्वाभिमान के लिए इसी प्रकार प्रख्यात है । कहना न होगा कि ऐसे स्वाभिमानी व्यक्तित्व अपनी प्रिय भाषा को हीनता सूचक सज्ञा 'डिंगल' कह कर नही पुकार सकते थे । अत. इस मत को कहाँ तक वैज्ञानिक माना जाय, यह विचारणीय प्रश्न है ।

गणपति चन्द्र गुप्त ने अपने एक लेख 'डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास' मे हमारा ध्यान एक नई सभावना की ओर आकर्षित किया है ।[5] उन्होने डिंगल को

१—मोतीलाल मेनारिया : डिंगल मे वीर रस पृ० ७

२—मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २१

३—डा० टैसीटेरी जरनल एण्ड प्रोसिडीगस् आफ ऐशिआटिक सोसाएटी आफ बेंगाल भाग–१३, १९१७, पृ० २२८

४—प० रामकर्ण आसोपा बांकीदास ग्रथावली भाग १, भूमिका पृ० १५

५—गणपति चन्द्र गुप्त डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति–साहित्य सदेश वर्ष १२, अक ६, पृष्ठ ३४९

किसी प्राचीन डगल प्रदेश की भाषा माना है । इस मान्यता का आधार हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उद्धृत 'दीसे जगल डगल' वाला दोहा है । उनकी धारणा है कि भाषाओं के नाम बोले जानेवाले प्रदेश पर आधारित होते हैं यथा बंगाल की भाषा बंगाली, असाम की असामी, अवध की अवधी, फारस की फारसी, चीन की चीनी, रूस की रूसी, मारवाड़ की मारवाड़ी और गुजरात की गुजराती । अतः हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि डगल प्रदेश की बोली का नाम ही डींगल है जो धीरे धीरे व्यापक बन गई है । वैसे देखने में यह मत तर्क-संगत जान पड़ता है किन्तु इस सबमें दो मुख्य आपत्तियाँ हैं । डगल प्रदेश की भाषा डगली होनी चाहिये न कि डिंगल । इसपर लेखक चुप रह गये हैं । दूसरी बात यह कि इतिहास से इस मत की पुष्टि नहीं होती । सभी प्रमुख विद्वानों के अनुसार इस भाषा का क्षेत्र राजस्थान ही रहा है किन्तु उसके किसी भी भूभाग का नाम डगल नहीं रहा है । पौराणिक काल में पश्चिमोत्तर भारत के विभिन्न भू भागों के नाम जगल, मत्स, शिवि, मरु, मालव, अर्बुद, माड आदि पाये जाते हैं ।[1] मध्ययुग में इस प्रदेश का उत्तरी भाग जगल, दक्षिणी भाग मेदपाट, वागड, मालव, प्राग्वाट, गुर्जरत्रा, पश्चिमी भाग मरु, माड़, वल्ल, त्रवणी और मध्य भाग अर्बुद, सपादलक्ष आदि नामों से पुकारा जाता था ।[2] किन्तु डगल नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । माना कि वह प्रदेश कालान्तर में किसी दूसरे नाम से पुकारा जाने लगा होगा, किन्तु उसका कहीं उल्लेख न मिलना ही सिद्ध करता है कि ऐसा प्रदेश कभी शायद ही रहा हो । जिस प्रदेश के आधार पर किसी भाषा का नामकरण होता है, उसका महत्वपूर्ण होना अनिवार्य होता है और ऐसे महत्वपूर्ण प्रदेश का कोई उल्लेख कहीं न पाया जाय, आश्चर्य की बात ही है, इसीलिये इस मत को कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता । डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने डिंगल की उत्पत्ति 'डूगर' शब्द से मानी है । राजस्थानी में डूगर का अर्थ पर्वत या पहाड़ी है । अतएव डिंगल का अर्थ संभवत पर्वतीय भाषा होगा ।[3] डा० चटर्जी अपने इस मत के संबंध स्वयं अनिश्चित हैं अतः इस पर विशेष विचार करना अनावश्यक है ।

राजस्थानी की प्राचीन परंपरा के वर्तमान कवि उदयराज उज्वल डगल', 'डीगा', 'डागला', 'डग', आदि शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हुए, डिंगल का अर्थ उडनेवाली भाषा मानते हैं ।[4] उनकी धारणा है कि डिंगल के कवि पिंगल को पंगु भाषा कहते हैं और सापेक्षिता में डिंगल को उडनेवाली भाषा मानते हैं ।[5] डिंगल के अन्य विद्वान किशोरसिंह बार्हस्पत्य के अनुसार डिंगल शब्द 'डिङ् विहायसा गतौ'

१—चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय . राजस्थान दिग्दर्शक—पहला अध्याय

२—नरोत्तम स्वामी . राजस्थानी—भाग १, पृष्ठ ४

३—जगदीश श्रीवास्तव. डिंगल साहित्य—पृ० ८ पर उद्धरित

४—उदयराज उज्वल : क्षात्र धर्म सदेश—वर्ष १, अक ६—७ पृ० १८

५—उदयराज उज्वल राजस्थान भारती—वर्ष २, अक २, पृ० ४५

अर्थात् उडना अर्थ वाली धातु 'डी' से बना है और इसका अर्थ है उडने वाली भाषा ।[1] डिंगल भाषा के व्याकरण, छन्द शास्त्र, काव्य-पद्धति आदि को ब्रज भाषा से अधिक सरल मानकर उसे उडने वाली भाषा के रूप मे सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। वस्तुत. बात ऐसी नही है । डिंगल किसी भी दृष्टि से सरल नही कही जा सकती। वयण सगाई जैसा बधन भी इसमे प्रचलित रहा है अत इस मत को समीचीन नही ठहराया जा सकता।

मु शी देवीप्रसाद, बदरीदान कविया, सत्यदेव आढा इसी बात को प्रकारातर से व्यक्त करते हैं। मु शी जी का कथन है कि गला का अर्थ मारवाडी भाषा मे बात और बोली का है । डीगा ऊँचे लबे को और पागला पगु तथा लूले-लगडे को कहते है। चारण अपनी कविता बहुत ऊँचे स्वरो से पढते हैं और ब्रज भाषा की कविता धीरे धीरे मद स्वरो मे पढी जाती है।[2] इसी लिये डिंगल और पिंगल सज्ञा हो गई, जिसको दूसरे शब्दो मे ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि वीर रस प्रधान कविता चाहे वह ब्रज भाषा मे भी क्यो न लिखी गई हो, जोर से ही पढी जायेगी अत यह तर्क सारहीन है। न कभी ऐसे आधार पर किसी भाषा का नामकरण ही सभव है।

डा०श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि जो लोग ब्रज भाषा मे कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी और इससे भेद करने के लिये मारवाडी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढा हुआ नाम डिंगल पडा।[3] प०रामकर्ण आसोपा की भी यही मान्यता है। वे मानते हैं कि डिंगल शब्द की कल्पना पिंगल शब्द की समकक्षता मे की गई है। डिंगल शब्द रूढ प्रतीत होता है।[4] गुलेरीजी के मत मे डिंगल केवल अनुकरण शब्द है। काफिया न मिलेगा तो बोझो तो मरेगा—की कहावत के अनुसार पिंगल से भेद दिखाने के लिए बना लिया गया है।[5] नरोत्तम स्वामी ने इस पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सस्कृत—प्राकृत की कविता पिंगल रचित छद शास्त्र मे बताये छदो मे लिखी गई। अपभ्रश ने लोक साहित्य से अनेक नये छद बनाये, जिनका समावेश प्राकृत—पिंगल, स्वयभू-छद आदि नवीन छद ग्रथो मे किया गया। देश भाषाओ के विकास के समय लोक साहित्य के आधार पर और नये प्रकार के छद बनाये गये । पूर्व के कवियो ने, जिन में भाट (ब्रह्मभट्ट) प्रधान थे, पदो का आविष्कार किया और पश्चिम के चारण कवियोने (चारणी) गीतो का । ब्रह्मभट्ट लोग पिंगलानुमोदित छदो मे भी रचना करते रहे, उनकी रचनाओ मे पदो की अपेक्षा पिंगलानुमोदित छदो की ही प्रधानता

१—किशोरसिंह बार्हस्पत्य . राजस्थान—वर्ष १, अक १,

२—मु शी देवीप्रसाद . नवम् हि० सा० बबई का कार्य विवरण पृ० ४४

३—श्यामसुन्दरदास . हिन्दी शब्द सागर—भूमिका पृ० २८

४—रामकर्ण आसोपा . एकादश हि० सा० स० कलकत्ता का कार्य विवरण पृ० १७

५—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ना० प्र० पत्रिका भाग ३, अक १, पृ० ९८ नवीन सस्करण

लेकर विभिन्न अटकलें लगाने मे कोई विशेष लाभ होने की सभावना नही है। वैज्ञानिक अध्ययन मे अनुमान व कल्पना का योग एक विशेष सीमा तक ही लिया जा सकता है अत इस सम्बन्ध मे और भी अधिक कल्पना करने के स्थान पर हमे डिंगल के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए, सभव है इसी के द्वारा हमारी इस नामकरण की जटिल समस्या का निदान निकल आये।

डिंगल को लेकर अनेक शकायें उठाई गई है (१) डिंगल राजस्थान की कुछ विशेष जातियो की भाषा-शैली मात्र है, वह कोई स्वतत्र भाषा नही है।[1]

(२) मारवाडी और डिंगल एक नही मानी जा सकती। प्रश्न है कि क्या समूचा मारवाडी (राजस्थानी) साहित्य डिंगल कहा कहा जा सकता है ? न तो सारे राजस्थानी साहित्य को ही मारवाडी कहा जा सकता है, न सारे डिंगल साहित्य को ही। अत डिंगल और मारवाडी दोनो भिन्न है।[2]

(३) डिंगल एक कृत्रिम भाषा है। वह बोलचाल की भाषा कभी नही रही।[3]

यद्यपि इन तीनो शकाओ पर हमने अपने विचार प्रारभ मे ही स्पष्ट कर दिये हैं—फिर भी वे वैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा रखते हैं, अत उन पर एक-एक कर विचार किया जायेगा।

कुछ विद्वानो ने डिंगल को कुछ जातियो की भाषा-शैली मात्र माना है। वे उसे स्वतत्र भाषा नही मानते। उनकी सम्मत्ति मे 'एक स्वतत्र भाषा के लिए यह आवश्यक है कि उसके रूपो का बोलचाल मे प्रयोग हो। इस दृष्टि से डिंगल मे कोई स्वतत्र रूप-योजना अथवा वाक्य-विन्यास नही देख पडता। उसकी रूप-योजना और वाक्य विन्यास का आधार राजस्थानी बोलियो मे रहा है। अत डिंगल इन बोलियो से स्वतत्र नही है और न कोई स्वतत्र बोली है। इसका सबध सदा से चारण, भाट, राव, ढाढी, मोतीसर आदि जातियो से ही रहा है, जिनक उल्लेख डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री ने और पीछे मे डा० मेनारिया ने अपने ग्रथ मे किया है। ये जातियाँ सारे राजस्थान के राज-परिवारो से सम्बन्धित रहती आई है, इनका कार्य विरुद और गाथाएँ रचना और गाना है। इन्ही के गीतो और उनकी भाषा की परम्परा काव्य के रूप मे विकसित हुई और डिंगल साहित्य और भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजदरबारो से सम्बन्धित और प्रभावित अन्य लोगो ने भी इस शैली में रचना की है, परन्तु प्रधान रूप मे डिंगल का सम्बन्ध इन्ही जातियोसे था।[4]

इस मान्यता के दो अग है। १—डिंगल भाषा नही—शैली मात्र है। २—वह केवल कुछ जातियो द्वारा, जिन्हे ऊपर गिना दिया गया है, काव्य शैली के रूप मे

१—उदयसिंह भटनागर · 'डिंगल भाषा' हिन्दी अनुशीलन—व० ८, अक ३, पृ० ९५
२—वही
३—शमशेर सिंह नरूला हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ का वैज्ञानिक इतिहास पृ०७८
४—उदयसिंह भटनागर : 'डिंगल भाषा'—हिन्दी अनुशीलन न० ८, अक ३ पृ० ९५

प्रयुक्त की जाती रही है । जहाँ तक डिंगल को भाषा मानने का प्रश्न है–हिन्दी के अधिकाश विद्वान इसे भाषा ही मानते हैं । व्याकरण की दृष्टि से डिंगल एक भाषा ही ठहरती है । डा० सुमित्राकुमारी सिन्हा,[1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,[2] डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या,[3] नरोत्तम स्वामी[4], आदि डिंगल को भाषा मानने के पक्ष मे है । जहाँ तक डिंगल की कुछ विशेष जातियो से सम्बन्ध होने की स्थापना की जाती है, उसमे काफी सच्चाई है । निसदेह चारण, भाट, मोतीसर, राव, ढाढ़ी आदि जातियो द्वारा डिंगल के विकास मे महत्व का योग-दान रहा है, फिर भी हमे यह याद रखना होगा कि इन जातियो के अतिरिक्त अन्य जातियो के लोगो ने भी डिंगल मे काफी काव्य रचना की है । डिंगल साहित्य के दो सर्वश्रेष्ट काव्य "ढोला-मारू रा दूहा" और "वेलि क्रिसन रुकमणी री" चारणेतर कवियो द्वारा ही रचे हुए हैं । डिंगल का सर्वोत्तम गद्यग्रन्थ "नैणसीरी ख्यात" भी एक वैश्य लेखक की रचना है[5] । अत. सक्षेप मे कहा जा सकता है कि डिंगल एक भाषा है, जिसे चाहे प्रारम्भ मे कुछ विशेष जातियो द्वारा भले ही अपनाया गया हो, किन्तु बाद मे वह सभी द्वारा समादृत साहित्यिक भाषा बन गई । उसे मात्र शैली नही माना जा सकता ।

मारवाडी को डिंगल माना जाय अथवा नही--इस शका का कारण पृष्ठभूमि की उपेक्षा है । हम पहले ही बता आये है कि अनुश्रुति, भाषाशास्त्र और इतिहास- तीनो दृष्टि से डिंगल मारवाडी (राजस्थानी की प्रमुख साहित्यिक उपभाषा) से भिन्न नही है । सक्षेप मे मरुभाषा (मारवाडी) और डिंगल एक ही भाषा के भिन्न भिन्न नाम है । राजस्थानी के अन्यतम कवि सूर्य्यमल्ल मिश्रण ने यही मत व्यक्त किया है[6] ।

डिंगल उपनामक कहुक, मरुवानीहु विधेय ।
अपभ्रंश जामे अधिक, सदा वीर–रस–श्चेय ॥
—वश भास्कर खड १, दोहा ४०

ग्रियर्सन[7] और टेसिटरी[8] ने भी डिंगल का अर्थ मारवाडी ही लिया है ।

१—डा० सुमित्राकुमारी सिन्हा मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ–पृ० २७
२—हजारीप्रसाद द्विवेदी · हिन्दी साहित्य पृ० ६६–६७
३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा–पृ० ५८
४—नरोत्तम स्वामी : क्रिसन रुकमणी री वेली : प्रस्तावना पृ० २
५—डा० मोतीलाल मेनारिया· राजस्थान का पिंगल साहित्य–पृ० ८
६—सूर्य्यमल्ल मिश्रण: वश भास्कर खड १, पृ० १४७

7. Dr. Grierson Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part II, page 19
Marwari has an old literature about which hardly anything is known. The writers some time composed in Marwari and sometimes in Brajabhasha. In the former case the language was called Dingal and in the latter, Pingal

8. Dr Tessitori—Journal of the Asiatic Society of Bengal Vol, X, No. 10, page 375. (Quoted on next page)

मोहनलाल[1] जिज्ञासु, इसीलिए डिंगल को राजस्थानी (मारवाडी) का मध्यकालीन रूप समझते है[1]। उनकी मान्यता है कि ज्यो-ज्यो मरुभाषा (मारवाडी) का रूप परिमार्जित होता गया और वह साहित्यिक रचनाओ के लिए प्रयुक्त होने लगी त्यो-त्यो उसका नाम डिंगल प्रसिद्ध होने लगा। प्रारभ मे डिंगल काव्यभाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न न थी—केवल वह उसका परिष्कृत स्वरूप था। जैसे केशवदास, बिहारी घनानन्द सभी ब्रजभाषा के कवि है, परन्तु उनमे ब्रजमडल मे प्रयुक्त होने वाली आज की भाषा से थोडा बहुत अन्तर है और सूरपूर्व ब्रजभाषा से भी थोडी विभिन्नता है। उसी प्रकार आज की मारवाडी और प्राचीन मारवाडी मे अन्तर है और बोलचाल एव साहित्यिक मारवाडी मे भी भिन्नता है, जो स्वाभाविक ही है। अत साहित्यिक-परम्परा-सम्मत मारवाडी के साहित्य को हम निस्सदेह डिंगल साहित्य के रूप मे ग्रहण कर सकते हैं। राजस्थानी मे अनेक उपभाषाए हैं, और उनके साहित्यो को डिंगल के रूप मे उसी तरह ग्रहण नही किया जा सकता, जैसे हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओ के साहित्यो को खडी-बोली साहित्य मे नही गिना जा सकता।

तीसरी शका है कि डिंगल एक कृत्रिम भाषा है। डिंगल भाषा मे राज्याश्रित कवियो ने ही बहुधा अपनी रचनाये की है। ये भाट और चारण इन वीर गाथाओ को अपने आश्रयदाता किसी सामन्ती सरदार अथवा राजदरबार की प्रशस्ति मे कहते थे। उनकी भाषा साधारणतया मिली जुली थी और आम बोलचाल की नही होती थी तथा प्राय एक राजदरबार से दूसरे तक बदलती रहती थी, क्योकि जब वे चारण एक राजदरबार से दूसरे मे जाते तो उन्ही वीर-गाथाओ और चारण-काव्यो मे शब्द तथा भाषा का हेर-फेर करते जाते, वही काव्य नये सामन्त की स्तुति के काम आ जाता और उसके दरबार के जीवित या मृत वीरो के नामो का उसमें समावेश कर दिया जाता। ये भाट एक दरबार से दूसरे दरबार मे आया-जाया करते थे और निकटवर्ती दरबारो मे समझी जानेवाली मिश्रित भाषा का प्रयोग करते थे। जब किसी राजा या सामन्त का भाग्योदय होता तो उसके दरबार की भाषा उस मिश्रित भाषा मे प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती थी[2]।

लगभग इसी काल मे जर्मनी के राजदरबारो में चान्सरी भाषा अस्तित्व मे आई थी जो ऐसी ही मिली-जुली थी। किन्तु आधुनिक जर्मन भाषा का उद्गम इस

It is well known that there are two languages used by the bards of Rajputana in their poetical compositions and they are called Dingala and Pingala. These are no more 'Styles of poetry' as held by Mahamaho—padhyaya Hara Prasad Shastri, but two distinct langnages, the former being the local Bhasha of Rajputana and the latter, the Brajbhasha, more or less vitiated under the influence of the former.

१—मोहन लाल जिज्ञासु प्रेरणा, वर्ष ४, अक ७, पृ० १८

२—शमशेरसिंह नरूला' हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ का वैज्ञानिक इतिहास—पृ० '७८–७९

भाषा से नही माना जाता। वह चान्सरी भाषा अलेमानिक् फ्राकिश, बवेरियन और स्वाबियन से, जो पूर्ववर्ती शताब्दियो के ख्यातिप्राप्त सामन्त राज्यो की भाषाए थी, भिन्न थी। वह चान्सरी भाषा व्याकरण के कम-से-कम नियमो को लेकर उन सामन्त राज्यो की भाषाओ मे साधारणतया समझे जाने वाले शब्दो के मेल से बनी एक कृत्रिम भाषा थी। रासो काव्यो की डिंगल भाषा भी ऐसी ही मिली—जुली भाषा थी[1]।

निस्सदेह श्री नरूला की इस मान्यता मे काफी सत्याश है। किन्तु वे भी डिंगल को पिंगल का स्थानापन्न मान गये है। राजस्थानी पिंगल रचनाओ की भाषा का स्वरूप अवश्य कृत्रिम है किन्तु यह उक्ति डिंगल पर लागू नही की जा सकती। चन्द-वरदाई की "पृथ्वीराजरासो" पिंगल रचना है। हिन्दी के समस्त विद्वानो ने इसे पिंगलकृति ही ठहराया है। (विस्तृत विवेचन इसी अध्याय मे आगे देखिये)। इसकी भाषा के सबध मे डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है-"रासो की जैसी भी भाषा है वह जीवित बोली नही है-वह किसी भी काल या प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा नही है। वह एक कृत्रिम साहित्यिक बोली है, जिसका स्वरूप कई शताब्दियो की और सहस्त्रो वर्गमील मे फैले भूखण्ड की कई बोलियो द्वारा निर्मित हुआ था। उसमे मुख्यतत्व पश्चिमी अपभ्रश का है, जिसमे पश्चिमी हिन्दी के साथ राजस्थानी बोलियो और प्रारभिक पजाबी की विशिष्टताए है। इस प्रकार की एक मिश्रित बोली राज-स्थानी कविता मे १२०० ई० के बाद क्रमश: प्रचलित हो चली थी और उसका पिंगला या पिंगल नाम था। किन्तु राजस्थानी चारण काव्य की यह मिश्रित बोली केवल विशिष्टजनो द्वारा समझी जाती थी, जनसाधारण की वह भाषा न थी[2]। इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृत्रिम भाषा पिंगल है, न कि डिंगल। डिंगल को कृत्रिम भाषा मान लेने से बडी हास्यास्पद स्थिति हो जाती है। पिंगल को हम कृत्रिम भाषा मानते है, डिंगल को भी ऐसी ही भाषा ठहरा देने से मानना पड़ेगा कि उस युग मे बोलचाल की भाषा का कोई साहित्यिक स्वरूप ही नही था। यह कल्पना अवैज्ञानिक ठहरती है।

डिंगल भाषा का आधार मारवाड़ी रहा है। मारवाडी काफी प्राचीन समय से मरुभाषा के नाम से जानी जाती रही है। हम इस सम्बन्ध मे अन्यत्र विचार कर चुके है तो फिर डिंगल का वास्तविक स्वरूप क्या था? पडित गजराज ओझा के अनु सार डिंगल का मतलब प्राचीन काल की या उसके ढग पर लिखी हुई साहित्यिक राजस्थानी से है। अनेक लोग डिगल को चारणो की बनावटी भाषा मानते हैं, पर यह केवल भ्रम है। इस भ्रम का कारण यह है कि प्राचीनकाल मे डिंगल-ग्रथ-रचना का प्रचार प्राय सभी जातियो के लोगो मे था। राजपूत, साधु, ब्राह्मण, सेवक, पचोली आदि भी डिंगल मे कविता करते थे, परन्तु सत्रहवी शताब्दी पश्चात् जिन

१—शमशेरसिंह नरूला. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ का वैज्ञानिक इतिहास--पृ० ७८-७९-

२—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—पृ० १०९

लोगो का पैतृक-कर्म कविता करना नही था और जो मनोविनोद मात्र के लिए ही कविता करते थे, उनका झुकाव उस समय की चलती भाषा की ओर हुआ। डिंगल उनसे धीरे धीरे छूट गई और वह केवल उन्ही जातियो मे रह गई, जिनका जीविका-निर्वाह परम्परा से, इसी के सहारे होता था। ये जातिया विशेषकर चारण, मोतीसर, भाट, राव, ढाढी, दम्मामी आदि है। इन्होने पुरानी परिपाटी की कट्टरता से रक्षा की और डिंगल-कविता मे प्राचीन से प्राचीन शब्दो का, जो अब जनसाधारण के ज्ञान के बाहर हो चुके हैं, प्रयोग करना न छोडा। इन डिंगलकाव्य सम्मत विशेष शब्दो का समझना जनसाधारण के लिए कठिन हो गया। इसमे उन्होने यह समझ लिया कि हो न हो यह भाषा चारणो की एक निजी एव बनावटी भाषा ही है, सर्व साधारण की नही। परन्तु वास्तव मे डिंगल बनावटी भाषा नही है, यह राजस्थान की विगत-प्रयोग भाषा है[1]। प्रकारान्त से डा० श्यामसुन्दरदास भी इसी का समर्थन करते हैं[2]। डा० धीरेन्द्र वर्मा डिंगल को पुरानी साहित्यिक मारवाडी ठहराते है[3]। नरोत्तम-स्वामी[4], डा० रामसिंह तोमर[5], रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत[6], कृष्णा जी पाडुरग कुलकर्णी[7] सभी विद्वान डिंगल को प्राचीन मारवाडी मानते हैं।

इससे यह ज्ञात होता है कि राजस्थान की प्रमुख साहित्यिक भाषा का नाम प्राचीन काल मे मरुभाषा था, वही मध्यकाल मे डिंगल कहलाया[8]। आज हम उसे ही राजस्थानी भाषा के नाम से पुकारने लगे है। अर्थात् मध्यकालीन मरुभाषा का साहित्यिक रूप डिंगल कहलाया और आज की बोलचाल की भाषा राजस्थानी कही जा रही है। डिंगल भाषा के विकास को समझने का अर्थ दूसरे शब्दो मे राजस्थानी भाषा के उद्भव और विकास का अध्ययन मात्र है, अत. अब हम राजस्थानी भाषा के विकास पर विचार करेंगे।

राजस्थानी भाषा का विकास

किसी भी भाषा के उद्भव व विकास का अध्ययन करते हुए हमे उसके क्षेत्र और वैज्ञानिक विकास के इतिहास से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

१—गजराज ओझा---'डिंगल भाषा' नागरी प्र० पत्रिका—भाग १४, अंक १, पृ० ९४

२—डा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी भाषा—पृ० ४३

३—डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ५५

४—नरोत्तम स्वामी . क्रिसन रुकमणी री वेलि-प्रस्तावना—पृ० ९

५—डा० रामसिंह तोमर . हिन्दी साहित्य कोश—पृ० २१४

६—रानी लक्ष्मी कुमारी चूडावत · राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृष्ठ ७

७—कृष्णाजी पाडुरग कुलकर्णी . मराठी, उद्गम व विकास पृष्ठ ५९

८ अ—पुरुषोत्तम मेनारिया राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० १७

ब—रावमोहनसिंह · प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ३—सपादकीय पृ० २

भाषा वैज्ञानिको ने राजस्थानी को अपभ्रशेतर भाषा माना है। अपभ्र श और प्राचीन राजस्थानी के काल मे सीमा-रेखा खीचना कठिन है क्योकि राजस्थानी भाषा पर अपभ्र श का प्रभाव इतना अधिक मिलता है कि राजस्थानी भाषा का पूरा ज्ञान नहीं रखने वाले व्यक्ति वर्तमान और मध्य कालीन राजस्थानी रचना को भी बहुत पुरानी समझ वैठते है[1]। इसी प्रकार राजस्थानी भाषा का उद्भव किस अपभ्रश से हुआ है, इस सम्बन्ध मे सभी विद्वान एकमत नही है। पुरुषोत्तम मेनारिया इसे नागर अपभ्र श से उत्पन्न मानते हैं[2]। जनार्दनराय नागर ने इसे साथ ही शौरसेनी अपभ्र श से उद्भूत ठहराया है[3]। कुछ लोगो के मत मे राजस्थानी का विकास सबसे पहले नागर एवं अवन्ती अपभ्रशो से हुआ है[4]। गुलेरी[5], श्यामसुन्दरदास[6], उदयनारायण तिवारी[7] सभी का झुकाव शौरसेनी अपभ्रश की ओर है। मुशी राजस्थानी को गुर्जरी अपभ्रश से उत्पन्न वताते हैं[8]। चाटुर्ज्या तत्कालीन अपभ्र श को सौराष्ट्र अपभ्रश की सज्ञा देते है।[9] कुछ भी हो सन् ८००ई० से १३००ई०तक समग्र पजाब, राजस्थान, गुजरान, सम्भवत सिंध और अन्तर्वेद मे भी एक साहित्यिक अपभ्रंश प्रतिष्ठित थी जिसे हम अपनी सुविधा के लिए पश्चिमी अपभ्रश कह कर पुकार सकते हैं[10]। इसी अपभ्रश से विकसित जो भाषा ईस्वी की वारहवी शती से सोलहवी शती तक इस विस्तृत भू भाग पर प्रयुक्त होती रही उसे ही टेस्सिटेरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' का नाम दिया है।[11] उसे ही गुजराती विद्वान उमाशकर जोशी 'मारूगुर्जर' सज्ञा देते हैं।[12] निसन्देह जोशी जी का यह नामकरण अधिक वैज्ञानिक और उपयुक्त है। उस समय तक राजस्थानी और गुजराती एक भाषा थी।[13] इसके लिए मेरी निगाह मे एक नया नाम 'क्याम खाँ रासा' पढते समय आया, जिसकी ओर मुनि जिन विजय जी ने सकेत भी दिया है[14], वह नाम है 'मारू-सोरठ।' इस प्रकार प्राचीन राजस्थानी-गुजराती सोलहवी शताव्दी तक प्रचलित थी।

१—पुरुषोत्तम मेनारिया राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० ११
२—वही
३—जनार्दनराय नागर · हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ—पृ० ६
४—पारीक—ठाकुर वेलि क्रिसन रुक्मणीरी—पृ० ८ भूमिका खड
५—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी-ना० प्र० प० भाग २, पृ० २४३-४४
६—श्यामसुन्दर दास : हिन्दी भाषा—पृ० १५
७—उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १७८-७९
८—क० मा० मुशी . अ० भा० सा० ०० के ३३ वें अधिवेशन का विवरण पृ० ९
९—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा पृ० ६५
१०—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राजस्थानी भाषा पृ० ६०
११—टेसीटरी : जनरल आफ ए० एस० आफ वेंगाल व० १० अक १०, पृ०३७५
१२—अनतराय म० रावल . गुजराती साहित्य पृ ५
१३—गजराज ओझा : डिंगल भाषा-ना० प्र० प० भाग १४, अक १ पृ० ११४
१४—मुनि जिन विजय : क्याम खा रासा—किंचित् भूमिका—पृ० ७

सोलहवी से उन्नीसवी शताब्दी तक राजस्थानी भाषा का माध्यमिक स्वरूप दिखाई देता है। इस युग की साहित्यिक भाषा के दो रूप हमे साफ नजर आते हैं। एक तो वह जो बोलचाल की भाषा के अत्यधिक निकट रहा है। ऐसी भाषा हमे लोकगीतो, सतकाव्य और जैनसाहित्य मे दीख पडती है। तत्कालीन भाषा का दूसरा स्वरूप अत्यधिक साहित्य परम्परा-सम्मत रहा है। आलोच्य काल की इस प्रकार की भाषा के दो रूप हमे स्पष्ट जान पडते हैं, जिन्हे राजस्थान मे डिंगल' और 'पिंगल' के नाम से पुकारा जाता रहा है।[1] डिंगल भाषा मारवाडी का साहित्यिक और अपभ्र श-प्रभावित रूप थी, यह हम पहले देख चुके है। 'पिंगल भाषा' मध्य-देशीय भाषा से प्रभावित थी। बल्कि उनका मूलाधार ही व्रजभाषा थी। गुजरात और मारवाड के जैन आचार्य और पण्डितो के द्वारा 'सौराष्ट्र अपभ्रश' (पश्चिमी अपभ्र श) से उद्भूत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी मे साहित्य-सर्जना होने लगी, पर साथ ही साथ शौरसेनी—अपभ्र श साहित्यिक भाषा मे पूर्ववत् काव्यादि साहित्यिक रचना की रीति अव्याहत रही। फिर, यह शौरसेनी अपभ्र श-साहित्यिक भाषा, पूर्व से बदलती गई, इसका एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप, 'पिंगल' नाम से राजस्थान और मालवा के कवियो मे पूर्णतया गृहीत होकर पिंगल का एक साहित्य बन गया। 'पिंगल' को 'शौरसेनी अपभ्र श साहित्यक भाषा और मध्य कालीन व्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।[2] आगे चलकर इन दोनो भाषाओ मे रूढिप्रियता बढती गई और फलस्वरूप उनमे कृत्रि मता आती गई।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य पुन. अभिव्यक्ति, शैली, रूढ़ि तथा भाषा की दृष्टि से जनसाधारण के निकट आ रहा है। तत्सम्बन्धी कोई चर्चा असगत होने से यहाँ अभीष्ट नही है।

राजस्थानी भाषा राजस्थान की मातृभाषा है। राजस्थान से हमारा तात्पर्य वर्तमान सीमाओ से नही होकर सास्कृतिक और भाषिक इकाई से है, जिसका क्षेत्र वर्तमान राजस्थान से विस्तृत है। ग्रियर्सन ने इसे राजपूताना और मालवा की भाषा माना है।[3] भारत मे हिन्दी को छोडकर इतना अधिक विस्तृत क्षेत्र अन्य किसी भाषा का नहीं है।[4] राजस्थानी बोलने वालो की सख्या डेढ करोड से ऊपर है। इ। दृष्टि से उसका स्थान भारतीय भाषाओ मे हिन्दी, बगला, तेलगू, तामिल और मराठी के बाद छठाँ और विश्व की भाषा मे कोई पच्चीसवा है।

१—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या . भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—पृ० १८५

२—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा—पृ० ६५

३—ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया व० १, भा० १, पृ० १७१

४—नरोत्तम स्वामी . 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—आलोचना अ० ६ पृ० १०५

राजस्थानी के पूर्वोत्तर मे हिन्दी की बागड़ू बोली, उत्तर मे पजाबी, पश्चिमोत्तर मे हिन्द की, पश्चिम मे सिन्धी, दक्षिण-पश्चिम मे गुजराती, दक्षिण मे मराठी और पूर्व मे हिन्दी की बुन्देली और ब्रजभाषा नामक बोलियाँ बोली जाती है।

राजस्थानी भाषा की अनेक शाखा-प्रशाखायें हैं। प्राय: सभी विद्वान राजस्थानी को चार विभागो मे बाँटते हैं। धीरेन्द्र वर्मा[1], डा० उदयनारायण तिवारी[2], डा० श्यामसुन्दरदास[3], नरोत्तम स्वामी[4] ग्रियर्सन आदि सभी विद्वानो ने इसके (१) पश्चिमी राजस्थानी या मारवाडी (२) मध्य पूर्वी राजस्थानी—जयपुरी या ढूढाडी (३) उत्तर-पूर्वी राजस्थानी मेवाती और (४) दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी मालवी—विभाग माने हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान की कतिपय और भाषायें हैं, जैसे भीली उपभाषा समूह, पहाडी वर्ग की भाषायें, खानाबदोश जातियो की बोलियाँ आदि जिन्हे राजस्थानी मे गृहीत किया जाता रहा है। इनमे से प्रमुख ये हैं—

(१) बजारी—यह राजस्थान से बाहर रहने वाले बजारो की भाषा है। स्थानानुसार इसके कई भेद हैं। ये बंजारे राजस्थान के मूल निवासी थे और व्यापार के सिलसिले मे माल लादकर दूर-दूर तक पहुचते थे। कालान्तर मे वे इधर-उधर बस गये। उनकी भाषा का मूल ढांचा राजस्थानी से प्रभावित ही रहा, यद्यपि स्थानीय प्रभाव से उसमे थोडा बहुत परिवर्तन भी हुआ— जो स्वाभाविक था।[5]

(२) गूजरी—यह विशेषत. हिमालय की तराई, काश्मीर और पजाब मे बसे हुए गूजरो, अहीरो आदि पशुपालक जातियो की बोली का समूह है।[6]

(३) भीली—यह गुजराती और राजस्थानी के बीच की भाषा है और भीलो द्वारा प्रयुक्त होती है। खानदेशी राजस्थानी व मराठी के योग से बनी है।[7]

(४) पहाडी वर्ग की भाषाएँ--इनका भी राजस्थानी के साथ घनिष्ट सबध है। राजस्थान से कुछ व्यक्ति नेपाल में जाकर बहुत अर्से पहिले स्थाई तौर पर वहाँ बस गये थे--फलस्वरूप नेपाली, कुमाऊनी, गढ़वाली आदि राजस्थानी पर आधारित है।[8]

१—धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ५५

२—उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य—पृ० ७३

३—श्यामसुन्दरदास भाषा-रहस्य—पृ० ६३

४—नरोत्तम स्वामी राजस्थानी भापा और साहित्य—राजस्थानी भाग १ पृ० १०

५—नरोत्तमस्वामी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—आलोचना अक ६—पृ० १०७

६--पुरुषोत्तम मेनारिया . राजस्थानी भाषा की रूपरेखा—पृ० ५

७--सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या · राजस्थानी भाषा—पृ० ९

८--श्यामसुन्दरदास . हिन्दी भाषा का सक्षिप्त इतिहास—पृ० १९

(५) तामिलनाड में 'प्रचलित 'सौराष्ट्री' भी राजस्थानी के अन्तर्गत जाती है।[1]

(६) भारतीय सांसियों, कजरों, नटों आदि की बोलियों का सम्बन्ध भी राजस्थानी से है। इनके पहाड़ी, मामटी, बेनदारी, ओड़की, लाटी, मन्द्रिया, मागी, कजरी, नटी, डोमी आदि अनेक प्रभेद हैं।[2]

उक्त प्रमुख चार भेदों—यथा (१) पश्चिमी राजस्थानी (२) मध्य पूर्वी राजस्थानी (३) उत्तर पूर्वी राजस्थानी (४) दक्षिण पूर्वी राजस्थानी को अनेक प्रकार से विभाजित किया जाता रहा है। ग्रियर्सन ने राजस्थानी के २० भेद गिनाये हैं। और मेकालिस्टर ने केवल जयपुरी के पन्द्रह भेदों का उल्लेख किया है। डा. मेनारिया ने राजस्थानी बोलियों की संख्या १०० से अधिक अनुमानित की है।[3] जनार्दनराय नागर राजस्थानी की नौ प्रमुख बोलियाँ मानते हैं[4], परन्तु इन सब में प्रमुख तो मारवाड़ी—पश्चिमी राजस्थानी ही है, जिसका साहित्यिक महत्व है। इसी के आधार पर डिंगल भाषा का विकास हुआ है।

जैसा कि हम पहले देख आए हैं—प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती—एक ही भाषा थी। ग्रियर्सन[5], सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[6], बेचरदास दोशी[7] सभी विद्वान एकमत हैं कि लगभग सोलहवीं शताब्दी में ये भाषाएँ जुदा पड़ने लगी। राजस्थानी के मध्यकालीन स्वरूप की व्याप्ति उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक रही। इसके पश्चात् आधुनिक युग माना जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हम आधुनिक साहित्य पर विचार नहीं करेंगे, इसी प्रकार मारवाड़ी अथवा डिंगल साहित्य तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखेंगे, क्योंकि हमारे उद्देश्य की दृष्टि से राजस्थानी के अन्य प्रकारों का विवेचन अनावश्यक है।

किस ग्रंथ को डिंगल का माना जाय और किस ग्रंथ को पिंगल का माना जाय, अनेक वार यह एक विवादास्पद प्रश्न बन जाता है। उदाहरण के लिये 'पृथ्वीराज रासो' को लें। मोतीलाल मेनारिया एक स्थान पर उसे डिंगल रचना मानते हैं[8],

---

१--उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १७९
२–नरोत्तम स्वामी—'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—राजस्थानी भाग १—पृ० १०
३–मोतीलाल मेनारिया · राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—१६
४–जनार्दन नागर · हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ पृ० १८
५–ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया—जिल्द १, भाग १—पृ० १७०
६–चटर्जी · ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज खंड १, पृ० ९
७-बेचरदास दोशी . गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—पृ० १२५
८–मोतीलाल मेनारिया : डिंगल में वीर रस—पृ० १

दूसरी ओर वे ही उसे अन्यत्र पिंगल की रचना मानते हैं[1]। पंडित रामकर्ण आसोपा[2] उसे डिंगल ही मानते हैं। नरोत्तम स्वामी[3], धीरेन्द्र वर्मा[4], ग्राऊज[5], नामवर सिंह[6], आदि विद्वानों ने इसे पिंगल अथवा ब्रजभाषा की कृति ठहराया है। निस्संदेह भाषा के अध्ययन के आधार पर पृथ्वीराज रासो को ब्रजभाषा अथवा पिंगल की रचना मानना ही उपयुक्त है किन्तु शैली और काव्य-पद्धति की दृष्टि से रासो के अनेक स्थल डिंगल के हैं। हजारीप्रसाद जी के शब्दों में 'युद्धों के प्रसंग में रासो की भाषा डिंगल का रूप धारण कर लेती है[7]।' चूँकि हम इस प्रस्तुत प्रबन्ध में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन न कर, साहित्यिक अध्ययन तक अपने को सीमित रख रहे हैं, अतएव यहाँ उन सभी ग्रन्थों पर जो चाहे पिंगल में अधिकांश लिखे गये हों, किन्तु अंशतः में ही सही, डिंगल में रचित हों, विचार कर सकेंगे। अपनी सुविधा के लिए हम उन्हें डिंगल-मिश्रित रचनाएँ मानेंगे। नीचे का उदाहरण हमारे मंतव्य को और भी अधिक स्पष्ट कर देगा।

(१) शुद्ध डिंगल रचनाएँ—रणमल्ल छंद, वेलि क्रिसन रुकमणीरी, वीर-सतसई तथा डिंगल गीतादि सामग्री

(२) डिंगल मिश्रित रचनाएँ—पृथ्वीराजरासो, वीर विनोद वंशभास्करादि।

प्रथम श्रेणी की रचनाएँ भाषा की दृष्टि से पूर्णतः डिंगल की हैं, किन्तु दूसरी रचनाएँ पिंगल-रचित होने पर भी डिंगल मिश्रित हैं। उनमें अनेक स्थल ऐसे हैं, जो डिंगल में हैं और डिंगल-काव्यरूपों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्व के हैं, इसलिए ऐसी डिंगल मिश्रित रचनाओं का भी यथावश्यकता प्रस्तुत प्रबंध में विवेचन किया गया है।

डिंगल का स्वरूप

यहाँ डिंगल के स्वरूप के संबंध में डा० टैसीटरी की धारणा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। उसके अनुसार डिंगल के दो स्वरूप हैं। (१) प्राचीन डिंगल जिसका समय लगभग तेरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक है और (२) अर्वाचीन डिंगल जिसका समय सत्रहवीं शती के मध्य से आज तक माना जा सकता है। उनकी धारणा है कि प्राचीन डिंगल में अइ व अउ का प्रयोग

---

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य—पृ० ३१

२ रामकर्ण आसोपा राजरूपक—भूमिका—पृ० २

३ नरोत्तमदास स्वामी पृथ्वीराजरासो—राजस्थानी भाग १, पृ० ९–१०

४. धीरेन्द्रवर्मा काशी विद्यापीठ रजतजयंती अभिनंदन ग्रंथ—पृ० १७८

५. ग्राउज—जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल—१८७३

६ नामवरसिंह पृथ्वीराज रासो की भाषा—अन्तिम अध्याय

७ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य—पृ० ६७

होता था, जबकि अर्वाचीन डिंगल मे उनके स्थान पर क्रमश ऐ और औ का[1]। उनकी इस मान्यता का आधार डिंगल मे प्रयुक्त कुछ शब्दो के हिज्जो तथा उच्चारण सबधी विशेषताएँ है, व्याकरण भेद या शब्द भेद नही[2]। डा० मेनारिया इस मत को भ्रमपूर्ण समझते है। उनकी मान्यता है कि प्राचीन और अर्वाचीन डिंगल का यह भेद डिंगल की प्रकृति एव उच्चारण शैली के विपरीत है। ....दूसरे, शब्द रचना का उनका अइ, अउ वाला तरीका भी ठीक नही है। सिर्फ डिंगल का प्राकृत अपभ्रंश मे सबध बतलाने के लिये इसकी कल्पना कर ली गई है।[3] डा० मोतीलाल मेनारिया के मत का समर्थन करते हुये डा० हीरालाल माहेश्वरी ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है अइ और ऐ, इसी प्रकार अउ और औ दोनो प्रकार के रूप एक ही हस्तप्रति मे मिल जाते है।[4] लगभग एक ही समय मे रची गई, अथवा एक ही कृति की समसामयिक हस्तप्रतियो मे भाषा की ये दो प्रवृत्तिया क्यो दीख पड़ती है? उत्तर स्पष्ट है किसी भी भाषा का विकास क्रमश होता है। अपभ्रंश से जब देश-भाषाओ का विकास हुआ तो उनमे अपभ्रंश से मिलते जुलते रूप भी परम्परानुसार चलते रहे। यह स्वाभाविक ही था। साथ ही मे इन्ही के नवीन रूपो का विकास और व्यवहार होता गया। जैन शैली और इससे प्रभावित रचनाओ मे सब जगह अइ और अउ की प्रवृत्ति लक्षित होती है। चारण साहित्य और जैन साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। चूंकि जैनो का धार्मिक साहित्य अपभ्रंश मे रहा है, उनका इसमे अच्छा सम्पर्क रहा है। अत. जब भी किसी जैन परम्परा वाले लिपिक ने किसी रचना की अनुकृति तैयार की तो उसमे अइ या अउ का प्रयोग कर दिया। उदाहरण के लिए चारण माधोदास दधिवाडिया रचित डिंगल रचना 'रामरासो' का सपादन करते समय लेखक को एक ही पक्ति के निम्न दो रूप मिले।

गुण रामरासउ धधवाडिया माधवदासजी रउ कहीयउ,
　　हस्तप्रति—लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति मदिर

गुण रामरासो धधवाडिया माधवदासजीरो कह्यो,
　　हस्तप्रति—अगरचदजी नाहटा द्वारा प्रेषित

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैन शैली मे अउ, अइ का प्रयोग हुआ है, इस आधार पर प्राचीन और अर्वाचीन डिंगल जैसा विभाजन करना अनुचित है।

राजस्थानी साहित्य के विद्वानो ने बहुधा विस्तृत कारण दिए बिना ही डिंगल साहित्य का विभाजन इस प्रकार किया है। गजराज ओझा ने डिंगल साहित्य को

१　टैसीटरी　वचनिका राठौड रतनसिंहजी री–भूमिका पृ० ४
२　,,　जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल
　　वर्ष १०, अक १०, पृ० १७६-७७
३　मोतीलाल मेनारिया 'राजस्थानी भाषा और साहित्य–पृ० ३०
४.　डा० हीरालाल माहेश्वरी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १८–२८

निम्न कालो मे विभाजित किया है ।[1]

[१] आरभकाल—सवत् १००० वि० से १४०० वि० तक

[२] मध्यकाल—संवत् १४०१ वि० से १८०० वि० तक

[३] उत्तरकाल—मवत् १८०१ वि० से आज तक

मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी साहित्य की विकास परम्परा व क्रम का ध्यान रखते हुए इस प्रकार विभाजन किया है ।[2]

(१) प्रारभकाल—स० २०१५ से १४६० वि०

(२) पूर्वमध्यकाल—स० १४६० से १७०० वि०

(३) उत्तरमध्यकाल—स० १७०० से १९०० वि०

(४) आधुनिककाल—स० १९०० से २००५ वि०

मेनानरिया ने अपने इस विभाजन का आधार स्पष्ट नही किया है । उमी प्रकार डिंगल के एक नये विद्वान डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का विभाजन है। आधारहीन विभाजन होने से इसकी कोई उपयोगिता नही ।[3]

(१) प्राचीन काल—लगभग १३०० ई० से १६५० ई० तक

(२) मध्य काल—लगभग १६५० ई० से १८५० ई० तक

(३) आधुनिक काल—लगभग १८५० ई० से आज तक

नरोत्नमदास स्वामी द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है ।[4]

(१) प्राचीन काल—स० ११५० से १५५०

(२) मध्य काल—स० १५५० से १८७५

(३) अर्वाचीन काल—स० १८७५ के पश्चात्

स्वामी जी ने आधुनिक भाषाओ को अपभ्रंश से अलग करने वाली आठ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये विशेषताएँ स० १२०० के आसपास स्पष्ट हो जाती है, अत तभी से आधुनिक भाषाओ का काल मानना उचित होगा ।[5] पंडित बेचरदास दोशी भी गुजराती भाषा की उत्क्रान्ति इसी समय मानते हैं[6] । इसी समय अन्य देशी भाषाएँ भी विकसित हो रही थी । बारहवी शताब्दी मे रचित 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' की भाषा को चटर्जी द्वारा कौशली कहा गया है[7] । अत जूनी गुजराती या जूनी राजस्थानी कही जाने वाली भाषा का

---

१. गजराज ओझा 'डिंगल भाषा व साहित्य'—ना० प्र० प० भाग १४, अक १, पृ० १८-१९

२. मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० ७७

३. जगदीश श्रीवास्तव डिंगल साहित्य—पृ० ११

४. नरोत्तम स्वामी क्रिसन रुकमणीरी वेलि–प्रस्तावना–पृ० ९

५ ,, राजस्थानी साहित्य—एक परिचय—पृ० ५

६. बेचरदास दोशी . गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—पृ० १८५

७. हीरालाल माहेश्वरी राजस्थानी भाषा और साहित्य-पृ० ३० पर उद्धरित

प्रारंभ वि० स० ११०० मान लेने में कोई हर्ज नहीं होना चाहिए। यह भाषा संवत् ११०० तक विकास पाती रही। इसके बाद अ०, ऐ का अन्तर दीख पड़ता है। अत. मेरी दृष्टि में स्वामी जी का विभाजन अधिक वैज्ञानिक है।

डिंगल साहित्य का विकास

वैसे तो हमने डिंगल भाषा के विकास का अध्ययन करते हुए उसका आरंभ सन् ११५० ई० से माना है, किन्तु उस समय की प्रामाणिक कृति अभी तक मिल नहीं पायी है। ग्यारहवीं शती के अन्त और बारहवीं शती के प्रारंभ में भाषाओं में नवीनता के परिवर्तन शुरू हो गए थे, फलस्वरूप नव्य-भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप प्रकट होने लगा था। इस समय से अब तक मारवाड़ी में उसके दोनों रूपों में यथा डिंगल और बोलचाल की मारवाड़ी में साहित्य लिखा जाता रहा है। सुदीर्घ काल में इतने अधिक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक परिवर्तन हुए हैं कि इस युग को उथल-पुथल का युग कहा जा सकता है। इन सब परिवर्तनों का प्रभाव डिंगल साहित्य के उपादानों पर पड़ा जो कि स्वाभाविक ही था। इस समय की चिन्ताधारा और साहित्य प्रवाह को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों को जान लेना आवश्यक है।

राजनीतिक व्यवस्था

सातवीं शताब्दी के मध्य से बारहवीं शताब्दी तक का काल राजपूत काल कहा जाता है।[1] स्वतंत्र मुस्लिम शासन सिंध तथा मुल्तान में ८७१ ई० में, पंजाब में ११६० ई० में और शेष हिंदुस्तान में १२०६ ई० में आरंभ हुआ। प्रारंभिक मुस्लिम युग १२०६ ई० से १५२६ ई० तक मुगलयुग के बीजारोपण का समय था। प्रारंभिक मुस्लिम आक्रमणकारियों को किसी शक्तिशाली भारतीय शासन का सामना नहीं करना पड़ा। उनके आक्रमणों को रोकने के लिए अशोक, कनिष्क और हर्ष सरीखे शासक खड़े नहीं हुए थे[2]। सन् १५२२ ई० से सन् १६०८ ई० तक मुगलकाल[3] तथा सन् १६७९ ई० से सन् १८१८ ई० तक राजपूत मराठा-संघर्ष-काल कहा जा सकता है[4]।

राजपूतों के छत्तीस वंश माने गये हैं[5]। दशवीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण के समय उन्हीं राजपूत राजवंशों के राज्य राजस्थान में फैले हुए थे। चौहानों का तो राज्य दिल्ली तक फैला हुआ था[6]। तेरहवीं शताब्दी में समूचे राजस्थान पर राजपूतों का अधिकार था। सिन्ध से मिले होने के कारण कभी कभी यहां मुसलमानों के हमले भी हो जाते थे। लेकिन फिर भी यहां उनका आधिपत्य

१ विंसेंट स्मिथ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया-- पृ० १७२

२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया-- खंड ३ पृ० ५०६

३ रघुवीर सिंह पूर्व--आधुनिक राजस्थान पृ० २०

४ रघुवीर सिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान--पृ० २३-२८ भूमिका

५ श्यामलदास वीर विनोद--भाग १--पृ० ३--४

६ कविराव मोहनसिंह पृथ्वीराज रासो --संपादकीय--पृ० ४

नही जम सका। यहाँ के राजपूत उन्हे लड-झगड कर भगा देते थे। ११९३ ई० मे शहाबुद्दीन गौरी से पृथ्वीराज चौहान को परास्त होना पडा। इसी समय मे राजस्थान ही नही अपितु भारत के इतिहास मे परिवर्तन आरभ हो गया। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को अपनी आधीनता स्वीकार करा अजमेर की गद्दी पर बैठाया पर पृथ्वीराज के भाई हरराज ने अपने भतीजे से अजमेर छीन लिया। शहाबुद्दीन के बाद उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को अपने अधिकार मे कर लिया और उसे अपनी राजधानी बनाया। बाद मे ११९५ ई० मे कुतुबुद्दीन ने हरराज को हराकर अजमेर पर अपना अधिकार जमाया और वहा मुसलमान हाकिम नियुक्त किया[1]। उस समय अजमेर का राज्य काफी फैला हुआ था। अल्तमश ने जालौर, साँभर, रणथभोर और सवालक को विजय किया और वहा के राजाओ से अपनी आधीनता स्वीकार करा ली। उसने मेवाड पर चढाई की, किन्तु उसे सफलता न मिल सकी।[2]

अलाउद्दीन खिलजी ने १३०० ई० मे रणथमोर के राजा हम्मीर चौहान को हरा कर किला अपने अधिकार मे कर लिया। उसके तीन ही वर्ष बाद उसने चित्तौड मे एक विकट युद्ध लडकर विजय प्राप्त की और अपने पुत्र खिजर खा को वहा का अधिपति बनाया। यह वही युद्ध है जिसमे राणा लक्ष्मणसेन मारे गये। राजपूतो ने केसरिया साका किया और राजपूत ललनाएँ जौहर की आग मे जल मरी। इसी कथानक को लेकर जायसी का पद्मावत चला है। परन्तु यह आधिपत्य बहुत कम समय तक टिक सका और १३७५ ई० मे महाराणा हम्मीर ने वापिस चित्तौडगढ छीन लिया। १३६८ ई० मे अलाउद्दीन ने सिवाने का किला और १३६८ वि० स० मे जालौर जीत लिया। तुगलको के समय मे मुसलमानी राज्य कमजोर हो गया। यह देख राजपूत राजाओ ने अपने अपने राज्य वापिस जीत लिए। मेवाड के महाराणा क्षेत्रसिह, कुम्भा, रायमल और सागा ने माडू के सुल्तान से जो पहले दिल्ली के बादशाह के हाकिम थे, कई लडाइयाँ लडी और उन्हे हराया। नागोर तथा गुजरात के सुल्तानो से भी अनेक युद्ध हुए।

इसके बाद लगभग दो सौ वर्ष तक राजपूत राजाओ के राज्यो पर कोई बाहरी आक्रमण नही हुए। वि० स० १५८० मे महाराणा सागा ने बाबर से मोर्चा लिया लेकिन वह खानवा के मैदान मे हार गये[3]। बाबर के बाद शेरशाह ने राजस्थान पर आक्रमण किया। मारवाड नरेश राव मालदेव से भयकर मुठभेड हुई, बडी कठिनाइयो और कूटनीति से शेरशाह सफलता पा सका[4], किन्तु यह अस्थाई रही।

---

१. जगदीश सिह गहलोत राजपूताने का इतिहास--पृ० १०२

२. राजस्थान दिग्दर्शक--दूसरा अध्याय--इतिहास की रूपरेखा

३. रघुवीर सिह पूर्व-आधुनिक राजस्थान—पृ० २०

४. जगदीश सिह गहलोत मारवाड राज्य का इतिहास—पृ० १३१-३५

शीघ्र ही मारवाड़ पुन शेरशाह के हाथ से निकल गया। शेरशाह का चित्तौड़ का आक्रमण भी व्यर्थ रहा।

अकबर ने पिछले राजाओं की विजय और पराजय से एक अमूल्य पाठ पढ़ा। उसे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि जब तक वह इस देश को अपना ही देश न समझेगा और राजपूतों को अपना सहायक न बना लेगा, तब तक एक सुदृढ़ राज्य स्थापित न कर सकेगा। राजस्थान में उस समय कुल ग्यारह राज्य थे यथा—उदयपुर डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, आम्बेर, बूंदी, सिरोही, करौली व जैसलमेर, जिनमें मुख्य उदयपुर और जोधपुर के राज्य थे। आम्बेर का राज्य उस समय कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था। यहां के राजा ने सर्वप्रथम अकबर की आधीनता स्वीकार की[1]। इसके बाद धीरे धीरे अन्य राजा भी अकबर की आधीनता में आ गए। बचा तो केवल मेवाड़। अत अकबर ने मेवाड़-विजय की लालसा से १५६७ ई० में चढ़ाई की और भयंकर संघर्ष के बाद उसे चित्तौड़ पर विजय मिली। लेकिन वहां के महाराणा उदय सिंह ने अधीनता स्वीकार नहीं की। उदयसिंह की मृत्यु के बाद राणाप्रताप मेवाड़ नरेश बने। अकबर का युद्ध राणा से भी चलता रहा। १५७६ ई० में हल्दीघाटी में घमासान युद्ध हुआ[2]। पराजित होने पर भी महाराणा प्रताप जननायक बन गए। उनकी वीरता ने उन्हें अमर कर दिया। चित्तौड़ ले लेने के बाद अकबर ने रणथंभोर भी जीत लिया।

सन् १६१४ ई० में मेवाड़ के राणा अमरसिंह ने अकबर के पुत्र जहांगीर के अधीन रहने से इंकार कर दिया। इस पर शाहजादा खुर्रम ने राणा व उसके पुत्र को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

औरंगजेब ने अकबर की नीति को एकदम उलट दिया। जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह के काबुल में देहावसान हो जाने पर १६७८ ई० में उसने जोधपुर को अपने अधिकार में कर लिया तथा जसवन्तसिंह के नाबालिग पुत्र अजीतसिंह को हिरासत में रखा, परंतु राठौड़ वीर दुर्गादास उसे औरंगजेब के चंगुल से छुड़ा लाया। उदयपुर के महाराणा राजसिंह ने मारवाड़ का पक्ष लिया। जयपुर का राजा मुगलों के साथ रहा। सम्पूर्ण राजपूताना औरंगजेब से बिगड़ खड़ा हुआ। अन्त में बादशाह ने उदयपुर के राणा के साथ संधि कर ली, और जजिया उठा लेने का वचन दिया। इधर औरंगजेब की मृत्यु के बाद महाराजा अजीतसिंह ने जोधपुर पर वापिस अधिकार कर लिया।[3]

औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजस्थान के लगभग सभी नरेश दिल्ली से स्वतंत्र हो गये। वि० सं० १८३१ में शाह आलम द्वितीय की कृपा से अलवर का

१. राहुल सांकृत्यायन अकबर—पृ० ७६

२. हरिभाऊ उपाध्याय—बाबूराव जोशी . राजस्थान के ज्योतिस्तंभ—पृ० १६५

३ जगदीशसिंह गहलोत मारवाड़ राज्य का इतिहास—पृ० १५९

राज्य स्थापित हुआ ।[1] इस अरसे मे मरहठो का बल बढने लगा और उन्होने आपसी कलह और फूट का लाभ उठाकर राजस्थान मे भी अपने पैर फैलाने शुरु किए। उन्होने यहा के राजाओ से खिराज वसूल किया और प्रजा को भी लूटा। अन्त मे जोधपुर, जयपुर और बीकानेर के राजाओ ने मिलकर मरहठो से मुक्ति पाने की योजना बनाई। इस कार्य मे और भी कई राज्य शामिल हुए। जयपुर से ४३ मील दूर गाव तूगा मे सन् १९८७ ई० को राजपतो और सिंधिया मे भयकर युद्ध हुआ। इस युद्ध मे सिंधिया को पराजित होना पडा। किन्तु राजपूतो का यह सगठन अधिक दिन टिक नही सका क्योकि कछवाहो और राठौडो मे फूट पड गई थी ।[2]

लार्ड वेलेजली के समय मे कर्नल लेक ने सिंधिया की शक्ति को निर्वल कर दिया ।[3] सन् १९०४ ई० मे जसवन्तराव होलकर ने जयपुर नरेश महाराजा जगतसिह को जा दवाया, किन्तु अग्रेजी सेना ने उसे कोटा मे खदेड दिया। वाद मे लार्ड लेक ने होल्कर और भरतपुर के राजा दोनो को सन् १८०४ ई० मे डीग की लडाई मे परास्त कर दिया। डीग पर अग्रेजो का अधिकार हो गया। भरतपुर के किले को जीतने के अग्रेजो द्वारा चार वार असफल प्रयत्न किये गये और अन्त मे दीर्घकाल के लिये घेरा डाल दिया गया। तीन माह के घेरे के वाद राजा ने सधि कर ली। अन्त मे होल्कर को भी अग्रेजो से सधि करनी पडी। इस पर राजपूताना का जितना हिस्सा उसने दवा लिया था, वह वहा के राजाओ को वापिस मिल गया।

अव उदयपुर की राजकुमारी कृष्णकुमारी के विवाह के लिए जयपुर तथा जोधपुर के वीच लडाई ठन गई तो वहाँ के नरेशो ने मराठो की सहायता लेनी चाही पिंडारी नेता अमीर खा की माग पर कृष्णकुमारी को विपपान करना पडा, तव कहीं जाकर शान्ति हुई ।[4]

सिंधिया ने वि० स० १८७५ की श्रावण वदी ११ को अजमेर अग्रेजो को सौंप दिया। इसके वाद धीरे-धीरे राजपूताने की सभी रियासतो से अग्रेजो की सधिया हो गई। इसके वाद अग्रेज सरकार ने धीरे-धीरे राजपूताने के राजाओ को निर्वल वनाने की नीति अखतियार की तथा उन्हे विभाजित रखकर भारत मे अपना साम्राज्य मजवूत करने का साधन वनाया। आपसी लडाई झगडो से आश्वस्त होकर राजा लोग अत्यधिक विलासी हो गये।

हमने ऊपर सक्षेप मे प्रमुख और महत्वपूर्ण घटनाओ का उल्लेख किया है। यह समूचा काल ही घोर उथल-पुथल का युग था। समाज मे कोई आदर्श नहीं थे। वेटा राज्य के लिए अपने वाप की हत्या कर सकता था ।[5] भाई अपने भाई के विरुद्ध

---

१. जगदीशसिंह गहलोत राजपूताने का इतिहास–पृ० २६६
२ राजस्थान दिग्दर्शक–दूसरा अध्याय–इतिहास की रूपरेखा
३ ईश्वरीप्रसाद · भारतवर्ष का इतिहास-भाग २–पृ० १२०
४ विश्वेश्वरनाथ रेऊ राष्ट्रकूटो का इतिहास–भाग १–पृ० ४७६
५. कन्हैयालाल सहल राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान–पृ० ७६

लुटेरों को आमंत्रित कर सकता था। परस्पर ईर्ष्या, मनमुटाव और प्रतिष्ठा की झूठी मान्यताओं ने समूचे समाज को जर्जरित कर डाला था। भयंकर अराजकता और निरंतर उलटफेरों के कारण सरदारों के साथ राजाओं की स्थिति भी सदैव ही डावाँडोल ही रहती थी। परिस्थिति-जन्य इस चिन्तापूर्ण आकुलता को भुलाने के लिए ही राजा और रंक सब ही समान रूप से ऐश्वर्य-विलास की ओर अनायास आकर्षित होते थे।

सामाजिक अवस्था

भौतिक जीवन के इन कठोर सत्यों को भुलाने के लिए नित्य नये उत्सवों का आयोजन होता था, आडम्बरपूर्ण जलसों की तड़क-भड़क देख पड़ती थी, और नाच-गान, राग-रंग, और ऐश्वर्य विलास का समा बाँधने का निरन्तर प्रयत्न होता था। नैतिक अनाचार बढ़ता जाता था। कभी न समाप्त होने वाले गृह-युद्धों के साथ ही यह असीम व्यभिचार का भी युग था। प्रजा का बुरा हाल था। उसका हर प्रकार से शोषण किया जाता था। शराब पीकर भोग-विलास में पड़े रहना और प्रजा को चूसना ही ज्यादातर जागीरदारों का रोजाना जीवन कहा जा सकता था।[1] सामन्त-शाही के अंग होने कारण दूसरी योग्यताएँ न होने पर भी रियासत की हुकूमत में उनका काफी हाथ रहता था।[2] उनकी निरंकुशता अमानवीय सीमा तक पहुँच जाती थी।[3]

धार्मिक अवस्था

राजस्थान न केवल सांसारिक प्रेमियों और ऐश्वर्यकामी वीरों का क्रीडास्थल रहा है, वरन् वह मुक्तिकामी और आध्यात्मिक प्रेमियों का कर्मक्षेत्र भी रहा है। बहुत प्राचीन समय से—सिद्धों के समय से तो निश्चित रूप से राजस्थान आध्यात्मिक हलचल का केन्द्र रहा है। सिद्धों की साधना के कुछ विशिष्ट केन्द्र देश के विभिन्न भागों में थे, जिन्हें सिद्धपीठ कहा गया है। एक परम्परा के अनुसार जालंधर, आडियन अर्बुद और पूर्णगिरी सिद्धपीठ माने गये हैं।[4] अर्बुद राजस्थान का आबू ही है। राजस्थान की सामान्य जनता पर सिद्धों, नाथों और सन्तों का बहुविध प्रभाव रहा है विशेषकर के गोरखनाथ का। गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका ज्ञान केवल बुद्धि-विलास नहीं है, वह साधना का विषय है। दीर्घ अभ्यास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है।[5] वामाचार से लेकर शुद्ध सतमत का किसी न किसी रूप में जनता में प्रचार रहा है। अनेक बार सिद्धों और नाथों के विश्वासों, तंत्र-विद्या और जीवन-दर्शन का मेल भक्ति

---

१ रघुवीरसिंह पूर्व-आधुनिक राजस्थान—पृ० २६२

२ रामनारायण चौधरी वर्तमान राजस्थान—पृ० ९

३ चाँद—मारवाड़ी अंक—विशेषांक

४ धर्मवीर भारती। सिद्ध साहित्य—पृ० ६१

५ बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन—पृ० ५०८

की भावनाओ और सतमत की निश्चल निष्ठा के साथ हो गया है, जिसकी विचित्रता अध्येता के लिए जटिल पहेली बन जाती है।[1] यही नही अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियो अथवा अर्द्धऐतिहासिक घटनाक्रमों को लेकर लोक मे निजधरी आख्यान और सिद्धियाँ प्रचलित हो गई है । ऐसे व्यक्तित्वो मे पाबूजी, रामदेवजी, हडबूजी, गोगोजी, जाभाजी, तेजाजी, मेहाजी, जसनाथजी, मल्लिनाथजी आदि बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है ।[2] इन सबका काफी प्रभाव राजस्थानी के लोक-साहित्य पर पडा । यह बात अलग है कि प्रकारान्तर से इनके यश और महिमा ने डिंगल साहित्य को भी किंचित् प्रभावित किया ।

राजस्थान मे अनेक सम्प्रदाय पनपे, जिनमे से मुख्य है–दादूपथ, जसनाथी, सम्प्रदाय, लालादासी पंथ, निरजनी पथ, रामसनेही पथ, नाथपथ, कबीर पथ, आदि। इन सभी सम्प्रदायो का अपना साहित्य है, किन्तु डिंगल रचनाओ पर इनका सीधा असर नही पडा, जैसा कि आगे चलकर बताया गया है । अत. इस स्थान पर इस प्रकार के साहित्य और इन सम्प्रदायों के विस्तृत विवेचन की कतई आवश्यकता नही है ।

अब हम इस बात को जानने की कोशिश करेंगे कि किन कारणो से डिंगल कविता मे परम्परा और रूढिवादिता का बोलबाला हो गया एव कला के सभी क्षेत्रो मे राजस्थान मे सकीर्णता आ गई । हम देख ही चुके हैं कि मध्यकाल मे राजस्थान का क्षेत्र सास्कृतिक दृष्टि से समृद्धिशाली था । उस समय यहा जैन व जैनेतर विद्वानो द्वारा विपुल परिमाण मे साहित्य रचा जा रहा था । उसमे ताजगी भी थी, परम्परा-निर्वाह भी था और था जीवन से लगाव । जब मुगलो से राजस्थान का विभिन्न रूपो मे सम्पर्क बढा, उसका प्रभाव यहा के साहित्य पर, कला पर और स्थापत्य पर पडा, जो कि स्वाभाविक ही था । जिस समय मेवाड-मुगल सघर्ष चल रहा था, राजस्थान के अन्य हिस्सो मे बहुत कुछ शान्ति थी । फलस्वरूप वहाँ नव-जीवन के अकुर फूटने लगे । राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे यह युग बहुत ही महत्वपूर्ण है। बीकानेर के शासक रायसिह के छोटे भाई पृथ्वीराज ने इसी काल मे 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसे सर्वोत्कृष्ट काव्य की रचना की थी । राजस्थान के उस अमर जन्म-सिद्ध कवि आढा दुरसा की वह ओजपूर्ण वाणी तथा उसकी वे भाव-पूर्ण मर्मभेदी कृतियाँ इसी काल मे प्रथम बार सुन पडी । राणा प्रताप के स्वातन्त्र्य-प्रेम तथा उसकी उस अनुकरणीय दृढता को लेकर इन दोनो ही कवियो ने कई एक अमर छन्दो की रचना की ।[3]

मुगल सल्तनत से सधि हो जाने के बाद सब ओर अपेक्षाकृत शाति छा गई । इसी काल मे डूगरपुर मे[4] गोवर्द्धननाथ के विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ ।

१–गोवर्द्धन शर्मा–राजस्थान का सत-साहित्य–राष्ट्रभाषा–व० १० अ०४
२–गोवर्द्धन शर्मा : राजस्थानी कवि- खड २–भूमिका पृ० १६–पृ० ८
३–रघुवीर सिंह : पूर्व-आधुनिक राजस्थान–पृ० ९०
४–ओझा , डूगरपुर राज्य का इतिहास–पृ० १६७

आम्बेर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर के नरेशों ने कई एक नये प्रासादो का निर्माण कर राजस्थान की स्थापत्य-कला मे सम्मिश्रित राजपूत-मुगल शैली के विकास में पूर्ण सहयोग दिया[1]

राजस्थानी चित्र-शैलियो के विकास के इतिहास मे यह शाति-समृद्धि-काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। मुगल दरवार के निरन्तर सहवास के कारण राजस्थान के राजाओ, उनके सामन्तो तथा उच्च पदाधिकारियों की वेश-भूषा मे होने वाले परिवर्तनो, मुगल स्थापत्य कला की नई शैली, तथा चित्रो के सघटन की कल्पना, आदि पर पडने वाले नये प्रभावो का प्रतिविंब समकालीन राजस्थानी शैली के चित्रों मे भी देख पड़ने लगा ।[2]

मुगलसत्ता के पतन के साथ ही मराठो के निरन्तर आक्रमणो ने राजस्थान में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी । भोग-विलास की प्रवृत्ति निकृष्टतम सीमा पर जा पहुँची, इसे हम पीछे देख ही चुके हैं । विवरण के लिए देखिये—इसी अध्याय का प्रारंभिक अश । राजस्थान के राज्यो और वहाँ के समाज के इस भयकर पतन का सर्वव्यापी प्रभाव वहाँ के साहित्य और कला मे भी व्यक्त होने लगा । साहित्य साधना मानो राजस्थान मे अन्तर्हित हो रही थी । कविता राजदरवार के मनोविनोद एवं सतो के विचार प्रदर्शन की ही वस्तु रह गई थी । शृंगार रस का ही प्राधान्य था, कही-कही शान्त और भक्ति रस की भी चर्चा होती थी । सक्षिप्त स्फुट काव्य की रचना करना ही कवियो का प्रधान आदर्श रह गया था । इन दिनो (१७५१ से १७९२ ई०) राजस्थान मे किसी भी महत्वपूर्ण स्थायी साहित्य की सृष्टि नही हो पाई । राजस्थान की आत्मा ही मूर्च्छित एव निश्चेष्ट हो गई थी । उसकी यह जडता राजस्थान की कला को भी धीरे-धीरे अदृष्टरूपेण गतिहीन, भावुकता-रहित एव नियमबद्ध बना रही थी । कलाकारो का दृष्टिकोण निरन्तर सकीर्ण एवं उनके चित्रो के विषयो की सख्या सीमित होती जा रही थी ।[3]

अग्रेजो से सम्पर्क सधने पर दो प्रतिक्रियायें स्पष्ट हुई । पहली तो यह है कि इस विदेशी शक्ति के सामने राजा लोग हीन-भावना अनुभव करने लग गये थे, फलस्वरूप वे अपने पूर्वजो के कृत्यो पर अभिमान करने लगे । प्राय. सभी राज्यो के शासको ने अपने अपने राज्यो के इतिहास अपनी ओर से तैयार करवाए और उन्हें प्रकाशित करवाया । टाडकी प्रशसा ने तो सारी राजपूत जाति को भुलावेमे डाल दिया ।[4] फलस्वरूप राजपूत नरेश अपने पूर्वजो की महत्ता के आधार पर अपना व्यक्तिगत महत्व आकने लगे । अपने अयोग्य कृपापात्रो से घिरे हुए नरेश असहाय और विवशता से ऐश्वर्य विलास मे डूबे अपनी पराधीनता के कठोर सत्य को भूलकर

१—वही—पृ० १०९
२—वही—पृ० ११०
३—वही—पृ० २१६
४—वही—पृ० २८३

उनकी राजनैतिक श्रेष्ठता तथा गौरव का ढोंग रचने वाले ऊपरी दिखावे को ही पूरा महत्व दे रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया जनता मे हुई। जनता मे शनैः शनैः पश्चिमी प्रभाव के कारण नई चेतना उत्पन्न होने लगी। अंग्रेजो के आधिपत्य ने जनता के हृदय मे अपने नरेशो के प्रति अगाध विश्वास को जड से हिला दिया था। नरेशो के बढते हुए अत्याचारो और सरदारो के निरन्तर विद्रोहो ने प्रजा के लिए कई एक नई उलझनें पैदा कर दी थी। समुचित नेताओ के अभाव मे जनता किंकर्त्तव्य विमूढ हो गयी थी। अपनी विवशता का अनुभव कर उसके जीवन मे असीम असीम निराशा घर कर गई।[1]

इन दोनो प्रतिक्रियाओ का प्रभाव राजस्थान के साहित्य पर पडना स्वाभाविक ही था। सारा प्रान्तीय जीवन ही उथल-पुथल हो रहा था और प्रत्येक बात का सापेक्षित महत्व बदल रहा था। वश-परपरागत राजपूती वीरता और सैनिक क्षमता निरर्थक सिद्ध हो चुकी थी। साहित्य के क्षेत्र मे सबसे प्रमुख व्यक्तित्व महा कवि सूर्यमल्ल मिश्रणका था। पाण्डित्य से पूर्ण इस महाकवि की कविता सर्व साधारण की वस्तु नही बन सकी, और उसके अनुयायी कवियो ने उसकी भावना और अनुभूति को भुलाकर उसके पाण्डित्यपूर्ण शब्द कौशल तथा वागाडबर को ही अपनाने का प्रयत्न किया। इससे बाद की डिंगल कविता निष्प्राण हो गई। उसका जीवन से सम्बन्ध बिलकुल ही टूट गया। इधर सामन्तो में खोखलेपन के बढने के साथ ही कवियो का आदर घटने लगा। उधर डिंगल कविता जनता से दूर हो चुकी थी। उसका विकास अवरुद्धसा हो गया। इसी से महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण को 'लास्ट आफ दी जाइन्टस्' कहकर पुकारा गया है।[2] डिंगल काव्य सूर्यमल्ल के अस्त होते ही छिप गया। अस्तु।

४. डिंगल साहित्य का अध्ययन

अब हम डिंगल की प्रमुख रचनाओ का परिचय प्राप्त करेंगे। चूकि हमारे अध्ययन का आधार काव्यरूपो का विकास है, अत· हम डिंगल कविता के विकास को इसी आधार पर समझने की कोशिश करेंगे। अत. उपलब्ध साहित्य का विवेचन निम्न तीन खण्डो मे अन्तर्भुक्त किया जायेगा।

(१) डिंगल प्रबध काव्य।
   (अ) प्राचीन राजस्थानी या मारवाडी
   (ब) परिमार्जित डिंगल
(२) डिंगल मुक्तक काव्य।
   (अ) डिंगल वीर गीत।

१—रघुवीर सिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान पृ० २८४
२—वीर सतसई—सुनिति कुमार चाटुर्ज्या का प्राक्कथन—पृ० ६

(ब) दोहे, छप्पय, सोरठे, कुंडलियाँ, झमाल आदि पद ।

(३) डिंगल मिश्रित रचनाएं ।

डिंगल की प्रारंभिक रचनाओ को लेकर विद्वानो मे मतैक्य नही है । बात यह है । बारबार के आक्रमणो से, परस्पर की मारकाट से अथवा अधिकारियो की उपेक्षा से डिंगल का विपुल साहित्य नष्ट हो गया है । उपलब्ध रचनाओ की प्रतिलिपियाँ पीछे की मिलती हैं और अधिक एव प्रामाणिक तथ्यो के अभाव मे अनुश्रुतियो को प्रश्रय मिलता रहा है ।

राजनैतिक परिस्थितियो मे अकुरित, पोषित एव संवर्धित होने के कारण डिंगल कविता का कलेवर प्रधानतया वीर रसात्मक है । यदि यह कहा जाय कि डिंगल भाषा का वीर-साहित्य विश्वसाहित्य के लिए एक अपूर्व उपहार है तो अत्युक्ति न होगी । वीर रस के अन्तर्गत मान्य युद्ध, दान, दया और धर्म, चारो प्रकार के वीरो के सजीव, स्वाभाविक तथा सागोपाग चित्र काव्यकारो ने अकित किये हैं । इस दिशा मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होने के कारण वीरोचित कृत्यों का प्रत्यक्ष दर्शन एव स्वानुभूति है ।[1] रवीन्द्र नाथ ठाकुर के कथनानुसार वीरता का भाव, जोकि राजस्थानी के प्रत्येक दोहे तथा गीत का सार है स्वयमेव ऐसा अनूठा एवं अलौकिक है कि इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को गर्व हो सकता है । युद्ध तथा युद्धस्थल का भयावह वातावरण, रण के विरोधी प्रतिद्वन्दियो के शौर्य, पराक्रम, औदार्य और आतक, सेनानियो की बहुलता तथा अश्व-गजो की प्रचुरता के वर्णन यद्यपि अत्युक्तियो एव अतिशयोक्तियो से अनुरजित और अनुप्राणित है तथापि प्रभावशाली, मनोमुग्धकर एव अनुपम है । वीर नर नारियो का मनोविश्लेपण वास्तविक तथा मार्मिक है । विशेपतया पद्मिनी, करुणावती, जवाहर बाई, कृष्णाकुमारी आदि वीरागनाओ के साहस, वीरता तथा जौहर । सतीत्व के रक्षार्थ जीवित अग्नि प्रवेश कर मृत्यु का वरण सृष्टि के इतिहास मे आश्चर्यजनक घटनायें हैं ।[2]

विद्वानो ने राजस्थान के वीर साहित्य की भूरि-भूरि प्रशसा की है । डाक्टर एल० पी० टेसीटरी के अनुसार यह वृहद् साहित्य, समस्त राजपूताना तथा गुजरात मे जहाँ वहा कही भी राजपूत ने अपनी भूमि के विजय के हेतु रक्त का बलिदान किया पल्लवित तथा पुष्पित हुआ ।[3] डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है कि राजस्थानी साहित्य वीरत्व से ओतप्रोत जीवन और वीर की अक्षा प्रवाह सदृश्य मृत्यु का सदेश है । ये राजस्थान के गीत थे जिनमे कि अथक शक्ति एव अविजित लोह-युक्त साहस का फेनिल स्त्रोत प्रवाहित होता था और जिन्होने कि राजपूत योद्धा को व्यक्तिगत सुख तथा आकर्षण को विस्मृत कराकर सत्य शिव, सु दरम् के लिए लडने को बाध्य किया ।[4]

१–डा० जगदीश श्रीवास्तव: डिंगल साहित्य—पृ० १९

२–मोती लाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० ५७

३–रामदेव चोखानी : राजस्थानी साहित्य का महत्व पृ०–६८

४–वही –पृ० ६८

दीवान हरिविलास सारदाने राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज (भाग १) के 'प्राक्कथन मे लिखा है कि यह केवल राजपूत ही नही वरन् समग्र ३६ जातियो के लोग थे जो कि राजस्थान के वीरो के वीरतापूर्ण कृत्यो के गान को सुनकर युद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे। इसी कारण राजस्थान को वीर भूमि (लेन्ड आफ चीवर्ली) की सज्ञा प्रदान की गई है ।[1]

ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्य मे वीर रस के प्राधान्य ने विशेष कर साहित्य के विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप, राजस्थान की भाषा डिंगल को अधिकाश साहित्यकारो ने केवल वीर रस के लिये ही उपयुक्त समझा जो कि वस्तुत एक भ्रम है ।[2]

डिंगल मे रीतिग्रथ, भक्तिकाव्य तथा इस प्रकार की रचनायें भी उपलब्ध होती है, जिन पर आगे चल कर विस्तृत विचार किया जायेगा। इसी तरह डिंगल गद्य की रचनाओ को चौथे खण्ड मे आलोचित किया जायेगा।

सबसे पहले हम शुद्ध डिंगल की प्रबधात्मक रचनाओ को लेंगे।

(१) श्रीधर. रणमल्ल छन्द

राजस्थानी वीर काव्यो यथा पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, हम्मीर रासो, आदि की प्रामाणिकता और रचना काल को लेकर विद्वानो मे पिछले काफी समय से मतभेद है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इनमे से अनेक काव्य ग्रथो की शव-परीक्षा भी की जा चुकी है और उनमे से अधिकाश को अनैतिहासिक भी ठहराया जा चुका है। काव्य से इतिहास की अपेक्षा करने मे और क्या मिलेगा ? काव्य और इतिहास दोनो के तत्व, आधारशिला और क्षेत्र भिन्न है, दोनो के दायित्वो का भी रूप भिन्न हैं किन्तु ऐतिहासिक काव्य से हम इतिहास व काव्य दोनो के दायित्वो का समान निर्वाह करने का पूर्वाग्रह रखते है। बहुधा ऐतिहासिक काव्य हमारी निर्धारण रेखा से नीचे ही ठहरते हैं। उनमें इतिहासतत्व व काव्यतत्व दोनो का सम्यक निर्वाह नही हो पाता है किंतु श्रीधर व्यास द्वारा निर्मित 'रणमल्ल छन्द' नामक रचना एक अपवाद है। इस छोटे से वीर गाथात्मक काव्य मे जहाँ इतिहास की पूरी रक्षा हुई है। वहाँ कुछ स्थानो पर हमे बडी सशक्त अभिव्यक्ति भी मिलती है।

श्रीधर के जीवन के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बहुत सीमित है। हमे उसकी जन्मभूमि, जन्मतिथि और बचपन के बारे मे कोई जानकारी नहीं मिलती है। उनकी तीन रचनायें मानी जाती हैं— (१) रणमल्ल छन्द (२) सप्तसती अथवा साहस्त्रिक छन्द (३) कवित्त भागवत। इन तीनो कृतियो मे इस विषय की कोई जानकारी नही दी गई है। अन्तर्साक्ष्य अथवा बहिर्साक्ष्य के आधार पर केवल यही

१–हरिविलास शारदा : राजस्थान मे हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज भाग १ भूमिका पृ० २

२–जगदीश श्रीवास्तव. डिंगल साहित्य–पृ० २०

३–गोवर्द्धन शर्मा : राजस्थानी कवि भाग १ पृ० ४५ से ५२ पर प्रकाशित

कहा जा सकता है कि श्रीधर वि० सं० १४५४ मे विद्यमान था। वह ईडर के राठौड़ नरेश रणमल्ल का राज्याश्रित कवि था और उस समय ईडर मे ही रहता था। रणमल्ल छन्द मे प्रारम्भ मे रची गई ११ आर्यायें उसे अच्छा सस्कृतज्ञ सिद्ध करती हैं। अरबी-फारसी के शब्दो का प्रयोग भी उसकी कविता मे हुआ है और ठीक तरीके पर हुआ है। वह सब उसकी अच्छी शिक्षा का द्योतक है। उसकी जाति का उल्लेख 'व्यास' कह के विद्वानो ने किया है।[1] किन्तु उसकी अप्रकाशित रचना 'कवित्त भागवत' मे भागवत की कथा के स्थान पर देवी की स्तुति है। शायद उसका मूल नाम 'कवित्त भगवती रहा' हो। यदि ऐसा हो तो वह देवी का उपासक ठहरता है। उसने अपनी तीनो रचनाओ मे मात्रिक छन्दो का प्रयोग भी अधिकतर किया है और तत्कालीन कवि-प्रिय छन्द अपनाये हैं। इसकी कृति 'रणमल्ल छन्द' का उल्लेख उदयसिंह भटनागर ने शुद्ध डिंगल व चारणी साहित्य की परम्परा मे किया है[2]। 'रणमल्ल छद' सत्तर छन्दो का वीर काव्य है जिसमे पाटण के सूबेदार जफर खा (बाद मे मुज्जफर शाह) और ईडर के राठोड नरेश रणमल्ल के युद्ध का सजीव वर्णन है। इस युद्ध मे रणमल्ल ने अपने शत्रु पर विजय पाई थी। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान के० ह० ध्रुव की मान्यता है कि यह युद्ध ई० सन् १३५७ मे हुआ था।[2] किन्तु के० का० शास्त्री का इससे मत-भेद है।[1]

'रणमल्ल छन्द' एक छोटा काव्यग्रथ है किन्तु बडा ही ओजपूर्ण है। लेखक का भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पडता है। वर्णन प्राचीन परम्परा के मानो को लेकर चलते हैं फिर भी बहुत सजीव हैं। कवि नाद-सौन्दर्य का चतुर नियामक है और अपनी कविता मे ऐसी शब्द योजना रखता है, जो ध्वनि की दृष्टि से वीर रस के प्रसंग के उपयुक्त होती है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कवि पर आरोप लगाया है कि उसकी भाषा मे अनेक बार नाद-सौन्दर्य को लाने के हित मे कई शब्दो इतना अधिक बदल दिया गया है कि वे पहिचाने भी नहीं जाते।[4] किन्तु मेरी धारणा है ऐसी मान्यता भ्रान्ति पर आधारित है। एक उदाहरण मेरी धारणा को स्पष्ट कर देगा। राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र मे डा० मोतीलाल मेनारिया का योगदान महत्व का रहा है, किन्तु वे भी ऐसे भ्रम से अपने को बचा नही पाये हैं। उन्होने अपनी पुस्तक 'डिंगल मे वीर रस' में लिखा है—एक बात जो डिंगल के सभी सभी कवियो मे समान रूप से पाई जाती है, वह है शब्दो की मनमाने ढग से तोड़ मरोड़।[5] एक ही शब्द को इस बुरी तरह तोड़ा है कि आज तो उसके मूल रूप को पहचानने मे भी भारी कठिनाई का सामना करना पडता है। आगे चलकर उन्होने शब्दों के ऐसे

१—के० का० शास्त्री : कविचरित—पृ० ५६
२—हिन्दी अनुशीलन—वर्ष ८, अक ३, पृ० ९२
३—के० ह० ध्रुव: प्राचीन गुर्जर काव्य—प्रस्तावना—पृ० ३
४—के० का शास्त्री· आपणा कविओ—भा० १, पृ० २९९
५—के० एम० मुशी : गुजरात एण्ड इटस् लिटरेचर—पृ० १५०

अनेक उदाहरण दिये हैं[1] जैसे शुद्ध रूप 'युधिष्ठिर' का डिंगल कवियो द्वारा प्रयुक्त 'जुजठिल' यहाँ इस प्रसग मे अधिक कहना प्रसग से बाहर की बात होगी, किन्तु उदाहरण मे दिये गये सभी शब्द उत्तरकालीन अपभ्रश (अवहट्ट) मे मिलते हैं, किन्तु प्राकृत-अपभ्रश के प्रख्यात और महाकवि चतुर्भुज स्वयभू ने स्वय 'जुहिट्ठल' शब्द का प्रयोग किया है।, केवल यह उदाहरण ही पर्याप्त होगा। इसी प्रकार अन्य शब्दो का मूल उत्स भी ढूढा जा सकता है। मेरी नम्र सम्मति के अनुसार भाषा सरस और नियमानुकूल है। हमे ऐसे प्राचीन ग्रथो की भाषा का अध्ययन करते हुए उनके वास्तविक समय को ध्यान मे रखना होगा। 'रणमल्ल छन्द' की भाषा 'अवहट्ट' से विकसमान देश्य भाषा है। व्यजना की दृष्टि से कही कही कविता बडी सुन्दर बन पड़ी है—यथा—

मुझ सिर कमल मेच्छपय लग्गइ,
तु गयणगग्गि भाण न उग्गइ ।
जा अम्बर पुडतलि तरणि रमइ,
ता कमधज कन्ध न धगड नमइ ।
वीर वडवानल तण झाल शमइ,
पुण मेच्छ न आपू चास किमइ ।

(-यदि मेरा सिर कमल म्लेच्छ के चरणो मे झुक जाय, तो गगन मे सूर्य नही उगे। जब तक आकाश मे सूर्य उगता है, तब तक कमधज (राठौड रणमल्ल) तुर्क को सिर नही झुका सकता। चाहे समुद्र जल से वाडवाग्नि भी बुझ जाय, किन्तु मैं म्लेच्छ को एक इच धरती नही लेने दूगा।)

युद्धवर्णन परम्परागत होने पर भी अनेक स्थलो पर कवि की प्रतिभा और वाग्विदग्धता का परिचायक है—जैसे·—

साहस वसि सरताणदल समुहरि जिम चमकत ।
तिम रणमल्लह-रोस-वसि मूछ-सिहरि फुरकन्त ।।

(जैसे ही सुल्तान की सेना शूरता से उत्तेजित होने लगी, त्यो हीं क्रोध के मारे रणमल्ल की मूछें फरकने लगी।)

श्रीधर मे काव्य-प्रतिभा थी और पर्याप्त गहराई थी। यह उसकी रचनाओ से स्पष्ट जान पडता है। अन्य वीर रस के कवियो की भाति वह एकागी नही थी, न अपने आश्रयदाता की प्रशसा मे उसने अतिशयोक्ति से ही अधिक काम लिया है। सारा काव्य प्रासगिक और सौष्ठव पूर्ण अलकारों से युक्त है। यह रचना इतिहास, काव्य, छन्दशास्त्र और भाषा चारो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। कवि की शेष दोनो रचनायें भी भाषा की दृष्टि से तो अधिक नही, पर सामग्री की दृष्टि से थोड़ा अन्तर रखती है। कवि विनयी था गम्भीर था, यह सप्तशती से स्पष्टत: जान पडता है। यह काव्य १२० छन्दो का है और इसका आरम्भ सस्कृत मे एक शार्दूल विक्रिड़ित

१—मोती लाल मेनारिया . डिंगल मे वीररस-भूमिका—पृ० २१
२—म० चि० मोदी : अपभ्र श पाठावलि—पृ० ३६

छन्द द्वारा किया गया है। उसके बाद ही कवि ने कहा है—

श्रीधर कवित्त कहइ मती मदह।
पूर्व छायो आर्या छदह ॥

अपने को मतिमन्द कह कर पुकारना ही उसके विनयी होने का प्रमाण है। इसी प्रकार कवि ने 'कवित्त भगवती' मे देवी की स्तुति की है, यह पहले कहा जा चुका है। इन तीनो रचनाओं मे सबसे प्रमुख 'रणमल्ल छन्द' ही है जो ऐतिहासिक जानकारी के लिये महत्वपूर्ण है।[1]

(ब) बादर ढाढी . वीरवांण[2]

वीरवांणका रचयिता बादर या बहादुर जाति का मुसलमान ढाढ़ी था।[3] पण्डित रामकर्ण आसोपा ने इसके रचयिता का नाम रामचन्द्र लिखा है,[4] जो ठीक नहीं है। जगदीश सिंह गहलोत की मान्यता है कि कवि बादर जाति का ढोली था और वह वीरमजी के लश्कर मे ऊंट के नक्कारे पर था। वह स्वयं लखवेरा के युद्ध मे था और उसने उक्त युद्ध का विस्तृत वर्णन अपने ग्रंथ मे किया है।[5] मोतीलाल मेनारिया इन्हे ढाढी मानते हैं[6] और राव वीरमजी का आश्रित ठहराते है।[7] कुछ भी हो, वीरवाण का रचयिता निसदेह ढाढी बादर था।[8]

इसके रचनाकाल को लेकर भी मतभेद है। और तो और, मोतीलाल मेनारिया दो ग्रथो मे भिन्न रचना काल निर्धारित करते हैं। डिंगल मे वीर रस मे उहोने रचना काल सवत् १४४० के लगभग माना है।[9] दूसरी ओर 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे वे लिखते हैं—'परन्तु जैसा कि कुछ लोग मान बैठे हैं, यह वीरमजी की समकालीन रचना नही है। कोई अठारहवी शताब्दी के मध्य मे यह रची गई है।'[10] डा० सुकुमार सेन के मत का समर्थन करते हुए डा० हीरालाल माहेश्वरी इसे पन्द्रहवी शती की रचना मानते हैं।[11] श्री नरोत्तम स्वामी भी इस काव्य की गणना चारण शैली की प्रारम्भिक रचनाओ-रणमल्ल छन्द तथा अचलदास खीचीरी वचनिका के साथ करके

१—सैयद अबुजफर नदवी : रणमल्ल छन्द अने तेनो समय।
२—रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत . वीरमांण
३—वही—भूमिका—पृ० १६
४—रामकर्ण आसोपा· राजरूपक—भूमिका—पृ० २
५—जगदीश सिंह : मारवाड राज्य का इतिहास—पृ० १०६
६—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—पृ० २२
७—मोतीलाल मेनारिया : डिंगल मे वीररस—पृ० ३७
८—गोवर्द्धन शर्मा : बादर नामक लेख—अमर ज्योति—वर्ष १०, अक २०
९—मोतीलाल मेनारिया : डिंगल मे वीररस—पृ० ३७
१०—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १७०
११—डा० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य—पृ० ७५

इसी मत की पुष्टि करते है।[1] इसी रचना को वीरमाण, निसाणी वीरमजीरी वीरमाण, निसाणी वीरमांणरी आदि नामो से भी पहिचाना जाता रहा है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर इसे सवत् १५०० के आस पास की रची हुई कृति माना जा सकता है। जैसे—ओझा जी के अनुसार वीरमदेव की मृत्यु सवत् १४४० हुई ।[2] वीरवाण मे रावबीरम के द्वितीय पुत्र राव चूडा के साथ ईन्दों के मुखिया उगमसीकी पोती के विवाह और दायजे मे मडोवर दिये जाने का उल्लेख है—

उगमसी इन्दोतनं पोती परणवै ।
मडोवर मे दी कर महर माता फरमावे ॥१०५॥

० ० ०

मुगला दोय हजारकुं घोरा घलवाया ।
राज मण्डोवर चूंडनु चामण्ड बगसाया ॥१०६॥
मण्डोवर पर चूडा का अधिकार सवत् १३५१ मे हुआ था ।[3]

इसी प्रकार गोगा का जोइयो के साथ युद्ध मे आहत होने और जलन्धरनाथ द्वारा उसकी काया अमर बनाने तथा उसे दसवा सिद्ध मान कर अपने साथ लिवा ले जाने का भी वर्णन है —

घण तोड़ण जोइयां घड़ा जिते कर समर ।
कठीये पग गोग कियो निज साद नरेसुर ॥
दरसण सिघ आपै दियो माथे कर मैहर ।
पाव उलटा साधीया आलपाण तणीयर ॥
इल अंवर गोगादतै तो काया अमर ।
हुय सिघ दसमो हालीयो सग नाथ जलंधर ॥१२६॥

जलधर नाथ द्वारा गोगा को अमर करने का वर्णन अन्तिम गीत मे है ।

भाज रांणक देव भाटी सवलडो अर साथ ।
कमघ गोगो अमर कीधो नमो जलधर नाथ ॥
नवनाथजी नवनाथ नाथां ऊपरा नवनाथ । ६ ।

रेउजी ने गोगा का जन्म सवत् १४३५ तथा स्वर्गवास संवत् १४५६-६० मे माना है ।[4] अतः प्रतीत होता है कि सवत् १४६० के बाद ही किसी समय इसकी रचना हुई है, पहले नही। अनुमान है कि इसकी रचना सवत् १५०० के आसपास हुई होगी जवकि गोगा जी के उल्टे पांव जुडने, काया अमर होने और दसवें सिद्ध के रूप मे जलधरनाथ के साथ साथ चले जाने की किंवदन्ती लोक-जीवन मे प्रचलित हो

१—नरोत्तमदास स्वामी : राजस्थानी साहित्य-एक परिचय—पृ० २९
२—ओझा · जोधपुर राज्य का इतिहास—भाग १, पृ० ३३६
३—रेऊ : मारवाड का इतिहास—भाग १—पृ० ६१ फुटनोट
४—विश्वेश्वरनाथ रेऊ : मारवाड़ का इतिहास—प्रथम भाग पृ० ५६-५७

घात-प्रतिघात के कारण कभी कथा घटना प्रधान और कभी वर्णन प्रधान होती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। वर्णन की त्वरा और घटना की तेजी एक दूसरे को ठेलते हुए गन्तव्य स्थान तक चलते है। काव्य के कुछ पदो ने तो आज कहावतो का सा रूप धारण कर लिया है, जिससे इसकी प्रसिद्धि का पता चलता है —

(क) पग पग नेजा पाडीया पग पग पाडी ढाल।
बीबी बूझे षान नै, जोध किता जगमाल ?

(ख) गीदोली बाधी गले जगमाल अनाड़ै
जको न देवै जीवतो, कुण मार लीराड़ै

(ग) भुषा तीरसा आपरा, वाघी जै घोडा
ढलीया हूत न आवही, गोगा दे घोड़ा। आदि।[1]

"वीरवाण" मे ऐतिहासिक घटनाओ का यथा तथ्य निरूपण किया गया है। साथ ही मार्मिक प्रसगो के अनुकूल भावनापूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी हुई है। काव्य मे वर्णित प्रमुख घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) जैतसिह रो झगडो—जैतसिह द्वारा गुजरात के परमारो पर आक्रमण कर राजधरा पर अधिकार करना।

(२) मालदेजी रो समो—अहमदावाद के मुहम्मद बैगडा से युद्ध कर गीदोली का हरण करना। इसमे पांच झगड़ो अर्थात् युद्धो का वर्णन है।

(३) वीरम जी और जोहियो का युद्ध जिसमे वीरमजी और जोहियो के सम्बन्ध, युद्ध के कारण, युद्ध का वर्णन और युद्ध के परिणाम दिये गये हैं। इसी प्रसंग मे दिल्ली बादशाह के अशर्फियो से लदे ऊँटो की राठोडो द्वारा हुई लूट और युद्ध का वर्णन भी दिया गया है।

(४) वीरम जी के पुत्र चूण्डा द्वारा मडोवर पर अधिकार करना।

(५) वीरमती के एक पुत्र गोगादेव द्वारा जोहियो से युद्ध कर वीरम जी की मृत्यु का बदला लेने और वीरगति प्राप्त करने का वर्णन।

उपरोक्त पाचो ही घटनायें इतिहास प्रसिद्ध हैं और सम्बन्धित ग्रथो से प्रमाणित होती है। विशेषप्रमाणो के अभाव मे इन घटनाओ को अनैतिहासिक नही ठहराया जा सकता।[2]

'वीरवाण' की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे कवि ने मुसलमान होते हुये भी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। जोहिया मुसलमानो की सहनशीलता का परिचय भी प्रस्तुत काव्य द्वारा प्राप्त होता है। जोहियो ने वास्तव मे वीरम जी और उनके साथियो की हठधर्मीपूर्ण कामो और अपराधो से विवश हो कर ही युद्ध

१—हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य—पृ० ७७
२—लक्ष्मी कुमारी चूडावत: वीरवाण—भूमिका—पृ० १२—१३

किया था। फिर वीरमजी की रानी मांगलियाणी ने जोहिया मुसलमानो को अपना राखीबन्ध भाई बनाया तो दोनो ही पक्षो ने अपने उच्च सम्बन्धो का निर्वाह किया। यहा तक कि चूण्डा जी भी अपने मामा पर तलवार चलाने के लिए नही तैयार होते हैं और गोगादेव जी को वीरमजी का बदला लेने के लिए भेजते हैं।

'वीरवाण' मे वीररस का उत्कृष्ट निरूपण हुआ है। वीरवाण वास्तव मे वीररसप्रधान काव्य है और इसमें आलबन, उद्दीपन, स्थाई एवं सचारी भावो का विस्तृत वर्णन हुआ है। युद्ध के कारण मध्ययुगीन परिस्थितियो के सर्वथा अनुरूप हैं जैसे स्त्रीहरण, मार्ग मे जाते हुए धन का लूटना, घोड़ो ऊँटो और गायो को घेरना, धार्मिक भावनाओ पर आघात करना आदि। युद्ध का वर्णन तो कवि-कल्पना और ओज से ओतप्रोत हुआ है।

'वीरवाण' की तीसरी विशेषता कथावस्तु का सुसगठित होना है। काव्य सम्बन्धी प्रत्येक घटना पिछली घटनाओ से जुड़ी है और वीरम जी तथा जोहियो के युद्ध मे सघर्ष चरम सीमा पर पहुँचता है। सघर्ष का अन्त गोगादेव द्वारा जोहियो से बदला लेने से होता है और यही काव्य पूर्ण भी होता है। इस प्रकार काव्य की कथा वस्तु भी पूर्ण सगठित है।

'वीरवाण' की भाषा डिंगल है। 'वीरवाण' की भाषा पूर्णरूपेण परिमार्जित नही होते हुए भी विषय के अनुरूप ओजपूर्ण है।[1]

(३) पद्मनाभ : कान्हडदे प्रबन्ध–[2]

'रस की परम्परागत आवश्यकताओ के अतिरिक्त पद्मनाभ सदा यथार्थवादी रहा। समसामयिक अनेक कवियो मे से पद्मनाभ ही एक मात्र ऐसा कवि है जिसने घटनाओ और चरित्रो का इतनी चतुराई से निर्माण किया है कि समग्रत समूचा 'कान्हडदे प्रबन्ध' रुचिकर बन गया है। राजपूत एवं मुसलमान योद्धाओ का वर्णन वास्तविक और जीवन के अनुरूप है।[3] 'तत्कालीन समाज के चित्र, रसनिष्पत्ति, वर्णन-चातुर्य-प्रबन्धात्मकता और सामाजिक परिस्थितियो का यथायथ्य चित्रण, संयमित कल्पना, उचित काव्य रूढियो व परम्पराओ का पालन किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का ध्यान आदि अनेक विशेषताओ के होने पर भी कवि 'पद्मनाभ' हिन्दी विद्वानो द्वारा उचित सम्मान न पा सका।

पद्मनाभ की एक मात्र कृति 'कान्हडदे प्रबन्ध' ही मिली है और उसके उद्धार का श्रेय भी प्रसिद्ध जर्मन विद्वान बूलर को ही है, जिन्होने इसे एक जैन भडार से प्राप्त किया था। कवि के सम्बन्ध में अधिक जानकारी तो मिलती नही है किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर निम्न बातें कही जा सकती है। पद्मनाभ विसनगर का

१-लक्ष्मी कुमारी चूडावत : वीरवाण–भूमिका–पृ० १५

२–के० वी० व्यास. कान्हडदे प्रबन्ध

३–गोवर्द्धन शर्मा : राजस्थानी कवि-भाग–१–पृ० १९

नागर ब्राह्मण था और जालौर (मारवाड) के एक राजपूत सामन्त अखैराज चौहान का आश्रित था। उसने सवत् १५१२ मे अपने श्रेष्ठ काव्यग्रथ 'कान्हडदे प्रबन्ध' की रचना की। 'राजस्थानी ही नही हिन्दी के भी प्रारम्भिक युग के ग्रन्थो में कदाचित् ही कोई ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना तिथि इतनी निश्चत हो। इसी प्रकार इस ग्रथ का पाठ भी अपने मूल रूप मे प्राय सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ आधार प्रस्तुत करता है।[1]

पद्मनाभ ने अपने आश्रयदाता अखैराज चौहान के पूर्वज जालौर नगर के शासक कान्हडदे के चरित व वीरता को लेकर अपने काव्यग्रथ की रचना ही। कान्हडदे प्रबन्ध मे विस्तार पूर्वक अल्लाउद्दीन खिलजी और उसके सेनापति अलफखाँ द्वारा गुजरात, काठियावाड व राज स्थान पर किये गये दुर्दान्त आक्रमण का वर्णन है। अन्हिलवाडा से हिन्दू राज का अन्त और सोमनाथ के ज्योतिर्लिग का उखेडना दो मुख्य ऐतिहासिक घटनायें हैं। जालौर के शासक कान्हडदे को जव इस धार्मिक अत्याचार का सवाद ज्ञात हुआ तो क्षत्रियोचित गुणो के अनुसार ही उसने मुसलमानी सेना का मुकावला किया। बारह वर्ष के घेरे के वाद भी मुसलमानी सेना को सफलता न मिल सकी। अन्त मे उन्होने छल और अनीतिमूलक साधनो का आश्रय लिया। इस सबका वर्णन कवि ने वडे शक्तिशाली ढग से किया है। अनेक स्थान पर पाठक स्वयं कविता पढते पढते वीर भावना मे उत्त`जित हो उठता है, यही कवि का रस कौशल है। शैली सीधी सादी है, अलकार, विषय और वस्तु कविता के मर्म से वढ नही पाये, न अन्य राज्याश्रित कवियो की भाति पद्मनाभ ने चमत्कार और रूढि ग्रस्त परम्पराओ का ही प्रयोग किया है। कवि की अभिव्यक्ति जितनी सरल है उतनी ही प्रभावजनक और सशक्त भी। इतिहास की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ का महत्व काफी है। अतिरजना के दोष से कवि सर्वत्र बच सका है जिससे प्रस्तुत कृति और भी अधिक विश्स्त हो गई है। डा० माता प्रसाद गुप्त की मान्यता है कि ग्रन्थकार उसी राजवश से सम्बन्धित था जिसको ग्रथ के कथानायक ने पवित्र किया था। इस बात की सम्भावना यथेष्ट है कि उसको कथा की सामग्री उस राजवश के लिखित और अलिखित इतिहासो से प्राप्त हुई हो। इसीलिए उस युग के इतिहास के अध्येता के लिये यह ग्रथ अत्यन्त मूल्यवान होगा। यदि हम तत्कालीन समाज और भूगोल की विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी चाहते है तो पद्मनाभ के 'कान्हडदे' प्रबन्ध को सबसे उपयोगी पायेंगे।

पद्मनाभ की प्रतिभाने हमे दो अत्यन्त ही सजीव और विशिष्ट चरित्र दिये है —एक तो है कथानायक कान्हडदे और दूसरी है शाहजादी फिरोज़ा। दोनो पात्र अनेक दृष्टियो से विशेषता रखते है। अन्य वीरकथाओ अथच प्रबन्ध काव्यो के नायको के प्रतिकूल कान्हडदेव शृगार से दूर है। वह समूचे हिन्दू समाज का त्राता

१–डा० माताप्रसाद गुप्त: आलोचना भाग १४, पृ० ६४

जान पड़ता है। अलफखान ने सोमनाथ को तोड़ दिया और उसे वह गाडियों में लाद कर दिल्ली ले चला। प्रत्येक धर्मनिष्ठ हिन्दू विचार कर उठा।

> आगई रुद्र ! घणई कोपानलि दैत्य सवे तिह बाल्या।
> तिह पृथ्वी माही पुण्य वरतावीऊ देवलोकि भय टाल्या॥
> ति वलकाक त्रिपुर विध्वसिउ पवनवेगि जिम तूल।
> पद्मनाभ पूछई सोमईया ! केथऊ करु त्रिशूल।

हे रुद्र ! पहले तो तुमने अपनी कोपाग्नि में अनेक दैत्यों को जला दिया। ससार मे पुण्य का प्रसार तुझी से है। भयातुर देवताओ को अभयदान तूने ही दिया, जिस तरह प्रभजन रूई का नाश कर देता है उसी तरह तूने शक्तिशाली त्रिपुर राक्षस को नष्ट कर दिया। पद्मनाभ पूछता है कि हे सोमनाथ ! अब तेरे त्रिशूल को क्या हुआ ?

ऐसी विकट परिस्थितियो मे कान्हडदे अपनी धर्म भावना से अनुप्राणित हो आगे बढ़ता है—मुसलमानो की सेना को मार भगाता है और उसी प्रस्तर खण्ड की नई मूर्तियाँ बनवा कर विभिन्न स्थानो मे स्थापित करता है। यहाँ अन्य नायको के समान किसी राजकुमारी के हरण के लिए 'कान्हडदे नहीं बढता किन्तु केवल रक्षा के लिये। उसके तेजस्वी उत्तर—जैसे कि पुरु ने सिकन्दर को दिये थे—सुन कर चित फड़क उठता है। आन पर मिटने वाला तेजस्वी, साहसी उत्सर्गमय, कट्टर, टूटने को तैयार पर झुकने को तैयार नहीं, पराक्रमी, वचनपाल, उदार, और निर्भीकता से व्यवहार करने वाला, कान्हडदे अन्त मे पराजित होता है। कान्हडदे एक पात्र विशेष है, किन्तु वह सामान्य जनता की भावनाओ का सक्रिय प्रतीक है अतः वह सामान्य पात्र भी है। सामूहिक हलचल का नेतृत्व करने वाला कान्हडदे परम्परा से सर्वथा भिन्न हाड़-मास का सजीव पात्र जान पडता है। तत्कालीन कवियो की कला से तुलना करने पर पद्मनाभ की सराहना किये बिना नही रहा जाता।

दूसरा चरित्र है फिरोजा का, जो अलाउद्दीन की पुत्री है और कान्हडदे के पुत्र वीरमदेमे प्रेम करती है। यहाँ कवि ने लोक कथाओ मे पूर्वभव सम्बन्ध का तत्व उठाया है और फिरोजा के प्रेम को शाश्वत, चिरपुरातन, जन्मजामान्तर से माना है। यहा इतिहास की दृष्टि से असगति जान पडती हैं। ऐतिहासिक काव्य की विशेषतायें यहाँ गौण हो उठती हैं और कथा लोककथा की तरह मोड ले लेती हैं। वस्तुतः इस देश मे इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ मे कभी नही लिया गया। हमारे काव्यो मे तथ्य और कल्पना का, फैक्टस और फिक्शन का अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति मे और मनुष्य के अपूर्व शक्ति भण्डार होने मे दृढ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यो को सदा काल्पनिक रगों मे रगा है।[1] इस पृष्ठ-भूमि में ही हम फिरोजा के चरित्र की उद्भावना को ठीक से समझ सकते हैं।

१–हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदि काल–पृ० ७१

पद्मनाभ ने तत्कालीन लोकप्रिय छन्द यथा चौपाई, दूहा, सवैया आदि का प्रयोग किया है। बीच मे पांच भावुकता से लबालब गेय गीतो का भी सृजन किया है। दो स्थल पर गद्य का भी प्रयोग हुआ है। समग्रत: कहा जा सकता है कि कविता अभिव्यक्ति, इतिहास, भाषा सभी दृष्टि से 'कान्हडदे प्रबन्ध' एक महत्वपूर्ण कृति है और पद्मनाभ राजस्थानी के श्रेष्ठ कवियों मे से एक।

(४) शिवदास. अचलदास खीचीरी वचनिका [1]

यह तुकान्त गद्य पद्य मिश्रित रचना है जिसमे दोहा, सोरठा, छप्पय और कुडलिया छन्दों का प्रयोग हुआ है। गद्यसमुच्चय और छन्दो की कुल संख्या १२० है। इसके रचयिता चारण शिवदत्त हैं। ये गाडण शाखा के चारण थे।

इसमे माडू के बादशाह होसगगोरी और नागरीनगढ के राजा अचलदास खीची के युद्ध तथा राजपूत स्त्रियो के जौहर का अत्यन्त सफल चित्रण किया गया है। टेसिटरी इसे युद्ध की समकालीन रचना मानते है। खिलचीपुर राज्य की ख्यात के अनुसार इस युद्ध का समय १४८५ वि० है।[2] किन्तु रेऊजी इस युद्ध को १४९० के लगभग मानते हैं।[3]

लोक प्रचलित वात शैली मे रचना का प्रारम्भ सरस्वती वंदना से हुआ है। शब्दो की अधिक तोड मरोड नही है और नही अनावश्यक अनुस्वार बहुलता तथा द्वित्ववर्णो का प्रयोग है। वीररस की प्रमुखता है। कवि ने दोनो पक्षो का हाल देते हुए मुठभेड का रोचक वर्णन किया है। युद्ध की भयकरता ने अचलदास के मार्ग अवरुद्ध कर दिये।

युद्ध मे विजय की आशा न देखकर बालक राजकुमार पाल्हणसी को वशरक्षा निमित्त किले से बाहर अन्यत्र भेजने की योजना हुई। इधर वीरागनाओ ने जौहर की तैयारी की और उधर राजकुमार ने सदा के लिये सबसे विदा ली। भरे हृदय से ससार का ऊंचनीच उसको समझाया गया। बडा करुण दृश्य उपस्थित हो गया—

> पाल्हणसी भला भला लोका का कह्या करणा चार साभल्या आसू पूछि अकमाल लीयौ। विजइ वम वगडी की नाई सकल ही प्रिथमी प्रतिपिज्यो यौ गढ लीजउ। हमारउ वइर सुरिताण गोरी राजा सउ कीज्यो।
>
> पाल्हणसी पुहविहि रह्यो अनि समह्या सरगि।
> तिणि वेला हीया भरी राइ राइ रोवण लगि।

अब जौहर के लिए पावक तैयार की गई। प्रत्येक क्षत्राणी ज्वाला मे एक के बाद एक 'शिव' 'शिव', 'हरि' 'हरि' कहती हुई कूदने लगी। प्रत्येक को जल मरने की जल्दी थी—

१—अनूप सस्कृत लायब्रेरी—प्रांत सख्या ११

२—राजस्थान भारती—भाग ५—अङ्क १—पृ० ८४

३—रेऊ : राष्ट्रकूटो का इतिहास—भाग १—पृ० १४३

चीतवियो चहवाणि जउंहर की मांडउ जुगति ।
हुव हुइस्यां हर पुर दिसा वेगा वेगि विहांणि ।।
व्योमोह्यो वर वीर, घरि घरि सत देपे घणउ ।
आया राह हरि आपरइ, समहरि अचल सधीर ।
वेला तिणि वसुहागि, धडहडती धूवा पपइ ।
तणो अतेवर ऊठिमी, अग हू जाणे आगि ।।
ते चाली तिणि ठाहि, आइसि अचलेसर तणै ।
ससि वयणी सिव सिव करे, पइसें पावक माहि ।।
छूटि न जाई छेहि माहे जउहर मेल्हलै ।
आइ आइ चढै उतावली पटराणी पागेहि ।।
जउहर जालणहार अनइ जलइ ताह ऊचरै ।
हरि हरि हरि होइ रह्यो विसन विसन तिणि वार ।।

इधर, तलवारें लिए, अचलदास सहित, सव योद्धा गढ से निकल कर शत्रु सेना पर टूट पड़े और उन्होने हसते हसते प्राण की आहुति दी । ससार में उनका नाम अचल हो गया—

सातल सोम हमीर कन्हजिम जोहर जालिय
चढिय पेति चहवाण आदि कुलवट उजालिय
मुगल चिहुर सिर मडि वपि कठि तुलसी वासी
भोजाउति भुज वलहि करिहि करिमर कालासी
गढ पडि पडती गागुरणि, दिढ दोपे सुरिताण दल
ससारि नांव आतम सरगि अचल वेवि कीधा अचल ।[1]

(५) वीठू सूजा: राव जैतसीरो पाघडी छन्द[2]

इसमें वीकानेर के राव जैतसी के पूर्वजो के—राव चूडा से लेकर राव लूणकरण के पराक्रमो तथा जैतसी की हुमायू के भाई कामरा पर विजय प्राप्ति के हृदयग्रही वर्णन हैं । जैसा कि नाम से विदित होता है, काव्य मुख्यतया पाघडी छद मे ही लिखा गया है । प्रयोग मे आने वाले अन्य छन्द हैं—गाहा, दोहा और कलम' सव मिलाकर ४०१ छन्दो मे काव्य समाप्त हुआ है । इनकी रचना सवत १५९१ और १५९८ के वीच किसी समय हुई थी ।

यह काव्य अपनी रचना के लगभग ३० साल वाद, सवत् १६२९ में लिपिवद्ध किया गया था, अत: उस समय की भाषा का स्वरूप इसमें है, यही नही विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति राजपूतो की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण इसमें मिलता है । एक ओर विदेशियो की मदान्धता तथा विजयलिप्सा, और दूसरी ओर, स्वदेश प्रेम, आन मान, तथा जातिकुल गौरव की भावनाओ से ओत-प्रोत राजपूतों का उनमे जूझना काव्य का प्रधान विषय है । गौण घटनाओ मे राव के पूर्वजो के विभिन्न कारणो से अन्य राजपूत नरेशो और मुसलमानो से हुए युद्ध प्रधान हैं । उस समय युद्धो के

१–हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य—पृ० ८६-८७
२–टेसिटरी : राउ जइतसी रउ छन्द

कारण कुछ इसी प्रकार के हुआ करते थे। अतः सामूहिक रूप से, तत्कालीन युगव्यापी सामरिक मनोवृत्ति के चित्रण एव घटना क्रम के स्पष्टीकरण के लिए, इस काव्य को एक प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता है। यह काव्य वर्णनप्रधान और वीररस से परिपूर्ण है। युद्ध और उससे सम्बन्धित प्राय. प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु का वर्णनकवि की पैनीदृष्टि का परिचायक है। भाषा मे ओज एव स्वाभाविक प्रवाह है। यथावसर यह प्रवाह तूफान की सी तेजी धारण कर लेता है। शैली मे सादगी किन्तु प्रभावोत्पादक शक्ति है। काव्य को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। पहले मे राव चूडा से लेकर जैतसी के पिता राव लूणकरण तक के वर्णन और दूसरे मे मुगलो के साथ राव जैतसी के युद्धो के वर्णन सम्मिलित है।

राव जैतसी मे पूर्वजो की परम्परा का वर्णन करते हुए कवि जैतसी और कामरान के वीच हुए युद्ध पर आ जाता है। यहाँ वह जम कर लिखना शुरू करता है। युद्ध मे कितने सरदार कौन कौन से अश्वो पर चढे इसकी विस्तृत सूची दी गई है।[1] अस्त्रशस्त्र से लैस होकर अर्ध रात्रि को उन्होने द्रुत गति से मुगल सेना पर छापा मारा। रात्रि की निस्तब्धता भग करते हुए 'जयराम' कहकर वे पिल पडे, मानों हाथियो के झुण्ड पर क्रुद्ध सिंह झपट पडा हो। 'महम्मद', 'महम्मद' कहते हुए मुगलो ने भी हथियार सभाले। घनघोर युद्ध हुआ। राजपूतो ने प्रलय मचा दी और मुगल सेना लौहार की ओर भाग चली। जैतसी की विजय हुई। राम ने जिस तरह सीता को छुडाया था, उसी तरह जैतसी ने अपनी मरुधरा को—

घूघाहर सोमी सेन ढोइ, हइवै दलि हुई होइ होइ।
मुहमद नाव जपिय मुहाह, तेग गहि उठिया मीर ताह ॥३७३॥
ताणिय कमाण कनाढ तूग, वाणाउलि ऊडिय लोहि वूग।
जध राम जपिय होदू जणेहि, धातिया ताम घोडा घणेहि ॥३७४॥
राठउडि रोलि रेवत रध, विछूट जाणि सकली वध।
पतिसाह सेन हुवतइ पगेहि, माथै असि चाडिय मारवे हि ॥३७५॥
खाफरां कहत वाहइ खडग्ग, वासदे जाणि बने विलग्ग।
ऊतरा सेनि जइतउ अवीह, सीधरे पईठउ जांणि सीह ॥३७६॥
धडहडै ढोल धूजइ धरति, पडियालगि वरसइ खेडपति।
वीकाहर राजा ईद वगि, खाफरा सिरे खिविया खडगि ॥३७७॥
रडवडइ रूड खाडे विखड, ताजिग्रा तूड पडिया प्रचड।
सै घणी भोमि वाहरू सीत, देवता राव पाड्इ दईत ॥३९५॥

युद्ध के दृश्य का चित्रात्मक वर्णन पाठक की कल्पना मे साकार उपस्थित हो जाता है। वह रणभेरी का तुमुल निनाद, मुगलो के मुहम्मद और राजपूतो के राम की

१-छन्द २३४ से २४२

जयकार, योद्धागणों का गाजर मूली की भांति कटना और रक्त से परिपूर्ण रणभूमि पर लुंठित मुंडों और कबन्धों का प्रत्यक्ष देखने लगता है। कवि के प्रस्तुत वर्णन की सजीवता स्वाभाविकता चित्रोपमता और कुशलता की जितनी ही प्रशंसा की जाय, थोड़ी है और इससे भी अधिक श्लाघ्य राव जैतसी को अमरत्व प्रदान करने वाली यह विजय है जिसकी इति उसके रणकौशल तथा तात्कालिक युद्धनीति के परिज्ञान में है।

प्रस्तुत कृति में कवि द्वारा दी गई वंश परम्परा को देखकर डा० जगदीश श्रीवास्तव कह उठते हैं[1]—रचना के आशय तथा कलेवर एवं कथानक के लिए यह अतिरिक्त सामग्री अनुपयुक्त है, अहितकर तथा अत्यधिक है और प्रत्यक्षतः असंबद्ध भी। यदि इस अतिरिक्त सामग्री को ग्रंथ की भूमिका या पीठिका स्वीकार किया जाय तो भी यह ग्रंथ के लिए अति विस्तृत तथा अशोभनीय भी है। शायद विद्वान लेखक ने डिंगल चारण काव्यों की परम्परा को समझा नहीं है। डिंगल के प्रायः सभी काव्यों में आश्रयदाता की वंशपरम्परा देने का रिवाज रहा है। करणीदान ने तो सूरज प्रकाश में अपने आश्रयदाता के वंश का प्रारम्भ ब्रह्मा से किया है।[2] अधूरी जानकारी से ऐसी ही भ्रान्तियों का जन्म होता है। अस्तु।

(६) मादू माला : झूनणा महाराज जयसिंहजीरा[3]

यह लगभग ३०० पंक्तियों की छोटी सी रचना है। कवि, सर्व प्रथम रायसिंह जी के पूर्वजों—राव बीका से लेकर कल्याणमल के पराक्रमों का संक्षिप्त वर्णन करके रायसिंह जी का वर्णन प्रारम्भ करता है। रायसिंह जी से सम्बन्धित दो मुख्य घटनाओं का कवि ने वर्णन किया है। एक उनकी उत्तक और तोगा पर चढ़ाई और विजय तथा दूसरी गुजरात विजय। अकबर की सहायता के लिए गुजरात पर किये आक्रमण का चित्र देखिये—

दूजोई भारत मडीयो गुजरात कटके
नाद नफेरी नहनहे त्रंबाल त्रहके
अणीया ऊभा ऊपरे अरहा उलके
असफर पाफर अपत उर मुप वायक वके
आमा मीर वहादरां ले चढिया चके
पैठा रीठ निरीठ अग पल कध कडके
जिम भैंसासुर भजीया सिर वरण लटके
लूंहु मुज भारत झेलीया दल आगल जिके।

१–जगदीश श्रीवास्तव, डिंगल साहित्य—पृ० ११४।
२–विस्तृत जानकारी देखिये—अध्याय चौथा।
३–प्रति० न० सी० ३५-२३।रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता

(७) पृथ्वीराज राठौड वेलि क्रिसन रुकमणीरी ।।[1]

पृथ्वीराज बीकानेर नरेश रायसिंह के अनुज थे और अपने बडे भाई की राजनीतिक आवश्यकता के कारण अकबर के यहा रहते थे । इनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण एकम् स० १६०६ मे बीकानेर मे ही हुआ । तत्कालीन राजपुत्रो की भाति ही इनका लालन पालन हुआ । बडे होकर जिन उच्च गुणो के भण्डार ये बने, ऐसे विरले ही राजपुत्र हुए है । पीथल के निम्न डिंगल ग्रन्थ प्रसिद्ध है—(१) वेलिक्रिसन रुकमणो री (२) दसम भागवत रा दूहा (३) गगालहरी (४) वसदेरावउत (५) दसरथरावउत (६) फुटकर पद गीतादि ।

इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ 'वेलि' है । नाभादास ने 'भक्तमाल' मे इनकी गणना कर,[2] दुरसा आढ़ा ने 'वेली' को 'पाँचवा वेद मान'[3] और जनश्रुति ने इनकी मृत्यु के समय सफेद कौवे के आगमन की कथा गढ़[4] उन्हे भक्त बना दिया है और वेलि को भक्ति काव्य का रूप दे दिया है । किन्तु उन्होने स्वय उसे 'नायिका' की प्राथमिकता देकर शृ गार काव्य-घोषित किया है[5] और वयसधि, नखसिख, सयोग शृ गार, षट्ऋतु वर्णन पर पूरा ध्यान दिया है । दूसरी ओर रुकमणी हरण, व शिशुपाल, रुक्म, बलराम व कृष्ण के युद्ध का वर्णन कर उसे वीर काव्य बना दिया है । भक्ति, वीरता और शृ गार की ऐसी त्रिवेणी भला कहा मिलेगी ? डा० टेसिटरी ने वेलि की प्रशसा मे लिखा है, यह काव्यकला की दक्षता का विलक्षण नमूना है, जिसमे आगरा के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्र सहजता के साथ अनेकानेक

---

१ (अ) नरोत्तम स्वामी· क्रिसन रुकमणीरी वेलि
(ब) टेसिटेरी वेलि क्रिमन रुकमणीरी
(स) ठाकुर पारीक वेलि क्रिसन रुकमणीरी
(द) आनन्द प्रसाद दीक्षित वेलि क्रिसन रुकमणीरी

२ सवया गीत सलोक वेलि दोहा गुग नव रस ।
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विधि गायो हरिजस ।।
परिदुख विदुख सलाध्य वचन रचना जु उचारे ।
अर्थ विचित्र निमोल सवै सागर उद्भारे ।।
रुकमणि लता वरणन अनुप वागीसवदन कल्याण सुव ।
नर–देव उभै–भाखा निपुण पृथीराज कवि–राज हुव ।।

३ रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण
वेलि तास कुण करइ वखाण ?
पाचमउ वेद भाखियउ पीथल,
पुणियउ उगणीसमउ पुराण ।।

४ आनन्द प्रसाद दीक्षित. वेलि क्रिसन रुकमणीरी—भूमिका—पृ० १७

५ शुकदेव व्यास जैदेव सारिसा, सुकवि अनेक ते एक सन्थ ।
त्री वरणण पहिलो कीजै तिणी, गू थियै जेणि सिंगार ग्रन्थ ।।

काव्य गुण विस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है और जिसमें रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौंदर्य तथा काव्य के बाह्य आकार की निष्कलंक शुद्धता को ज्वाजल्यमान रूप मे प्रदर्शित किया गया है[1]। यह डिंगल का श्रेष्ठतम 'क्लेसिक' है। राजस्थान के प्राचीन पुस्तकालयो और जैन भडारो मे शायद कोई ऐसा हो, जहा इसकी दो चार प्रतिया न मिले। इसी काव्य ग्रन्थ को संस्कृत मे टीका लिखी जाने का सौभाग्य मिला। राजस्थान की विभिन्न बोलियो मे भी इसकी टीकायें लिखी गई हैं।

'दसम भागवत रा दूहा' शान्त रस की कृष्ण भक्ति को आधार बना लिखी हुई रचना है। 'गगा लहरी' मे भागीरथी की स्तुति मे ८० के लगभग दोहे रचे गये हैं। 'दशरथ रावउत' और 'बलदेव रावउत' ग्रन्थो मे क्रमशः राम भक्ति व कृष्ण भक्ति के दोहे हैं। इनके अतिरिक्त पीथल रचित अनेक वीररसात्मक फुटकर गीत, दोहे व कवित्त भी राजस्थान मे प्रचलित हैं। ये रचनायें युग सापेक्ष हैं और तत्कालीन मुगल आतक के नीचे कराहती मानवता की अभिव्यक्ति हैं। इनमे असाधारण वल, प्रचड प्रवाह और प्रखर तेजस्विता है। इसी गुण को देख कर ही तो डा० टैसीटेरी ने उन्हे डिंगल का 'होरेस' कहा और टाड जैसे इतिहासकार को उनकी कविता में दस सहस्त्र घोडो का बल स्वीकार करने मे गर्व अनुभव हुआ।[2] कहना न होगा, पीथल डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे से एक हैं।

कर्नल टाड ने इनके सम्बन्ध मे लिखा है—पृथ्वीराज अपने समय के क्षत्रियों मे एक श्रेष्ठ वीर थे और पश्चिमीय ट्यूडर राजपुत्रो की भांति अपनी ओजस्विनी कविता के द्वारा मानव हृदय को स्फूर्त और प्रोत्साहित कर सकते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर हाथ मे तलवार लेकर स्वयं लड भी सकते थे। इतना ही नही, राजस्थान के कवि समुदाय ने एक स्वर से काव्य गुणोत्कर्ष का सेहरा भी इन्ही वीर राठोड़ के सिर पर बाधा था।[3] यह निश्चित है कि पीथल् निपुण योद्धा और निपुण कवि दोनों थे।

वेलि कथा को मोटे रूप से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागो मे बाटा जा सकता है। पूर्वार्द्ध मे कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण की कथा का विविध प्रसगों सहित वर्णन है। इसमे प्रारम्भ से लेकर कृष्ण रुक्मिणी के विवाहोपरान्त मिलन और प्रभात वर्णन, छन्द सख्या १८६ तक का भाग सम्मिलित है। उत्तरार्द्ध षट्ऋतु वर्णन के पश्चात् शृ गाररस शनै शनै. लौकिक धरातल छोडता चलता है और अन्त मे भक्ति मे पर्यवसित हो जाता है। कवि की आत्मश्लाघा मानो इस दिव्य प्रेम और भक्ति की घोषणा है। कलाकृति को देखते हुये कवि की आत्मश्लाघा को डा० टैसिटरी ने भी स्वाभाविक ही बताया है।

---

१ टेसिटरी : वेलि–अग्रेजी भूमिका—पृ० ३

२ टाड : एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज् आफ राजस्थान—एनल्स आफ मेवाड—ग्यारहवां अध्याय।

३ मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १२१

भावानुकूल नाद सौन्दर्य युक्त शब्दचयन और प्रसगानुकूल भाषा के लोच ने वेलि की रमणीयता मे चार चाद लगा दिये हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द देखे जा सकते हैं —

वळकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि,
वरजित विसिख विविरजित वाउ।
धडि धडि धवकि धार धारू जल,
सिहरि सिहरि समखै सिलाउ ॥११९॥

काली करि कांठलि ऊजळ कोरण,
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चालिया दिसो दिसि जलग्रभ,
थभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥

वरसतै दडड नड़ अतड वाजिया,
सघण गाजियाँ गुहिर सदि।
जलनिधि ही सामाइ नही,
जल जळ वाळा न समाई जलदि ॥१९६॥

कलापक्ष और भावनापक्ष के सामजस्य, ध्वन्यात्मक शब्दो के प्रयोग, भाषा के लालित्य एव सहज प्रवाह, रसानुकूल भावोत्तेजन के यथावसर प्रकटीकरण और इन सबके उचित सम्मिलन के कारण वेलि एक ज्वलन्त प्रौढ कलाकृति हो गई है।

(८) माधोदास दधिवाड़िया : रामरासो[1]

ये चूंडाजी दधवाडिया के पुत्र थे। इनका जन्म मेडता परगने के बलूदा गाव मे सवत् १६१०–१६१५ के आपास हुआ था। कहा जाता है कि ये जोधपुर के महाराजा सूरसिह जी के आश्रित थे।[2] अभी तक इनके तीन ग्रथो का उल्लेख मिला है–(१) रामरासो (२) भाषा दशमस्कध तथा (३) गजमोख या गुण गजमोख।

रामरासो मे बोलचाल की राजस्थानी और साहित्यिक–डिंगल का मिश्रण है। वेण—सगाई का पालन यथासभव किया गया है। इसमे राम जन्म से लेकर रावण की मृत्यु के उपरान्त अयोध्या मे राम के राज्याभिषेक होने तक, सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन है। कवि का उद्देश्य सीधे साधे ढग से राम की केवल राम की कथा कहना है। अत उसने किसी प्रकार के अनावश्यक या इतर विस्तार मे न जाकर मूल कथासूत्र पर ही अपना ध्यान रखा है। प्रसगवश, कुछ मोटी-मोटी अन्य घटनाओ का भी उल्लेख हुआ है, जो रामचरित के साथ अविच्छिन्न रूप से जुडी हुई है। यह वीररस का, उत्कृष्ट कोटि का वर्णन प्रधान महाकाव्य है। विचित्र घटनाओ और वर्णनो के सयोग

---

१ लालभाई दलपतभाई सस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद की प्रति

२ हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य पृ० १६६

से कथा बड़े वेग से गन्तव्य स्थान तक चलती है। प्रारम्भ से लेकर राम के समुद्र पार उतरने तक के विविध वीररस के प्रसगों के अतिरिक्त, अगद के रावण की सभा से लौट आने के प्रसग से लेकर रावण की मृत्यु तक, लगभग ३२० छन्दों में वीररस से परिपूर्ण युद्ध का ही वर्णन हुआ है। यह अत्यन्त सजीव बन पड़ा है। अन्य रसों की भी, प्रसगवश, यत्र तत्र झांकियां देखने को मिलती हैं, किन्तु प्रधान रस वीर ही है। मुख्य कथा में विषयान्तर कहीं भी नहीं हुआ है और नहीं इधर उधर की धुर-प्रसगों की कथाएँ कवि ने ली है। विषयान्तर अथवा धुर-प्रसगों के वर्णन उतने ही हुए हैं जो या तो मुख्य कथा में आवश्यक हैं, अथवा उनकी गति आगे बढाते हैं। वक्ता-श्रोता के जोड़े अथवा कथा के सर्गों या काण्डों में विभाजन के कोई प्रसग नहीं हैं। स्वय कवि ही कथा कहता है।[1]

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के युद्ध का दृश्य देखिए—

> घूजी धरा सेस धड़हडीयो, पड़तो सध्या लषमण पड़ियो।
> वडी धाक एक उग्वाहे, वोहड़ि घणू लषमण मो वाह्य।
> हू आयो पग मांडि चोर हव, देषिवि कर म्हारा कर दाणव।
> रामण वाण राम छेदे रण, राघव वाहे छेदे रामण।

गजमोख निसाणी छन्द मे रचित लघुकृति है, जिसकी कथा का मूल आधार भागवत है। सरोवर में पानी पीते समय गज को ग्राह ने पकड़ लिया। आर्त गज की प्रार्थना पर भगवान जाकर ग्राह को मारते हैं और गज का उद्धार करते हैं।

कथा के आरम्भ मे, कवि ने पहाड़, जगल और सरोवर का सुन्दर चित्रण किया है। इसकी हस्तलिखित प्रतियों में पाठ-भेद मिलते है। छन्द सख्या भी कहीं ८० और कहीं ६८ पाई जाती है। सीधी-सादी प्रवाहपूर्ण भाषा में बड़े रोचक ढंग से कवि ने गजमोक्ष की कथा का वर्णन किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

> मडे तंडव झड झड गिर मोर मल्हारा
> पापर भापर वनसपती पैहैरी चुह पारा
> तेण सरवर वन अन्तरैं वसैं गयद वडाला
> लोचण चोल कपोल लोल धुंमर ढीचाला
> गाज करता राज-मत्त अजल निध आया
> वारण वरण विरोल लैं जम ग्राह जगाया
> ग्राह राह च्यारे ग्रहे (प) ट हथी पाया
> ऊमैं दोप भवलेप कुण बलवत बधाया
> पुत कलत परवार पू डि पग थया पराया
> पु निम दूतीय चद ज्यु घटीया गज राया

+ + +

---

1 हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य—पृ० १७०-१७१

(९) सांया जी झूला : नागदमण ।[1]

सांयाजी झूला ईडर राज्य के लीलछा गाव के निवासी चारण स्वामिदास के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म स० १६३२ मे और देहान्त स० १७०३ मे हुआ था। ईडर नरेश राय कल्याणमल इनके आश्रयदाता थे जिन्होने इनको एक लाख पसाव और कुवावा नामक एक गाव प्रदान किया था।

सायाजी भगवान श्री कृष्णके अनन्य भक्त थे। इनकी कविता कृष्णभक्ति से ओतप्रोत है। भाषा इनकी डिंगल है जिस पर गुजराती का भी थोड़ा सा रग लगा हुआ है जो स्वाभाविक है। क्योकि ये काठियावाड़ी थे। इनके दो ग्रथ उपलब्ध है, रुक्मिणी हरण और नागदमण।[2]

नागदमण मे कालिय मर्दन की कथा कही गई है। उसमे ४ दोहे, ११४ भुजगप्रयात और ८ छप्पय सब मिला कर १२९ छन्द है। नागदमण का विशेष महत्व उसके वर्णनो और सवादो के कारण है। ये बहुत ही पुष्ट और सजीव बन पडे हैं। वर्णन ऐसे है कि जिनसे सारा का सारा दृश्य अपने आस पास के वातावरण के साथ साकार हो जाता है। इसी प्रकार सवादो मे विशेपतया नागणी और कृष्ण के सवादो मे माधुर्य, वात्सल्य, आश्चर्य, भय, उत्साह आदि भावो का एक साथ सुन्दर सामजस्य मिलता है। वे बडे फबते हुए और उपयुक्त है। सलग वर्णन और सुन्दर सवाद एक दूसरे से गुंथकर पाठक की और जिज्ञासा बढाते रहते हैं। अन्त मे जब श्री कृष्ण नाग को नाथ कर यमुना के ऊपर आते है, तो हर्ष और भक्ति से सारा वातावरण रस-स्निग्ध हो जाता है। वर्णन दो प्रकार के पाए जाते हैं—दृश्य वर्णन और रूपवर्णन। इनके प्रसग निम्नलिखित हैं--

१—प्रात काल गायो को लेकर वन जाना
२—श्री कृष्ण की रूपमाधुरी,
३—कालिय नाग का बल वैभव तथा कृष्ण की सुकुमारता और निरस्त्रता
४—कालिय नाग का जागना तथा उसकी भयकरता,
५—नाग युद्ध—उसके फणो पर श्री कृष्ण का नृत्य आदि।

कृष्ण के सुकुमार और नाग के भयकर रूप वर्णन की पृष्ठभूमि पर, नाग का नाथा जाना एक अलौकिक दृश्य उपस्थित करना है। एक दृश्य देखिए कालिय नाग क्रुद्ध हो फण उठाये दौडा। उसकी फुत्कार से अगारे उठने लगे, शेपनाग का ओज घट गया और धरती डोल उठी।[3]

---

१ चारण हमीरदान द्वारा पालनपुर से प्रकाशित।

२ मोतीलाल मैनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य-पृ० १३२

३ झवेरचन्द मेघाणी ; चारणो अने चारणी साहित्य—पृ० ६३

मचे मूढ मारा झरे श्रोण झारा,
कार्णारा घणारा करे फत्तकारा ॥१०३॥
उटाहे गल फौलारा अँगारा,
अन्नारा झगारा उभे कीध आरा ॥१०४॥
वुमोरा वमारा गहे घाम मारा,
गहड़ावा गमारा गडी गुठणारा ॥
थमे श्रोन धारा भलो सेप मारा,
धृजती धरारा थरक्के थभारा ॥१०६॥

अन्त मे कवि ने अपने काव्य और कृष्ण की इस लीला का वर्णन यों किया है ।

सणे पर्ण समवाद, नंद नदन अहिनारी
समद्र पार संसार होय गोपद अनुहारी
अनत अनत आनन्द, सवै वपु ताम सुहावे
भगत मुगत भडार क्रश्न मुगताज कहावे
रचियो चरित्र राधारमण दो भज क्रन काली दमण ।
चैनवण सुणण गहरा तणा मटण काज आवा गमण ॥

रुक्मिणी हरण मे श्री कृष्ण रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है । यह एक वीर-रस पूर्ण वर्णनात्मक काव्य है, जैसा कि प्रारभ के दोहे मे कहा गया है—

हूँ गायेम रुपमण हरण, मंगलाच्यार मुकद ।
कुल जादव पूरण कला, प्रगटे परम अणद ॥

गौण रूप मे वीभत्स रस का वर्णन भी मिलता है । इसमें रसानुकूल शब्द योजना और चित्रमय वर्णन स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं । 'नागदमण' की भांति 'हरण' मे भी सवाद और विविध वर्णनों के प्रसग प्रमुख हैं । रुक्मिणी के विवाह के विषय को लेकर, सवाद का प्रसग राजा भीमक और रुपमी के बीच, प्रारम्भ के लगभग १०० छन्दों तक चलता है ।

१–शिशुपाल के कुन्दनपुर आते समय विविध शकुनो का होना,
२–बलदेव के द्वारका से रवाना होते समय उनकी युद्ध की तैयारी,
३–रुक्मिणी हरण पर युद्ध तथा
४–विवाहोत्सव पर द्वारका नगरी की सजावट ।

रुक्मिणी जब अम्बिका पूजनार्थ जाती है, तो कृष्ण उसे अपने रथ में बिठा लेते हैं । साथ मे रक्षार्थ आई सेना ने यह देखा, फौरन रणतूर्य बज उठे । दोनो पक्षों में युद्ध आरभ हो गया । काव्य का सर्वोत्तम प्रसंग इस युद्ध वर्णन का है । कवि ने पहले से ही इसकी पृष्ठभूमि तैयार कर रखी है । युद्ध का बहुत ही सागोपाग वर्णन कवि ने किया है । हुँकार और जयकार, सेना की दशा, शस्त्रास्त्र, उनके चलने की आवाज, दिवस में रात्रि का सा अन्धकार, हाथियो की सूडो और सैनिकों का कट

कर गिरना, तलवारो की भिड़न्त, शंख, झाझ आदि का घोष, शत्रुओं की मृत्यु आदि के सजीव वर्णन नादमय शब्दो मे अकित किये गये है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द देखे जा सकते है—

भेटती अबका हुयी मन भावियो, क्षत रथ षेड़ ने मैंहे मोहैण आवियो।
दुलहणी जल् वैसाड़तो देषियो, ऐवडो सेन पण चत्र औलष्षियो॥
छत्रपती वड वड़ा छलण नै छै तरण, हालियो जुगत सु करे रुषमण हरण।
संषधन पूरिया संषरी नाद सुण, भयो जैकार ते वार त्रैवो भवण॥
घर हर अवरे राल वाजत्र घुरै, पैदल हैदलं गैदलं पाषरै।
भूह मूँछ भली रोल् वाजत्र रुड़े, चढै सिसपाल चतुरग फौजं चढैं॥
ऊपडी बागना रज्जअबर अडै कष कोरभ वाराह दढ कड़कड़े॥
आरषे पारषे सारषे अवुये, हाथियो जण परवत पष हुये।
मगल चचल मेण वहैता मथी, सूर सूझे न को सूर रथ स्वारथी।
एतरे बदभी वाजिया ऊबरे, पूरि संषरा नाद पाटो घरै।
धूबरे धार जोधार धार जल, सुडाले तापडे साथ दतुसल।
गजमोती जुरासिघ वाहै गदा, जणज्यो दांमणी वीज कीजै जुदा।
वाजिया वार वाराय वीराधिये, रोहिया जण वाराह पारधिये।
नाद नीसाण सैहनाइया, सालुलें सिधुयो नाद से रईया।

ग्रीधणी, साकणी, डाकिणी, अंबिका, कालिका, भूत, बैताल, खेचर, भूचर आदि की उपस्थिति से युद्ध की भयकरता का पता चलता है। इसी स्थल पर वीभत्स रस की झलक भी दिखाई देती है। वीररस मानो अपनी पूर्णता पर हो—

पल्चरा खेचरा भूचरा पषणी, गहकिया भूतड़ा प्रेतड़ा ग्रीधणी।
वीर वैताल् वैगाल् ने षोहणी, आविया अहचे आप आपै अणी।
अवका ऊलका जालपा जोषणी, जबका कालका मैनका जोगणी।
साकणी डाकणी डयणी समली, काल भैरव, हणमत नै कलगली।
दुहुँ दल दडवडी वांकडी गागिये, जाजर्यो आणषा ताल् पुड जागिये।
जझन मीच करसीसा लागा झाहण, पत्र भर जोगणी रत्त लागी पियण।
डाक वहमाक हुकार वण, घाये घूमै घुलें मडे माजण घडण।

इस प्रकार युद्ध का वर्णन कवि ने खूब जम कर किया है उसकी वृत्ति उसी में रमी है।

(१०) रतनू वीरभांण : राजरूपक[1]

मारवाड़ नरेश अभयसिंह के आश्रित कवि वीरभांण रतनू शाखा का चारण था और घडोई ग्राम का निवासी था। सवत् १७४५ मे जन्म लेकर यह स्वाभिमानी

---

१ रामकर्ण आसोपा : राजरूपक—नागरी प्रचारिणी से प्रकशित।

कवि ४७ वर्ष की आयु पाकर स्वर्गवासी हो गया। राजदरबारी कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने आश्रयदाताओं के मनोनुकूल कविता करते हैं, आवश्यकता पड़ने पर स्वरचित कविता को बदल भी देते हैं। वीरभाण एक अपवाद जान पड़ता है।

देहली के बादशाह मुहम्मदशाह ने अपने गुजरात के सूबेदार सरबिलंदखां के अविनय से नाराज होकर गुजरात का सूबा महाराजा अभयसिंह को दिया। महाराज ससैन्य अहमदाबाद गये। सरबिलंदखां से खूब जमकर युद्ध हुआ और अन्त में राठौड़ों को ही वरमाल पहिनाई। इस युद्ध में महाराजा के साथ अनेक चारण थे, उनमें से दो मुख्य थे—कविया करणीदान और रतनू वीरभाण। इन दोनों कवियों ने अहमदाबाद के युद्ध का आंखों देखा हाल लिखा। करणीदान का ग्रंथ 'सूरज प्रकाश' और वीरभाण का ग्रन्थ 'राजरूपक' कहलाया। अपने अपने ग्रंथों की समाप्ति के बाद दोनों कवियों ने महाराजा को अपने ग्रंथ सुनाने चाहे। अशान्त वातावरण, राजनैतिक उथल पुथल का युग, हर समय शत्रु का लगा हुआ खटका, कभी यहां तो कभी वहां ऐसे समय में महाराजा को कविता सुनने का अवकाश कहां? कुविचारों के बवंडर में काव्यरसास्वादन के उपयुक्त मनःस्थिति कहां से आवे? महाराजा ने दोनों कवियों से उनके ग्रंथों का परिमाण पूछा। जानकारी मिलने पर उन्होंने ऐसे विशाल काय ग्रंथों को सुनने में अपनी असमर्थता प्रकट की और कवियों से कहा—'यदि आप अपने ग्रंथों का सार सुनाना चाहें, तो मैं सुनने को तत्पर हूं। कवि करणीदान ने अपने ग्रंथ 'सूरज प्रकाश' का सार 'बिड़द-सिणगार' के रूप में कर सुनाया और फलस्वरूप अपार सम्मान विपुल ऐश्वर्य और कीर्ति का अधिकारी हुआ। महाराजा ने उसे जागीर, लाख पसाव और अभूतपूर्व सम्मान दिया। किन्तु जब कवि वीरभाण की बारी आई तो उसने नम्रता पूर्वक कहा 'अन्नदाता! यह काम मुझसे नहीं होगा। मैंने अपने ग्रंथ में फालतू की एक भी बात नहीं लिखी। अब उसमें काट छांट कैसे करूं? अपनी कविता की यह निर्दय हत्या मैं स्वयं कदापि न कर सकूंगा। क्या कहीं गागर में सागर भरा जा सकता है? मुझे क्षमा किया जाय।'

महाराजा वीरभाण की रचना 'राजरूपक' नहीं सुन सके। और कवि पुरस्कारादि से वंचित ही रह गया।

वीरभाण ने 'राज रूपक' को एक काव्य-ग्रंथ बनाया, किन्तु उसे बनाते बनाते वह 'इतिहास' लिख गया। इतिहास की भूमि पर, तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रस से सिंचित, 'राज रूपक' वल्लरी का जन्म हुआ था। कवि ने शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस काव्य ग्रंथ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ ४६ प्रकाशों में बांटा गया है। कवि ने परम्परागत पद्धति को अपना सृष्टि के प्रारम्भ से अपने आश्रयदाता महाराजा अभयसिंह जी की वंशावली की स्थापना की है। तेजस्वी व बहुप्रतिभा सम्पन्न कवि, योद्धा, धर्मरक्षक महाराजा जसवन्त सिंह के वर्णन के साथ ही कवि ने इतिहासकार का बाना पहन लिया है। तिथि, वार, संवत् समय सभी का उल्लेख कवि ने किया है।

किस युद्ध में किस पक्ष से कौन योद्धा लड़े। वे कहां के थे, कैसे थे, सभी का ब्योरा बडी तन्मयता से दिया गया है। छोटी घटना भी कवि की निगाह से बच नही सकी। राजनैतिक छल, सधिसग्रह, कूटनीतिक चाल सभी का कवि ने यथातथ्य और अत्यन्त सादगी से वर्णन किया है। समझौते के समय कौन से सामन्त दरबार मे हाजिर थे। कैसे बात चली, तर्क-वितर्क हुए, कवि ने इन सभी तथ्यो पर ध्यान रक्खा है। इतिहास के अध्येताओ और तत्कालीन समाज स्थिति के विद्यार्थियो के लिए इस काव्य-ग्रथ की उपयोगिता निर्विवाद है। ऐसे तथ्यमय ग्रथ को सक्षिप्त करना सम्भव था भी नही; अतः कवि महाराजा अभयसिंह से लाख पसाव पाने से वचित रह गया।

कवि ने अपने ग्रथ मे अनेक डिंगल व पिंगल के छन्दो का प्रयोग किया है। दोहा, चौपाई, छप्पय, वेअक्खरी, गाथा, त्रोटक, भुजगी, चौरस, नाराच, पद्धरि, हणुफाल, वेताल, आदि विविध छन्दो का उपयोग किया है। भाषा डिंगल है और प्रसाद गुण सम्पन्न है। बहुधा प्रयुक्त किये जाने वाले अनुस्वार अथवा द्वित्तवर्णों के प्रयोग से कवि ने अपनी कविता को वोझिल नही बनाया है। इसी कवि का एक अन्य ग्रथ 'भागवत दर्पण' भी पाया गया है। नाम से ग्रन्थ के विषय मे हम अनुमान कर सकते हैं कि यह भागवत को आधार कर लिखा गया ग्रथ होना चाहिए।[1]

(११) करणीदान : सूरज प्रकाश[2]

करणीदान की वीरता की प्रशसा कर्नल टाड ने बहुत अधिक की है। करणीदान ने स्वय महाराजा अभयसिंह के साथ अहमदाबाद युद्ध मे भाग लिया था। जिस स्फूर्ति, साहस और पराक्रम के साथ वे शत्रुसेना को छिन्न भिन्न करते हुए बाहर निकल आये थे, वह अलौकिक व आश्चर्यमय जान पडता है। वे केवल तलवार के ही धनी के नही थे, सरस्वती के भी वरद पुत्र थे। उस अशान्ति, युद्ध और विग्रह के युग मे भी वे नियमित रूप से लिखते पढते रहे। 'सूरज प्रकाश' कवि का एक वृहद काव्य ग्रथ है जिसका परिमाण ६५,००० छन्द है। महाराजा को सुनाने के लिए इन्होने इसी विशालकाय ग्रथ का सक्षिप्त रूप १२६ पद्धरि छन्दो में किया, जिसका नाम 'विड़द सिणगार' रखा गया। इसी रचना से प्रसन्न होकर महाराजा ने इन्हें लाख पसाव, जागीर आदि ही नही दी, किन्तु उन्होने हाथी पर सवार कराया और वे स्वय घोड़े पर चढ कर इनकी हाजिरी मे चले और कविराजा को उनके निवास स्थान तक पहुचाया। इस विषय पर यह दोहा प्रसिद्ध है—

अस चढियो राजा अभो, कवि चाढ़े गजराज।
पोहर हेक जलेव मे, मौहर चलै महराज॥

'सूरज प्रकाश' डिंगल भाषा की एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। कवि ने परम्परागत शैली को अपनाते हुए पहले पौराणिक पृष्ठभूमि मे राजवश का

१—गोवर्धन शर्मा : राजस्थानी कवि—भाग २ पृ० ४४-४७

२—पुस्तक प्रकाश (जोधपुर की प्रति)

इतिहास लिखा है और महाराजा जसवन्तसिंह के वर्णन तक आते ही सविस्तार लिखना शुरू कर दिया है। महाराणा जसवन्तसिंह, अजीतसिंह और अभयसिंह के जीवन की घटनाओं को इन्होंने खूब जमकर लिखा है। कवि ने यतियों के आडम्बर भ्रष्टाचार और दुराचार को देखकर उनकी खूब खबरी ली। ग्रंथ का नाम 'जतीरासा' था। कहा जाता है कि पीछे मे किसी विद्वान शुद्धाचरण यती के कहने मे उस ग्रंथ को उन्होंने नष्ट कर दिया।

करणीदान के लिखे अनेक डिंगल गीत भी पाये जाते हैं। उन्होंने ब्रजभाषा में भी कविता की है। इनके रचित कुछ श्लोक सस्कृत मे भी पाये गये हैं। इसमे निष्कर्ष निकलता है कि कवि का इन भाषाओं से अच्छा परिचय था। जिस सफलता के साथ इन्होंने सजीव चित्र खीचे हैं, वे कवि के नैपुण्य और भाषाधिकार के द्योतक हैं। अलकारो का सुन्दर प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है। राजवश की उत्पत्ति को अनेक पौराणिक आधारों पर उठाया गया है। इनकी शैली मे 'क्लेसिकल टच' सा जान पडता है। इसका कारण सभावतया इनका पुराणादि धर्म ग्रयो, काव्यों और व्याकरण ग्रन्थो का नियमित अध्ययन ही होना चाहिए। छन्दोभग बहुत कम है। लगता है कि कवि बहुत परिश्रमी और अध्यवसायी था। इनकी कविता का उदाहरण देखिये[1]।

तद हलै विदा हुय मूंछ ताण।
जल जेम ऊजले समंद जाण।
खैंडेचे खडिया थाट खूर।
सम्रवां काल विकराल सूर ॥२८॥
 गाजिया नगारा गयण गाज।
 भूमि एवासी गया भाज।
 गैमरां हैमरां चीया गोड़।
 तखरां झगरा दीह तोड ॥२९॥
लोहरां लगरां झाट लाग।
अधफरा गिरा तर झटे आग।
मेवास लूटगा मगज मेट।
फूटगा गिरन्द हैताल फेट ॥३०॥
 तूटगा नदी सिर नीर त्रास।
 खूटगा हुआ चोगान खास।
 उड़ गया सहर घर छोड साथ।
 सिवला देवाडां तणां साथ ॥३१॥
चालीस कोस हैजम चलाय।
जालीस घरत चालीस जाय।

१—करणीदान: विरद शिणगार, पद २८ से ३३

रचकियो धु हडाँ भड़ा राव ।
देवडा भड़ा माथै दबाव ॥३२॥
सीरोही ऊपरा खीवसार ।
आबू धूजै गिर अढार ।
अर्बुदाँ तणा जम्मात ईश ।
सरदा जिम आणै घणा सीस ॥३३॥

(१२) मछाराम : रघुनाथ रूपक गीतारो [1]

ये जोधपुर नगर के सेवग जाति के परिवार मे सवत् १८२७ मे जन्मे । इनके पिता का नाम बख्शीराम था और वे स्थानीय ओसवालो की वृत्ति करते थे । इनके कविता गुरु महाराजा मानसिंह के एक मन्त्री भडारी अमरसिंह के पुत्र किशोरदास थे, जैसा कि इन्होने अपने ग्रथ 'रघुनाथ रूपक' के आरम्भ मे लिखा है—

सद्गुरु प्रणाम किसोर, सचिव अमरेस सवाई ।
करै पिता जिम कृपा, तिकण गुण समझ बनाई ॥

मछाराम का लिखा अभीतक सिर्फ एक ग्रथ 'रघुनाथ रूपक' प्रकाश मे आया है । कवि का ज्ञान, भाषा पर अधिकार, उपलब्ध कविताओ की परिष्कृति इस बात की द्योतक है कि कवि ने और भी बहुत कुछ लिखा होगा किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक वह उपलब्ध नही हो पाया है । कवि की सारी प्रसिद्धि केवल इसी एक ग्रन्थरत्न पर निर्भर है । मछाराम स्वय राम का भक्त था । उसने डिंगल छन्दो (गीतो)पर एक काव्यशास्त्रीय रचना की और उसीमे भगवान् राम की गुण गाथा लिखी । 'रघुनाथ रूपक' नव विलासो मे विभाजित है । प्रथम दो विलासो मे वर्ण, गण, दग्धाक्षर, दुगण, अक्षरत्याग, फलाफल, वयणसगाई, काव्य दोष, अखरोट, उक्ति के लक्षण, भेद, रसो के नाम, लक्षण इत्यादि का वर्णन है । शेष सात विलासो मे डिंगल काव्य मे प्रयुक्त होने वाले ७२ जाति के गीतो का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन है । चूकि गीतो के उदाहरण मे राम कथा कही गई है, इसीलिए ग्रन्थ का नाम 'रघुनाथ रूपक' रखा गया है । रामकथा का आधार तुलसी कृत 'मानस' ही है ।

'रघुनाथ रूपक' रीति ग्र थ अथवा छन्द ग्र थ की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है । डिंगल गीतो के सम्बन्ध मे प्रमाणित व निर्दोष जानकारी देने वाला कोई ग्रन्थ इसकी तुलना मे नही । यह निस्सदेह उत्कृष्ट कृति है । डिंगल भाषा का यह सर्वोत्कृष्ट रीति ग्रन्थ माना जाता रहा है और फलस्वरूप इसे कुछ विद्वानो ने डिंगल काव्य-शिरोमणि कहकर पुकारा है । आधुनिक गुजरात के छन्द शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान स्वर्गीय रामनारायण पाठक ने भी अपने प्रख्यात विश्वकोष सदृश्य व्यापक ग्रन्थ 'वृहत् पिंगल' मे डिंगल गीतो की विवेचना के लिए 'रघुनाथ रूपक' को ही प्रामाणिक

१—महताब चन्द्र : रघुनाथ रूपक गीतारो—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

राजा के परलोक गमन का वृतान्त सुनकर उनकी चारों रानियां भी सती हो जाती है तथा इस प्रकार वे अपने सतीत्व तथा प्रतिप्रेम का परिचय देती हुई और भारतीय नारी जाति का मुख उज्ज्वल करती हुई, स्वर्ग मे जाकर पति से मिलती है।[1]

अन्य उल्लेखनीय रचनाओ मे कल्याणदास रचित गुणगोविन्द, जोगीदास कृत हरिपिंगल प्रवन्ध, खतसीका भाषाभारथ, रामदान का भीमप्रकाश, किशन जी आढा कृत रघुवरजस प्रकाश, पृथ्वीराज सादू प्रणीत अभयविलास और गोपीनाथ गाडणका ग्रन्थराज महत्वपूर्ण रचनाएं है। चूंकि यहां हमारा उद्देश्य डिंगल काव्य का ऐतिहासिक अध्ययन करना नही है अपितु रूपात्मक अध्ययन करना है, हमने मात्र कुछ प्रतिनिधि एव विभिन्न प्रकार की रचनाओ की चर्चा की है।

हमने डिंगल काव्य की प्रमुख प्रबन्धात्मक रचनाओ पर विचार किया। अब हम उन रचनाओ का परिचय प्राप्त करना चाहेगे जो मूलत: राजस्थानी की रचनाएं हैं किन्तु परवर्ती डिंगल से भिन्न है। इसे दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि मारवाडी या राजस्थानी की ये रचनाएं ही डिंगल काव्य का प्रारंभिक आधार रही हैं। इनमे से प्रमुख रचनाएं निम्न हैं—

(१) असाइत : हंसाउली[2]

सिद्धपुर के एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार मे असाइत का जन्म हुआ। उनके पिता राजाराम ठाकुर, भारद्वाज गोत्र के औदिच्य ब्राह्मण थे, जिनका जीविका निर्वाह यजमानी से चलता था। असाइत का स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व का है। गुजराती लोकनाट्य भवाई के जनक के रूप मे भी उनकी ख्याति है।[3] उनकी रची हंसाउली रचना राजस्थानी भाषा मे लिखित एक प्रेमाख्यान है। भारतीय मनसा मे प्रेम के अमरत्व व जन्मजन्मान्तरो मे भी सयोग की सभावना की भावना बहुविध व्याप्त है। विभिन्न योनियो मे जन्म लेने पर भी सच्चे प्रेमी एक दूसरे के प्रति अपने अनुराग मे दृढ रहते हैं। यह लोक विश्वास ही इस काव्य कथा का मेरु दण्ड है।[4] इसमे हंसावली और वत्स के प्रेम का निरूपण किया गया है।

असाइत एक उदार व्यक्ति थे। उन दिनों जैन व ब्राह्मण दोनो वर्गों मे पटती नही थी। वे काफी अंश मे एक दूसरे के प्रति असहिष्णु से थे। यद्यपि धर्म के नाम पर उग्रता नही थी, पर सहनशीलता का अभाव था। असाइत ने अपनी कृति हंसावली द्वारा इतना भाव सतुलन दिखाया कि उसे लोग[5] जैन कवि मानने लग गये। यह

१—जगदीश श्रीवास्तव : डिंगल साहित्य—पृ० १२३

२—गुजरात विद्यासभा की हस्तप्रति

३—के० का० शास्त्री . कवि चरित—भाग १—पृ० ४

४—गोवर्द्धन शर्मा . राजस्थानी कवि भाग १—पृ० १९

५—मो० द० देसाई : जैन गूर्जर कविओ—भाग १—पृ० ४६

१४११ मे एक जैन कवि विनयभद्र ने 'हंसवच्छ चौपाई' लिखी है। इसका अर्थ हुआ कि हसवच्छ की प्रेमकथा लोक प्रचलित थी, उसे ही असाइत ने विकसित किया है। ससार के चिर नवीन और चिर पुरातन प्रश्न प्रेम को लेकर चलने वाला यह कथा-काव्य अपने मे लोक कथाओ के अनेको तत्व सन्निहित किये हैं। इस तथ्य से मेरी मान्यता की पुष्टि ही होती है। हसाउली का पूरा नाम 'हमवच्छ चरित पवाडा' है और यह ४४० छन्द मे समाप्त हुआ है। समूचा काव्य-चार खडो मे विभाजित है। कविता मे चमत्कार की प्रधानता नही है, अलकारो की चमक दमक नही है किन्तु गम्भीर रसमयी धारा का प्रवाह है। यथा स्थान कवि ने श्रृंगार, अद्भुत, हास्य व करुण रसो की सफल अभिव्यजना की है।

(२) भीम : सदयवत्स चरित[1]

सम्वत् १४६६ मे लिखित, कवि भीम विरचित 'सदयवत्स चरित' ६७२ कडियो का एक प्रेमाख्यान है। इसमे उज्जयिनी के राजा प्रभुवत्स और शालिवाहन की राजकुमारी सावलिगा की प्रेम कहानी है। अनेक आवान्तर प्रसगो से युक्त इस प्रेमाख्यान की भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी है। इसी कथानक को लेकर अनेक जैन अजैन लेखको ने सदयवत्स-सावलिगा आख्यान लिखे हैं, जो इसके लोकप्रिय कथानक के सूचक हैं। इस काव्य का रचयिता कवि भीम दुर्भाग्य से अपने उच्चकोटि के काव्य के अनुरूप प्र द्धि नही पा सका, किन्तु यह सब पर्याप्त जानकारी के अभाव मे हुआ। यह ।नसकोच रूप से कहा जा सकता है कि कवि भीम प्रदत्त 'सदयवत्स चरित' काव्य की गणना प्राचीन राजस्थानी के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थो यथा 'रणमल्ल छन्द', 'कान्हडदे प्रबध', 'ढोलामारू रा दूहा', 'माधवानल–कामकदला' आदि के समक्ष की जा सकती है।

कवि के जन्म, मृत्यु, बचपन, निवास, जीवन किसी के सम्बन्ध मे हमें कोई जानकारी नही मिलती। कवि सहृदय है, यह उसकी कविता की सरसता व वाग्विदग्धता से जान पड़ता है। सस्कृत की अच्छी शिक्षा पाया हुआ था। यह उसके द्वारा रचित, ग्रंथ के प्रारम्भ मे रचित आर्यायो से जान पड़ता है, क्योकि उनमे कोई त्रुटि नही दीख पड़ती। वह वैदिक धर्मावलम्बी है। ग्रथ के प्रारम्भ मे उसने ओकार, सरस्वती व गणपति की वन्दना की है। कवि का अपनी भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पड़ता है। कविता-कला की दृष्टि से भी वह सफल सिद्ध होता है। उसने प्रारम्भ मे अपने काव्य के सम्बन्ध मे घोषणा की है —

सिंगार हास करुणा रूद्दो वीरो भयान वीभत्थो।
अद्भुत शात नवइ रसि जसु जपिसु सुदयवच्छस्स।।

कहना न होगा कि इस छोटे से काव्य ग्रथ मे कवि ने अपने कौशल से साहित्य के नवो रसो की उचित उद्भावना की है। कवि की भाषा तत्कालीन 'पुरानी

१—लालभाई दलपतभाई संस्कृति मदिर की प्रति

२—राजस्थान भारती – भाग ३, अक १ मे नाहटाजी का लेख

पश्चिमी राजस्थानी' है। भाषा के अध्येताओं के लिये यह ग्रंथ बड़े काम का है। तत्कालीन भाषा का बहुत कुछ स्वरूप इसमें सुरक्षित रह गया है। सदयवत्स के पूर्व जन्मों का भी वर्णन किया गया है। ऐसा करने मे प्रेम कथा के शृंगार रस से उसका वीर और अद्भुत रस का निरूपण अधिक आगे बढ गया है। छन्दों की दृष्टि से दूहा, पद्धरी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुण्डलिया व मौक्तिक दामका प्रयोग किया गया है। कवि की शैली ओज और प्रसाद गुण सम्पन्न है। प्रत्येक छन्द का प्रयोग स्थल और विषय के अनुरूप किया गया है। अनेक स्थलों पर कवि ने घटनाओं का चित्रोपम सरस वर्णन किया है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो हमारे सामने घटना घटित हो रही है।[1]

इतना सब होने पर भी कवि को किसी बात का अभिमान नही है—वह कहता है —

गुरु लहुजि केवि कवियण सरसुअरया सुछदवधमरा।
ए कंठठाणि सव्वे करजुअल जोडी पणिमामि ॥

(३) नरपति नाल्ह : वीसल दे राम

वीसलदे रास के निर्माता नरपति नाल्ह और उसके रचनाकाल के बारे मे विद्वानों मे मतभेद है। मोतीलाल मेनारिया, विसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को सोलहवी शताब्दी के एक गुजराती कवि नरपति से अभिन्न मानते है। वे हमारा ध्यान एक नई सम्भावना की ओर आकर्षित करते है—मालूम होता है कि मूल ग्रंथ गुजराती मे था, जिस पर किसी ने बाद मे राजस्थानी का रंग चढाया है।[3] और अपनी मान्यता के सिद्ध करने के लिए उन्होने वीसलदे रासो और गुजराती कवि नरपति की रचनाओ मे भाषा और अभिव्यक्ति का साम्य दिखाया है। आचार्य हजारीप्रसाद भी मानते हैं कि मेनारियाजी की मान्यता ठीक है।[4] इधर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सत्यजीवन वर्मा उन्हे भाट मानते हैं किन्तु अगरचन्द जी नाहटा सेवग। डा०रामकुमार वर्मा नरपति नाल्हकी अपने आलोचनात्मक इतिहास में काफी प्रशसा करते हैं। मेनारियाजी उसे १६वी व सत्यजीवन वर्मा १३वी सदी का कवि ठहराते हैं।

वस्तुत: कवि और उसके समय के बारे मे हमारी जानकारी सीमित है और इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री के अभाव मे अन्तिम रूप से कुछ भी नही कहा जा

१—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि—भाग १-पृ० ५६
२—(अ) स० सत्यजीवन वर्मा : वीसलदे रास।
(ब) स० माताप्रसाद गुप्त : वीसलदे रास।
३—मोतीलाल मेनारिया: राजस्थानी भाषा और साहित्य-पृ० ८८
४—हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य-पृ० ५२

सकता। हां, इतना स्वीकार किया जा सकता है कि चौदहवी सदी मे इसकी रचना हो चुकी थी।[1]

इस ग्रन्थ का विस्तार २००० चरणो मे हैं। इसमें चार खण्ड हैं। पहले खड मे ८५ छन्द है और मालवा के अधिपति श्री भोज परमारकी लडकी राजमतीका वीसलदे के साथ विवाह वर्णित है। दूसरे खड मे ८६ छन्द हैं जिनमे वीसलदेव की राजमती के प्रति उदासीनता और उड़ीसा की ओर रणयात्रा का उल्लेख हैं। तीसरे खण्ड में १०३ छन्द हैं जिनमे राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का चित्तौडागमन है। चौथे खण्ड मे ४२ छन्द हैं और भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और वीसलदेव का पुन· राजमती को चित्तोड ले आने का वर्णन है। ग्रन्थ में कुल ३१६ छद हैं।

कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कथा गीति रूप मे होते हुये भी प्रबन्धात्मकता लिये हुए है। कथावस्तु अनेक प्रकार की घटनाओ से निर्मित है जिसमे वीररस की अपेक्षा शृगार रस ही प्रधान स्थान प्राप्त कर सका है। भाषा यद्यपि अपने असस्कृत रूप मे है तथापि उसमे साहित्यिक सौन्दर्य की छटा यत्र-तत्र है।

लोकरजन के लिये 'वीसलदेव रासो' मे काव्य का सौन्दर्य मनोवैज्ञानिक ढग से अनेक प्रसगो मे सजाया गया है। उसमे जीवन के स्वाभाविक विचार, गृहस्थ जीवन के सरल विश्वास, जन्मातरवाद, शकुन, सस्कार, बारहमासा आदि बड़ी सरसता के साथ चित्रित किये गये हैं। स्थानीय प्रथाओ और व्यवहारो का भी वड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य मे स्थानीय अनुरजन विशेष मात्रा मे है।[2] वीसलदेव रासो के कुछ उदाहरण देखिये :

स्थानीय अनुरंजन —

माणिक मोती चउक पुराय।
पाव पषाल्या राव का। राजमती दीई वीसलदेव।
हुई सोपारी मनि हरष्यो छह राव। वाजित्र वाजह नीसाणो घाव।
गढ माहि गूडी उछली। घरिघरि मगल तोरण च्यारी ।।[3]

(४) कल्लोल · ढोला मारूरा दूहा।[4]

कुछ विद्वान 'ढोला मारूरा दोहा' नामक काव्य के रचयिता के रूप मे 'कल्लोल' को ग्रहण करने के लिये तत्पर नही हैं। उनकी धारणा मे 'कल्लोल' नामक कवि शायद ही हुआ हो।[5] वहा दूसरी ओर डा० मोतीलाल मेनारिया इस काव्य

१—रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १४९
२—रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० १४९
३—सत्यजीवन वर्मा : वीसलदे रासो—पृ० ८–९
४—ठाकुर, स्वामी व पारीक : ढोला-मारू रा दूहा
५—ठाकुर, स्वामी व पारीक : ढोला—मारू रा दूहा—भूमिका—पृ० २८

[illegible] रचयिता को 'कल्लोल' नाम से स्वीकार करते हैं।[1] 'ढोला-मारू रा दूहा' के सम्पादक तो यहाँ तक मानते हैं, कि यह किसी एक कवि की कृति नहीं है—'कल्लोल' को कवि रूप मे कल्पना करना अनुचित है। किन्तु मेनारियाजी निम्न दोहे की साक्षी पर इस लोकप्रिय काव्य के कर्ता को 'कल्लोल' ठहराते हैं।

गाहा गूढा गीत रस, कवित कथा कल्लोल।
चतुर-जन मत रीझवै, कहिया कवि कल्लोल॥

मेरी तो निश्चित मान्यता है, चाहे हम इस ग्रन्थ को 'कल्लोल' रचित माने या न माने, किन्तु इसे किसी कवि की रचना तो मानना ही होगा। 'ढोला-मारू रा दूहा' मे अनेक लोकगीत परम्पराओं और लोकवार्ता की विशेषताओं का पालन हुआ है, किन्तु केवल इसी आधार पर हम इसे किसी कवि की कृति होने से रोक नही सकते। यह आधार इतना लचर है कि इसे सही मान लेने पर हमें सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को भी किसी कवि द्वारा रचित मानने मे इन्कार करना पड़ेगा। ऐसा करना कितनी भयंकर भूल होगी, इसे समझा जा सकता है। और फिर कालान्तर मे ऐसी भूल का परिमार्जन होना भी दुष्कर हो जाता है। ढोला मारू रा दूहा के विद्वान सम्पादकों के अनुसार 'ढोला-मारू' की प्रेम गाथा को किसी व्यक्ति विशेष की कृति न मान कर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नही होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य युग की एक विशेष कृति है—और अन्त मे मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी विशेष कवि की कृति के रूप मे नही मिला, बल्कि जनता के काव्य के रूप मे उपलब्ध हुआ है और अपनी मान्यता की उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से तर्क संगत व्याख्या की है। 'ढोला-मारू रा दूहा' मौखिक परम्परा मे होने मात्र से लोकगीत परम्परा में नही आ जाते। जायसी के पद्मावत को फकीर गाते फिरते थे और नागमती के विरह वर्णन को एक भिखारी से सुन कर ही अमेठी के राजा ने जायसी को सम्मान दिया था। अत वियोग वर्णन तथा बारहमासा को आसानी से मौखिक परम्परा के अन्तर्गत माना जा सकता है। पर इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि यह एक कवि विशेष की कृति नहीं है। अतः हम इस प्रसिद्ध काव्य के रचयिता के रूप मे कल्लोल को ही सम्मान देंगे।

कवि 'कल्लोल' स्वयं बड़ा गुणी था। वह साहित्य शास्त्र को भली प्रकार जानता था और अपने समय से पहले की साहित्यिक रचनाओं से परिचित था। [illegible] कविता राग का उसने भली प्रकार अवगाहन किया था। इसकी रचनाओं में हमें ऐसी कड़ियाँ मिलती हैं, जो एक ओर कवि की [illegible] की उद्घोषणा करती है और उसे अपभ्रंश-काव्य पद्धति [illegible] करती है, तथा दूसरी ओर उसे लोकमानस मे अक्षुण्ण स्थान [illegible] करती है। यही कारण है कि 'ढोला-मारू रा दूहा' [illegible] कवि

1—[illegible] : राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १०१

के काव्य कौशल से जहा एक ओर 'लोकवार्ता' से अभिन्नता स्थापित करने का यत्न करता है, वहा दूसरी ओर शास्त्रीय काव्यों की अनेक बातो मे बराबरी करता है। जान पडता है कि कवि का साहित्यिक अध्ययन गहरा था। उसने प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश व देश्यभाषा साहित्य की भावना को भला प्रकार समझा था। कवि के अनेक उपमान मौलिक होते हुये भी परम्परा के तर्कसगत विकास के रूप मे लिये जा सकते है। कवि ने अनेक स्थलो पर कवि-समयों व काव्य-प्रसिद्धियो का प्रयोग किया है, जो इसके सुशिक्षित व काव्यकला प्रवीण होने का परिचायक है। अपनी मान्यता की दृष्टि से निम्न दोहे विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हू —

मारवणी इम बीनवई, घनी आजूणी राति।
गाहा-गूढा-गीत-गुण, लहि का नवली वाति।
गाहा-गीत-विनोद रस, सगुणा दीह लियति।
कइ निद्रा, कइ कलह करि, मूरखि दीह गमति॥

'मारवणी ढोला से यो विनय करती है कि आजकी रात धन्य है। आज कोई गाथा या पहेली, गीत या गुणोक्ति, या कोई नवीन कथा कहिये क्योकि गुणवान मनुष्यो के दिन गाथा, गीत और विनोद के रस मे बीतते है और मूर्ख या तो नीद मे या कलह मे दिन बिताते हैं।' काव्य विनोदो से समय बिताने की कल्पना कोई नई नही है। कादम्बरी से लेकर अपभ्र श-काव्यो तक इस परम्परा के दर्शन होते है।[1] अत कल्लोल द्वारा रचित ये दो दोहे उसको सुशिक्षित काव्य शास्त्र का ज्ञानी और परम्पराओ का सजग प्रहरी सिद्ध कर देते हैं। कल्लोल मध्ययुगीन व्यवस्था का द्योतक है और इसीलिये जीवन के विस्तृत क्षेत्र को काव्य विषय के रूप मे चुन कर भी उसने थोड़े प्रसगो पर लिखा। उसे वर्ण्यवस्तु को सरस बनाना आता था। अत: प्रसगो को चित्रित करने पर भी वह जीवन और विषय-वस्तु के साथ न्याय कर सका। 'ऋतुवर्णन' की अपनाई गई परिपाटी भी उसकी कविता को निष्प्राण नही बना सकी। 'कल्लोल' कविता के अभावो व उपलब्धियो से परिचित था। अत: वह अनेक दोपो को वचा गया और अनेक विशेषताओ को अपनी कविता मे गू थ गया। उसने वर्णन के फेर मे पड कर तत्कालीन कवियो की भाति वस्तुओ की दीर्घ सूचियो का प्रणयन नही किया। मानव के दुख-सुख, प्रेम-घृणा, व्यग–विनोद, सयोग-विरह, अनुराग–जलन, भावुकता-कर्तव्य, रोष-दया, आदि अनेक भावनाओ की अभिव्यक्ति कवि की सबसे बडी विशेषता है। इसीलिये 'ढोला-मारू रा दूहा' भाव प्रवणता, सरसता और मार्मिकता आदि अपने विशिष्ट गुणो के कारण जनजीवन मे उच्चासन पा सके हैं। सैकडो व्यक्तियो की जिह्वा पर आज भी ये दोहे आसीन हैं। उसके जनसम्पर्क ने उसे अद्भुत अन्तर्दृष्टि दी, जिसके फलस्वरूप उसका काव्य राजस्थान का जातीय काव्य बन गया है। स्थानीय परिस्थितिया, भौगोलिक स्थिति, राजस्थानी जीवन की महानता, मानव स्वभाव की यथार्थता, देशकाल, वातावरण और सबसे बढ कर प्रभाव-ऐक्य ने उसकी कविता को सर्वग्राह्य बना दिया है। कल्लोल निसदेह

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्यका मर्म–पृ० ११

राजस्थानी का सबसे अधिक लोकप्रिय कवि है। उसने अनेक कवियोको प्रभावित किया है। उसकी कथा को आधार बना कर अनेक चित्रमालायें तैयार की गई हैं। अनेक लोकगीत गायको ने 'ढोला-मारू' के गीत युग-युग से गाये हैं। यहा तक कि शिल्पकारो ने 'ढोला-मारू' की मूर्तियां तक गढ़ी हैं। राजस्थानी वातावरण की जीवित झाकी हमें 'ढोला-मारू रा दूहा' में मिल जाती है।

(५) कुशल लाभ : ढोला-मारू चउपई, माधवानल कामकंदला

अनेक जैन आचार्यों द्वारा राजस्थानी साहित्य की अमर सेवा की गई है। ऐसे ही एक जैन आचार्य कुशललाभ थे, जिन्होने राजस्थानी भाषा और साहित्य की अपूर्व सेवा की। उसकी गोद अमर कृतियो से भरी और बदले में स्वय चिरस्थायी यश के स्वामी बने। कुशललाभ का जन्म कहां हुआ? शिक्षा कहा मिली और उन्होने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यत्व कब ग्रहण किया, इस सम्बन्ध मे अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के अभाव में निश्चित तौर पर कुछ भी नही कहा जा सकता है। अनुमान लगाया जा सकता है कि आपका जन्म विक्रम संवत् १५८० के लगभग हुआ होगा। इसी प्रकार से इनकी भाषा की भगिमा के आधार पर कल्पना की जा सकती है कि इनका जन्म मारवाड मे हुआ होगा। ये खरतर गच्छ के उपाध्याय अभयधर्म के शिष्य थे, ऐसा इनके ग्रन्थो की पुष्पिकाओ से ज्ञात होता है। किन्तु इनकी शिष्य-परम्परा को जानने योग्य सूत्र प्राप्त नही है।

जैन कवियो की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि उन्होंने बहुधा बोलचाल की भाषा मे ही अपनी कविता रची है। इस प्रकार जहा एक ओर उन्होने जनसाधारण के लिये उन्ही की रोजमर्रा की भाषा मे सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की, उसी प्रकार अनजाने ही भाषा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्कालीन भाषा के स्वरूप की भी रक्षा की है। कुशल लाभ ने बोलचाल की भाषा मे तो सुन्दर, सजीव रचनाएं लिख कर अपने पाडित्य और भाषा चातुर्य्य का परिचय दिया ही है; किन्तु उन्होंने 'पिंगलशिरोमणि' ग्रथ की रचना कर तत्कालीन साहित्यिक भाषा डिंगल पर अपने अधिकार की भी साक्षी प्रस्तुत कर दी है। यथावधि प्राप्त ग्रन्थो की सूची निम्न है (१) ढोला मारूरी चउपइ (२) माधवानल काम कदला चउपइ (३) तेजसार रास (४) अगडदत्त चउपइ (५) स्तंभन्न पार्श्वनाथ स्तवन (६) गौडी छन्द (७) नवकार छद (८) भवानी छद (९) पूज्य वाहण गीत (१०) जिन पालित जिन रक्षित सधि गाथा (११) पिंगल शिरोमणि (१२) देवी सातसी [१३] शत्रु जयसध विवरण।

कुशल लाभ के जीवन का अधिकाश समय राजस्थान और निकटवर्ती प्रदेशो-सौराष्ट्र-गुजरात आदि मे ही बीता होगा, ऐसा इनकी भाषा के आधार पर ठहराया जा सकता है। इनकी भाषा मे गुजराती का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जो एक जैन आचार्य होने के नाते स्वाभाविक ही था। 'ढोला-मारू री चउपइ' और 'माधवानल कामकन्दला चउपइ' इनकी बहुत लोकप्रिय रचनायें हैं। ये दोनो रचनायें परम्परा प्रसिद्ध प्रेमाख्यान हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। 'ढोला मारू री चउपइ' का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'ढोला-मारू रा दूहा' मे परिशिष्ट

के रूप मे हुआ है। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला चउपइ' का प्रकाशन 'प्राच्य सस्थान, बड़ौदा' से प्रकाशित कवि गणपति विरचित 'माधवानाल कामकन्दला' के परिशिष्ट रूप मे हो चुका है। 'पिगल शिरोमणी' का एक अश परम्परा के डिंगल कोष अक मे निकल चुका है। 'स्तमन पार्श्वनाथ स्तवन' और 'पूज्यवाहण गीत' भी गुजराती विद्वानो द्वारा सम्पादित व प्रकाशित किये जा चुके है। शेष रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

जैसलमेर के रावल मालदेव के युवराज हरराज के लिए इन्होने सवत् १६१७ मे राजस्थान की प्रसिद्ध प्रेमकथा 'ढोलामारू' को चौपाईबद्ध किया। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला' की रचना भी इन्ही युवराज के लिए की गई। प्रस्तुत दोनो कृतियाँ बड़ी सरस और गतिमान हैं। इन्हे पढकर लगता है कि कुशल-लाभ को कहानी कहना आता था और ढंग से आता था। कथा प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है। रोचकता मे कमी नही आती। भाषा समतल जान पडती है, जो कवि के भाषा पर अच्छे अधिकार की द्योतक है। तीसरी महत्वपूर्ण कृति पिंगल शिरोमणि ग्रन्थ है। प्रस्तुत रचना अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। यह समूचा ग्रन्थ मारवाड़ी भाषा—मे तत्कालीन साहित्यिक भाषा मे लिखा गया है और नाहटाजी के मतानुसार अद्यावधि प्राप्त मारवाड़ी भाषा के छन्द ग्रन्थ के रूप मे सर्वप्रथम है और इसमे एक प्रकरण 'डिंगल नाममाला' का भी है। यह प्रयोग (सत्रहवी शताब्दी तक मारवाडी के लिए 'डिंगल' का उपयोग शुरू हो गया था) इस ओर सकेत करता है और इस प्रकार से विद्वानो की इस धारणा का कि डिंगल का प्रथम प्रयोग सवत् १८७१ मे मिलता है,[1] खण्डन करता है। इन सब दृष्टियो से कुशल लाभ की रचनाओ का महत्व असाधारण है।

इसी परम्परा मे कवि जान के प्रेमाख्यान, कुशलधीर का लीलावती रास आदि रचनायें ग्रहीत की जा सकती हैं। अस्तु।

हम पहले देख आये हैं कि डिंगल साहित्य मे मुक्तक रचनाओ की बहुलता है। कुछ मुक्तक पद एक ही बिषय से सम्बन्धित होने के कारण एक साथ सग्रहीत होकर कुछ नाम पा लेते हैं—जैसे ईसरदास का हाला झालारा कुण्डलिया, सूर्य्यमल कृत वीरसतसई, बाकीदास की धवल पच्चीसी आदि। ऐसी ही एक रचना ढोलामारू रा दूहा का परिचय हम पा चुके हैं। इनके अतिरिक्त बहुत बडी तादाद मे 'साखरी कविता' लिखी गई है जिसमे डिंगल गीतो के माध्यम से राजस्थानी जनजीवन और इतिहास मुखर हो उठा है। डिंगल मुक्तक काव्य परिमाण, शैली और वैविध्य मे इतना अधिक है कि वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

जहाँ तक डिंगल गीतो के अध्ययन का प्रश्न है, उसका विकासात्मक ऐतिहासिक और रूपात्मक अध्ययन चौथे अध्याय मे विस्तारपूर्वक किया गया है। इनका

१—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १५

२—गोवर्द्धन शर्मा : राजस्थानी कवि, भाग २, पृ० २९-३२

छन्द शास्त्रीय अध्ययन परिशिष्ट एक मे प्रस्तुत है, अत. उस पर यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नही। अब हम प्रमुख डिंगल के मुक्तक कवियो एव उनकी प्रमुख रचनाओ का परिचय प्राप्त करेंगे।

वारठ आसा

इनका जन्म सवत् १५६३ के लगभग हुआ।[1] इनके पिता का नाम गोधा था जो जोधपुर राज्य के भाद्रेस गाँव के निवासी थे। ये जोधपुर के राव मालदेव के कृपापात्र थे। इनकी लिखी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं।

(१) रावल् माला रो गुण
(२) लक्ष्मणायण
(३) गोगाजी री पेडी
(४) गुण निरंजन प्राण
(५) उमादे भटियाणीरा कवित
(६) राउ चन्द्रसेणरा रूपक
(७) वाघजी रा दूहा

'रावल मालारो गुण' मे कवि ने ८७ छन्दो मे राय मल्लीनाथका गुणगान किया है। 'राउ चन्द्रसेणरा रूपक कवर थक नु आसे वरटरा कहा' एक अनोखी रचना है। इसमे कवि ने २६ विभिन्न छन्दो मे राव चन्द्रसेन के सम्बन्ध मे लिखा है। एक प्रकार से प्रस्तुत रचना २६ छन्दो का कोप है। गुण निरजन प्राण एक भक्ति-रस की रचना है। इसमे भगवान् की महिमा, उसके निरुपाधि-निर्गुण ब्रह्म-रूप तथा सांसारिक अमारता का निरूपण है। उमादे भटियाणीरा कवित-मारवाड की प्रख्यात रूठी रानी-उमादे के सम्बन्ध मे रचे गये मुक्तक हैं। एक नमूना देखिये—

सझ सोलै सिणगार, सत्तव्रत अंग सनाहे।
अरक वार मुख ऊग, नीर, गगाजल नाहे।
चीर पहर अम चढै, मुकट वेणी सिर खुल्लै।
देती परदिखणाह, हस गत रानी हल्लै॥
सुर भुवण पैस लीवा सरग, साम तणो मन रजियो।
रूसणो राव सूं, भटियाणी इम भजियो॥

सोलह शृंगार सजाकर शरीर में सत्यव्रत को धारण किये हुए जिसके मुख से माने बारह सूर्य उगे हैं ऐसी भटियाणी उमादे ने गंगाजल से स्नान किया। वस्त्र पहन, घोड़े पर सवार हो, शिरोभूपण, चोटी और वालो को खोल प्रदक्षिणा देती हुई हंस की गति से चलकर रानी स्वर्ग मे पहुंची। स्वामी मालदेव का मन प्रसन्न हुआ। इम प्रकार उमादे ने राव मालदेव से अपना रूठना दूर किया।

१—किशोरसिंह : हरिरस-महात्मा ईसरदास का जन्मकाल-निर्णय निबन्ध के अन्तर्गत

बाघजीरा दूहा—इनके मित्र बाघा कोटड़िया की मृत्यु पर निकले इनके हार्दिक उद्‌गार हैं। अपनी मर्मस्पर्शिता में ये अद्‌भुत हैं। आज भी इनका करुणरस आंखें आर्द्र कर देता है।

ईसरदास —

ईसरदास का जन्म सम्वत् १५९५ की चैत्र सुदी नवमी को जोधपुर राज्य के अन्तर्गत भाद्रेस नामक गाव मे एक चारण परिवार मे हुआ। इनके पिता का नाम सूजाजी व माता का नाम अमर बाई था। डिंगल के प्रौढ कवि आशानन्द, जो अपनी चतुराई के लिये मारवाड़ नरेश राव मालदेव के बहुत प्रिय थे, इनके चाचा और काव्यगुरु थे। ईसरदास के जन्म को लेकर निम्न दोहा प्रचलित है, जिससे उक्त कथन का समर्थन होता है —

पनरासो पिच्चाणवे, जनम्यां ईसरदास।
चारण वरण चकार मे, उण दिन हुओ उजास॥

तत्कालीन सामाजिक वातावरण के अनुरूप ही चवदहवें वर्ष मे ही इनका विवाह कर दिया गया था। बालक ईसरदास अपना आपा भी नही सभाल पाया था कि उसके माता पिता का देहान्त हो गया। ईसरदास के चाचा आशानन्द स्वय बडे कवि थे और डिंगल मे प्रौढ़ कविता किया करते थे। ऐसे गुणी चाचा की छत्रछाया मे ईसरदास काव्यशिक्षा व जीवनोपयोगी व्यवहारिक शिक्षा भी पाते रहे। इक्कीस वर्ष की आयु मे उनकी पत्नी देवलबाई का देहान्त हो गया। देवलबाई के समान पति-भक्ति परायण पत्नी के स्वर्गवास से उन्हे बड़ी ठेस पहुंची और संसार के सभी सुखो के प्रति उनके मन मे विरक्ति हो उठी।

और एक दिन ईसरदास अपने काका आशानन्द के साथ द्वारका यात्रा को निकले। मार्ग मे जामनगर मे पड़ाव डाला गया। रावल जाम उस समय जामनगर में अधिपति थे। उन्होने डिंगल के इन दोनो कवियो का अच्छा सम्मान किया। द्वारका यात्रा से लौट आने पर ईसरदास को तो रावल जी ने जामनगर मे ही रोक लिया। उन्हें 'करोड पसाव' व कुछ गाव दिये और अपना पोल पोत बना लिया। यथा—

क्रोड़ पसाव ईसर कियो, दियो सचाणो गाम।
दाता सिरोमन देखियो, जगसर रावल् जाम॥

यही पर रावल जी के आग्रह और प्रयत्नो से इनका दूसरा विवाह भी हो गया। जामनगर दरबार मे पीताम्बर भट्ट नामक राज-पण्डित थे जो सस्कृत के बड़े अच्छे जानकार और दर्शन, धर्मशास्त्र पुराण आदि के अच्छे ज्ञाता थे। ईसरदास ने ऐसे गुणवान प्रकाण्ड पण्डित के सम्पर्क मे आकर बहुत सी बातें सीखी। अपने 'हरि-रस' नामक ग्रन्थ मे इन्होने अपने गुरू पिताम्बर भट्ट का आभार प्रदर्शित किया है —

लागूं हू पहली लुलै, पीताम्बर गुर पाय।
भेद् महारस भागवत, प्रभूं जास पसाय॥

अर्थात् जिनकी प्रसन्नता (कृपा) से मैंने भगवत् सम्बन्धी महारस का भेद प्राप्त किया, उन्ही पीताम्बर गुरु के चरणो को मैं सबसे प्रथम झुक कर स्पर्श करता हूं।

रावल जाम के अतिरिक्त, इनका सबंध सरवहिया बीजा दूदावत, जोढेचा जसा हरदमलोत, झाला रायसिह आदि से भी रहा है। इसका पता इनके विभिन्न बिखरे हुए डिंगल गीतो से लगता है।[1] इनके निम्नलिखित ग्रन्थ बताये जाते है।[2]

[१] हरिरस [२] छोटा हरिरस [३] बाललीला [४] गुण भागवत हस [५] गरुड़ पुराण [६] गुण आगम [७] निन्दा स्तुति [८] देवियाण [९] गुण वैराट [१०] सभापर्व (११) हाला झाला रा कुण्डलिया (१२) रास कैलास और (१३) दाणलिला।

कुछ और रचनाओ का भी पता चलता है, यथा—गुण छमाप्रव कृस्नध्यान तथा रासलीला। प्रतीत होता है 'गुण छमाप्रव' और सभापर्व एक ही रचना है। इसी प्रकार रासलीला सवत: रासकैलास से अभिन्न होगी। छोटा हरिरस जैसा कि नाम से विदित होता है, स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत नही होता प्रत्युत हरिरस का ही सक्षिप्त सकलन ग्रन्थ होना चाहिए। सात पदो वाले एक छोटे हरिरस का प्रकाशन भी हो चुका है। इनके अतिरिक्त दो प्रकार की फुटकर रचनाए और मिलती हैं। पहले प्रकार मे कवि के विभिन्न ऐतिहासिक गीत और दूसरे मे भक्ति सम्बन्धी फुटकर पद और गीत आदि सम्मिलित हैं। इनमे हाला झाला रा कुण्डलिया और ऐतिहासिक तथा फुटकर पद और गीत आदि सम्मिलित हैं। इनमे हाला झाला रा कुण्डलिया और एतिहासिक तथा फुटकर रचनाओ को छोड कर, शेप सभी रचनाए एक प्रकार से स्तोत्र काव्य हैं।

हालाझलां रा कुण्डलिया ·

यह ५० कुण्डलियो का एक सकलन ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन डा० मोतीलाल मेनारिया ने किया है। यह रचना हलवद नरेश, झाला रायसिह और ध्रोल राज्य के ठाकुर हाला जसा जी के बीच हुए युद्ध की स्मृति-स्वरूप रची गई है। रायसिह जी जसा जी के भानजे थे। डा० मेनारिया ने इस विषय मे प्रचलित एक कहानी का उल्लेख किया है। एक बार रायसिह जी जसा जी से मिलने ध्रोल आये। दोनो चौपड़ खेल रहे थे कि इतने मे नगाडे की आवाज सुनाई दी। जसा जी ने क्रोध से कहा कि ऐसा कौन जोरावर है जो मेरे गाव की सीमा मे नगाड़ा बजा रहा है? जब पता लगा कि नगाड़ा दिल्ली के किसी मठाधीश 'मरुनभारती' की हिंगलाज यात्रा को जाती हुई जमात का बज रहा है, तब बोले 'कोई हर्ज नही, बजने दो।' यह सुन कर रायसिह जी बोले कि गांव के रास्ते मे नगाडो का बजना तो बिल्कुल स्वाभाविक है यह तो खैर, जमातका नगाडा है, यदि किसी राजा का होता, तो आप क्या कर

१—नरोत्तम स्वामी : राजस्थानी वीर गीत—भाग १ मे

२—झवेरचन्द मेघाणी · चारणो अने चारणी साहित्य—पृ० १८५

लेते ? जसा जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि ऐसी हालत मे मै उनको तोड़कर फिकवा देता। यह वात रार्यसिह जी को भी चुभ गई। बोले-ठीक है, यहा मेरा नगाडा वजेगा और वे उठ कर हलवद चले आये। कुछ समय पश्चात् रार्यसिह जी ने दलबल सहित धोल मे जाकर नगाड़ा बजाया। रार्यसिह जी को जसा जी ने समझाया, पर सब व्यर्थ। अन्त मे जसा जी को रणभूमि मे उतरना पड़ा। घोर युद्ध मे, जसा जी काम आए और रार्यसिह जी भी घायल हुए। युद्धारम्भ से पहले रार्यसिह जी और जसाजी दोनो ने कवि ईसरदास से युद्ध का आखो देखा वर्णन करने की प्रार्थना की थी, जिसके फलस्वरूप इस काव्य का प्रणयन हुआ। यह लडाई सवत् १६२० मे हुई थी। इतिहास से इस लड़ाई का तो समर्थन होता है, किन्तु उसके कारणो के सम्बन्ध मे मतभेद है।

यह वीररस की फडकती हुई रचना है और राजस्थानी भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृतियो मे इसका स्थान है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि बहुत से छन्दो के पहले चरणो मे कोई सिद्धान्त-वाक्य कह कर बाद के चरणो मे, दृष्टान्तरूप मे, उसे युद्ध मे लड़ने वाले वीरो पर घटा कर दिखाया है। कुछ ऐसे वाक्य नीचे दिए जाते हैं —

(१) एको लाखा आग मे सीह कही जे सोय।
सूरा जेथी जोडियो कलहल् तेथी होय ॥ ८ ॥

(२) सादूलो आपा समो वियो न कोय गिणत।
हाक विडाणी किम सहै, घण गजियै मरत ॥ ९ ॥

(३) सीहणि हेकोसहि जणि छापरि मडै आलि।
दूध विटालण कापुरस वोहला जणै सियालि ॥ १० ॥

कवि का हरिरस तो आज भी अनेक घरो मे गीता की तरह प्रविन्न माना जाता है। उसका नियमित रूप से पाठ होता है।

दुरसा आढा .

सोजत परगने के धूधला नामक गाँव मे स० १५९२ मे वालक दुरसा का जन्म हुआ। इनके पिता वहुत गरीव थे और जव दुरसा ६ वर्ष के ही थे, उनका देहान्त हो गया। कहते हैं पितृ-सरक्षा-विहीन दुरसा को वगडी के ठाकुर ने पढाया, लिखाया और योग्य वनाया। कवि दुरसा ने स्वय स्वीकार किया है —

माथै भावीवाह जनम तणो क्यावर जितो।
मोहड सुधपाता ह, पालनहार प्रताप सी ॥

(वीरो और सुकवियो का पालन करने वाले हे प्रतापसिह ! वगडी के ठाकुर ! माता के जन्म दान देने के समान, मेरे सर पर तेरा अहसान है।)

डिंगल के अन्यान्य कवियो की भाँति ही दुरसा आढा कलम और तलवार दोनो के धनी थे। वे कुशल योद्धा थे। सुना जाता है कि स० १६४० मे जिस समय

सम्राट अकबर ने सिसोदिया जगमाल की सहायता के लिए जोधपुर के रायसिंह और दांतीवाड़ा के कोलीसिंह की अध्यक्षता मे सिरोही नरेश सुरताण के विरुद्ध सेना भेजी, तो दुरसा आढा भी वही सेना में साथ थे। दताणी नामक स्थान पर भयकर युद्ध हुआ। कवि आढा ने इस अवसर पर युद्ध-चातुर्य का शानदार प्रदर्शन किया, परन्तु वे घायल हो गये। घायल अवस्था में ही रावसुरताण की आज्ञानुसार एक व्यक्ति इन्हें मारने के लिए आगे बढा तो इन्होंने अपने प्राणो की भिक्षा एक चारण के नाते मागी। राव सुरताण ने जांच के बाद जब पाया कि दुरसा स्वय चारण की है, तो वह इन्हें उठा अपने साथ ले गया और उसने उनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था कर दी।

कवि ने बहुत लम्बी उम्र पाई थी, अतः अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने प्रचुर परिमाण में लिखा होगा। अभी तक इनकी विरुद्ध-छिहत्तर की ही अधिक चर्चा हुई है, किन्तु खोज करने पर इनकी कुछ बड़ी रचनाओं का और पता चलता है। ये सभी फुटकर रचनाएं हैं। कवि की कुछ अपेक्षाकृत बड़ी रचनाओं के नाम ये हैं —

(१) विरुद्ध छिहत्तरी।
(२) किरतार बावनी।
(३) राउ श्री सुरताण रा कवित्त (११ कवित्त)
(४) दूहा सोल की वीरमदेजी रा (६० दोहे)
(५) झूलणा रावत मेघारा (१७ छन्द)
(६) गीत राजि श्री रोहितास जी री (10 गीत, १ कवित्त और २ दोहे)
(७) झूलणा राव श्री अमरसिंघ जी गजसिंघोत रा (६४ छन्द)
(८) श्री कुमार अज्जाजी नो भूचर मोरी नो गजगत। इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

इनके अतिरिक्त, इनकी अनेक फुटकर रचनाएं विविध छन्दों और गीतों के रूप में विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकों के सग्रहालयो में मिलती हैं। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता की हस्तलिखित प्रतियों मे ६० के लगभग गीत भी मिलते हैं।

सूर्यमल्ल :

महाकवि सूर्यमल्ल का जन्म चारणों की मिश्रण शाखा के एक प्रतिष्ठित कुल मे सवत् १८७२ में बूंदी में हुआ। इनका परिवार बूंदी नरेशों का कृपापात्र था और इसीलिये महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण को एक बना बनाया आश्रय मिल गया। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि देव की भांति इन्हें इधर उधर भटकना नही पड़ा।

सूर्यमल्ल का शास्त्रीय ज्ञान बहुत बढा चढा था। वे सस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल आदि अनेकों भाषाओं के निष्णात विद्वान थे। वे शकुन शास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिष विद्या, मीमांसा, व्याकरण, न्यायशास्त्र, शालिहोत्र, दर्शन, इतिहास आदि विषयों के अच्छे जानकार थे। बूंदी नरेश रामसिंह जी की आज्ञा से इन्होंने विक्रम

सवत् १८९७ मे 'वश भास्कर' नामक एक बृहदाकार काव्यग्रन्थ रचा था, जिसमे बूदी राज्य का इतिहास वर्णित है। इस इतिहास मे प्रसगवश राजस्थान की अन्य रियासतो से सम्बन्वित इतिहास भी थोडा बहुत आ गया है। भारतीय कवि इतिहास को प्राय: गम्भीर दृष्टि से नही लेता। ऐतिहासिक घटनाओ के शुष्क ककाल को अपनी कल्पना की दृष्टि से और काव्यानुभूति से सजीव पुतला बना कर हमारे सामने रख देता है ऐसा करने मे प्राय: ऐतिहासिक तथ्यो की अवहेलना हो जाती है। हमारे अधिकाश वीर काव्यो मे यथा-पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो आदि मे हमे यही प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। पर 'वश भास्कर' इसका अपवाद है। यह शुद्ध ऐतिहासिक मूल्यो पर ठीक उतरता है। 'वश भास्कर' की भाषा को लेकर विद्वानो मे कुछ मतभेद रहा है। वस्तुत: इसकी भाषा पिंगल है जो कृत्रिम डिंगल का अनुकरण करती ज्ञात होती है।

उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर सतसई' है और अपूर्ण है। यह डिंगल का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। 'वंश भास्कर' उत्कृष्ट इतिहास ग्रन्थ होने पर भी, कवि की प्रतिनिधि रचना के रूप मे गृहीत नही किया जा सकता। इस सम्मान की अधिकारी तो हमारी 'वीर सतसई' ही है। लगभग ३०० दोहो मे कवि ने जिस कौशल और नैपुण्य के साथ राजस्थान की वीर भावना को स्वरूप दिया है, वह आश्चर्यजनक है। राजस्थान की परम्पराओ, वीरो के उत्साह, कायरो की आशका, सतियो की भावनाए और तत्कालीन परिस्थितियो का इससे अधिक ज्वलत चित्र शायद ही कही मिले। उनका भावानुरजित और ओजपूर्ण वर्णन निसदेह उच्चकोटि का है। भाषा प्रवाह युक्त और प्राजल है। अभिव्यक्ति सहज है। कवि हमारे मर्मस्थल को मानो प्रभावित करता चलता है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'बलवन्त विलास' है जिसमे रतलाम नरेश बलवन्तसिंह के चरित का वर्णन है। चौथी रचना छदोमयूख नामक एक छद शास्त्र है। कहा जाता है कि इन्होने 'धातुरूपावली' तथा 'सती रासो' नामक दो ग्रन्थ और भी रचे थे परन्तु ये ग्रन्थ मिल नही पाये है।

अन्य मुक्तक रचयिताओ मे केशोदास गाडण, अल्लूजी, कृपाराम, करमानंद, मेहा, हरसूर आदि प्रख्यात है इन मुक्तक रचयिताओ को लेकर यह उक्ति प्रसिद्ध है—

कविते अलू दूहे करमानन्द, पात ईसर विद्या चौ पूर।
छदे मेहो, झूलणे मालो, सूर पदे गीत हरसूर॥

अब हम ऐसी कुछ रचनाओ पर विचार करेंगे जो पिंगल मे रची जाने पर भी स्थान स्थान पर डिंगलयुक्त हो जाती हैं। इन रचनाओ ने डिंगल प्रबन्ध काव्यो की पद्धति को ही अपनाया है। अत: काव्यरूपो के विकास और डिंगल काव्य की प्रवृत्तियो को समझने के लिए यथावश्यक इन ग्रथो से भी सहायता ली गई है। ऐसी चार प्रमुख रचनाओ का सक्षिप्त परिचय यहा प्रस्तुत है।

(१) पृथ्वीराज रासो —

चन्दवरदायी द्वारा लिखित कहा जाने वाला यह महाग्रन्थ एक इतिहास, अनुश्रुति और तर्कजाल की पहेली बन गया है। विद्वानों का विवाद भी रासो के

साहित्यिक महत्व के सम्बन्ध मे उतना नही है, जितना उसकी प्रमाणिकता और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे है। ग्रन्थ मे हिन्दुओ के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज का चरित वर्णित होने के कारण प्रारम्भ मे विद्वानो को इससे पृथ्वीराज तथा उसके सम्पर्क मे आने वाले राजाओ के बारे मे महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होने की आशा थी।[1] पर वह तो एक विकसनशील महाकाव्य है, कोई इतिहास ग्रन्थ नही।[2] फलतः उन्हें निराश होना पडा।

जिस रूप मे 'पृथ्वीराज रासो' आज उपलब्ध है, उसके विशाल स्वरूप को देखते हुए रूप की दृष्टि से कुछ निश्चित कह सकना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार अंग्रेजी के आदि काव्य 'व्युवुल्फ' के विषय मे निश्चयात्मक रूप से कह सकना, अंग्रेजी आलोचको के लिए कठिन बना हुआ है। अस्तु 'पृथ्वीराज रासो' उसी रूप मे महाकाव्य की ओर झुकता हुआ काव्यरूप है, जिस भाति अंग्रेजी का यह काव्य 'व्युवुल्फ'। प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य 'पृथ्वीराज रासो' मे चन्द का प्रधान लक्ष्य अनेक वीर कृत्यो के वर्णन द्वारा अपने नायक के चरित्र को ऊंचा उठाना ही रहा है। इस प्रकार जिस रूप मे इसमें ऐतिहासिक बातो और काव्य का सम्मिश्रण हुआ है, उसमे संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यो की छाया भी मिलती है, किन्तु साथ ही संस्कृत के सर्गबद्ध काव्यो की झलक भी। ६९ समयो का विभाजन इसमे बहुत कुछ उसी सर्गबद्ध शैली मे ही हुआ है। साथ ही अपभ्रंश के चरित काव्यों की भाति यहा भी काव्यारम्भ वदना, आदिदेव, गुरु, वाणी, लक्ष्मीश, सुरनाथ आदि को संबोधित कर मंगल-सूचक पदो से ही हुआ है।

॥ साटक ॥ ऊं ॥

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरयं वानीय वंदे पद।
सिष्टं धारन धारयं वसुमती, लच्छीस चर्नाश्रय ॥१॥
(पृथ्वीराज रासो पृ० १)

इसके पश्चात् कवि धर्म-स्तुति, कर्मस्तुति तथा पूर्व कवियो की स्तुति करता है। अपनी लघुता का यहा वर्णन भी है तथा दुर्जन और सज्जन स्वभाव वर्णन भी यहा हुआ है। यह शैली अपभ्रंश के चरित-काव्यो का तो स्मरण कराती है, पर साथ ही संस्कृत के महाकाव्यो की शैली को भी सामने ला खड़ा करती है।

'रासो' में पुराण शैली का पुट भी मिलता है जो अनेक अवतारो की कथा के वर्णन मे स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। दसवें 'समय' मे तो अनेक अवतार-कथाएं नियोजित हुई हैं।

इतिहास प्रसिद्ध बातो मे यहां उसी प्रकार अनमेल बातो का योग मिलता है जैसा हम संस्कृत के परवर्ती ऐतिहासिक काव्यों मे देख चुके हैं। किन्तु काव्यत्व की

१—ब्रजविलास श्रीवास्तव : पृथ्वीराज रासो मे कथानक रूढियाँ—पृ० १

२—शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० २७८-२८५

ओर कवि सचेष्ट भी है। यथा स्थान सन्ध्या, प्रभात, रात्रि, मृगया, आखेट, ऋतु, वन, युद्ध, संयोग, वियोग आदि अनेक प्रसगो का सन्निवेश प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य मे हुआ है। युद्ध के प्रसगो मे कवि का कौशल अपूर्व हैं। यहा शब्दो द्वारा श्राव्यमूर्त-विधान भी अनुपम ढग से हुआ है।

॥ छन्द भुजगी ॥

जयं जाय पत्तौ प्रथीराज जुंग। करीसब्ब सेना विरुध विरुध॥
बजे ताल काल महा मल्ल वीर। दुहुं बाह सेना विरुंड सुधीर॥

—आठवां समय, पृ० ३७७

छन्दो की जितनी अधिक विविधता 'रासो' मे मिलती है उतनी अन्य काव्यो मे कम दिखाई पडती है। प्रक्षिप्त अंशो के कारण वह विविधता और भी बढ गई है। इसी के कारण भाषा मे भी कही अति प्राचीनता, कही अर्वाचीनता और कहीं विदेशी शब्दो का प्रयोग भी हो गया है। छन्दो मे प्राकृत के 'गाथा' अपभ्रश के 'दूहा' से लेकर छपाद, साटक, अरिल्ल, त्रोटक, तोमर, आर्या, भुजग प्रयास, पद्धरि कवित्त, त्रिभगी, मोतीदाम आदि अनेक छद प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार भाषा मे अरबी, फारसी, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी का पुट मिलता है।[1]

(२) राजविलास —

मान कवि द्वारा रचित राजविलास हिन्दी का एक प्रमुख ग्रन्थ है। ये मेवाड़ के निवासी और विजयगच्छ के जैन यति थे। महाराणा राजसिंह अपने समय के विख्यात हिन्दू नेता थे। ऐसे वीर सेनानी का जीवन चरित जिस तल्लीनता से लिखा जाना चाहिए, वैसी ही तल्लीनता से इसमे लिखा गया है। सचमुच यह हिन्दी का गौरव ग्रन्थ है।[2]

कवि मान कृत राजविलास नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसमे मेवाड के महाराणा राजसिंह (प्रथम) का जीवन चरित्र वर्णित है। इसकी रचना का प्रारम्भ स० १७३४ मे हुआ था —

सुभ संवत दस सात बरस चौंतीस वधाई।
उत्तम मास असाढ दिवस सत्तमि सुखदाई॥
विमल पाष बुधवार सिद्धि वर जोग सपत्ती।
हरषकार रिषि हस्त रासि कन्या ससि रत्ती॥
तिन थोस मात त्रिपुरा सुतवि कीनो ग्रन्थ मडान कवि।
श्री राजसिंह महाराणा को रचियहिं जस जौं चन्द रवि॥

इसमें अठारह खण्ड है। ये विलास कहे गये है। इसकी छद सख्या १५२७ है। प्रथम विलास मे सरस्वती-वदना के अनन्तर चित्तौड़ के मोरी राजा चित्रागद

१—शकुन्तला दुबे ' काव्यरूपो के मूलश्रोत और उनका विकास—पृ० ६२-६३
२—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य—पृ० ११३

और बापा रावल का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है जो दन्तकथाओ पर आधारित है। द्वितीय विलास मे बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड के राजाओ की वशावली दी गई है। यह वशावली अशुद्ध है और इतिहास मे दी हुई वशावली से मेल नही खाती। तदुपरान्त १४८वें छद से महाराणा राजसिंह का जीवन-वृतान्त प्रारम्भ होता है जो ठेठ अन्तिम विलास तक चला गया है। यह समूचा वृत्तान्त बहुत रोचक एव काव्यगुणों से ओतप्रोत है और इसमे ऐतिहासिक तथ्यो का बहुत संरक्षण किया गया है। महाराणा राजसिंह की प्रशसा मे कही-कही अत्युक्ति अवश्य हुई है। जैसे —

अजमेरह अग्गरी धाक दिल्ली धर धुज्जै।
रिनं भह रलतलै लच्छि लाहौर लुटिज्जै॥
खुरासान खंधार थाट मुलतान थरक्कै।
चन्देरी चलचलय भीति उज्जैनि भरक्कै॥
मंडवह धार धरती मिलय डुलय देस गुजरात डर।
औदक्कै साहि औरंग अति राण सबल राजेस वर॥

परन्तु यह राजाश्रित कवियो की परम्परागत काव्य शैली का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन चन्द, भूषण इत्यादि हिन्दी के और भी कई कवियो ने किया है।[1]

राजविलास की भाषा ब्रजभाषा है। परन्तु इसमे डिंगल भाषा के शब्दो का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

(३) हम्मीर रासो —

हम्मीर रासो के रचयिता जोधराज आदि गौड कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। ये अलवर राज्य के नीमराणा ठिकाने के जागीरदार चन्द्रभान् के आश्रित थे और अपने आश्रयदाता की आज्ञानुसार इन्होने 'हम्मीर रासो' का निर्माण किया। कवि अपनी वंश परम्परा के अनुरूप ही ज्योतिष व काव्य शास्त्र का अच्छा जानकार था। एक बार, नीमाराणा के ठाकुर चन्द्रभानु ने अपने दरबार मे कहा कि मैंने 'हम्मीर रासो' का नाम मात्र सुना है, किन्तु उसे सुनने का अवसर नही मिला। अपने आश्रयदाता की इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए जोधराज ने स्वय 'हम्मीर रासो' की रचना की। इस कार्य के लिए उन्हे अपने आश्रयदाता से पर्याप्त धन सम्पति और सम्मान मिला। कवि ने स्वय आभार प्रकट करते हुए कहा है कि राजा ने उन्हे 'अयाची' बना दिया।

नृप करी कृपा तिहिं पर अपार।
धन धरा बाजि गृह बसन सार॥
वाहन अनेक, सतकार भूरि।
सब भांति अजाची कियौ भूरि॥
(हम्मीर रासो पृ० ३)

१—मोतीलाल मेनारिया ; राजस्थान का पिंगल साहित्य-पृ० ११२

जोधराज का एक मात्र आद्यतन प्राप्त ग्रन्थ 'हम्मीर रासो' ही है जिसको सवत् १७८५ मे कवि ने पूर्ण किया था इसमे कुल ६६६ पद हैं। प्रारभ मे गणेश तथा सरस्वती की वन्दना की गई है। तदुपरान्त पृथ्वीराज के कुल मे उत्पन्न चद्रभान का वर्णन करते हुये कवि ने अपना परिचय दिया है। परपरागत पद्धति का अनुकरण करते हुए कवि ने हम्मीर की वशावली दी है। 'हम्मीर रासो' काव्य का चरित नायक 'राव हम्मीर' अनेक अनुश्रुतियो और लोक कथाओ का जन्मदाता रहा है। 'तिरिया तेल हम्मीर हठ, चढै न दूजी वार' की कहावत का आलबन राव हम्मीर बडा वीर, निर्भीक और साहसी पुरुष था। उसको लेकर अनेक किन्दन्तियो का प्रचलन हो गया है। ऐसे लोकप्रिय चरित्र को लेकर कवि ने अपने नैपुण्य का भली भाति निर्वाह किया है। महत् चरितो को लेकर कविता लिखना बड़ी टेढी खीर है। कवि ने इतिहास की माग की परवाह नही की किन्तु लोक-रुचि और काव्य की आवश्यकताओ को समझा और उनका पालन किया। यही कारण है कि उसके इस ग्रन्थ मे स्थान स्थान पर सबल और रस सिद्ध पक्तिया दीख पडती हैं। यथा —

हठ तो राव हमीर को, और रावण की टेक।
सत राजा हरिचन्द को, अर्जुन बाण अनेक॥
० ० ०
गही टेक छाडे नही, जीभ चोच जरि जाय।
मीठो कहा अगार को, ताहि चकोर चुगाय॥

'हम्मीर रासो' एक वीर रस का काव्य है। कवि ने इसमे पूरी सफलता पाई है। बकौल मेनारिया जी के जोधराज की कविता मनोहर और वीरोल्लासिनी है। भाषा शैली सरस और चित्ताकर्षक है। किन्तु कवि को वीर के अतिरिक्त अन्य रसो मे भी अच्छी सफलता मिली है। ग्रन्थ के आरभ मे पद्मऋषि की तपस्या भग होने की कथा के बहाने कवि ने षड्ऋतु वर्णन और प्रसगवश प्रकृति चित्रण की परिपाटी का पालन किया है, किन्तु यह महज़ परिपाटी का निर्वाह मात्र ही नही है। वीर काव्य प्रणेता अन्य कवियो की तुलना मे जोधराज को इस क्षेत्र मे भी अभूतपूर्व सफलता मिली है। शृगार रस में भी कवि बिना किसी विशेष प्रयास के ही सफल हुआ है। जोधराज की भाषा 'पिंगल' है किन्तु जनपदीय शब्दो का भी आवश्यकता के अनुकूल उपयोग किया गया है। भाषा का प्रयोग प्रसगानुकूल हुआ है। वीर रस के प्रसगो मे डिंगल की परपराओ का भरपूर उपयोग किया गया है तो शृगार के अवसर पर ब्रजभाषा के सहज माधुर्य की रक्षा भी की गई है। कवि का वास्तव मे भाषा पर विपुल अधिकार था। भाषा का सहज अकृत्रिम स्वरूप, सरस प्रवाह रचना सौष्ठव सभी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है 'हम्मीर रासो' का अध्ययन कर लेने पर यह विश्वास हो जाता है कि कवि जोधराज का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। और उसे भावानुकूल बनाने की कला मे वे निष्णात थे। 'भाषा की दृष्टि से निसदेह हम्मीर रासो' एक सफल रचना है।

(४) वंशभास्कर —

वशभास्कर के रचयिता वीरसावतार महाकवि सूर्य्यमल डिंगल के अन्तिम महाकवि थे। इनका सक्षिप्त परिचय हम वीरसतसई पर विचार करते समय जान चुके हैं। यह ग्रन्थ सवत् १८३७ मे लिखा गया। टीका समेत ४३६८ पृष्ठो मे छपा है। मूल ग्रन्थ प्राय. २५०० पृष्ठो का है। इसमे विविध छदो द्वारा मुख्यतया बूदी राज्य का वर्णन है और गौण रूप से अनेकानेक विषयो एव कथाओ के सागोपाग भारी कथन है। यह ग्रन्थ महाचम्पू है। वशभास्कर की कविता मे प्रसाद गुण नही है, अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट है, यहा तक कि टिप्पणी से भी आशय सुगमता से नही खुलता। इसका एक बहुत बड़ा कारण सूर्यमल्ल जी की भाषा की क्लिष्टता है। कही कही तो इन्होने अपने निज के बहुत शब्द गढ़ लिए हैं जो अनावश्यक रूप से पाठक को चक्कर मे डाल देते हैं।[1]

वशभास्कर की भाषा के विषय मे विद्वानों में काफी मतभेद चला आ रहा है। श्री सूर्यकरण जी पारीक ने उसे कृत्रिम डिंगल कहा है। श्री मेनारिया जी ने वशभास्कर की भाषा को न शुद्ध डिंगल माना है, न शुद्ध पिंगल। उसे वे चारणो की खिचड़ी भाषा मानते हैं, जिसमे सस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओ के शब्दो का प्रयोग हुआ है और क्रियापद सयोजक शब्द, कारक-चिन्हादि भी डिंगल और पिंगल दोनो के मिलते है।[2]

वस्तुत. वशभास्कर की भाषा पिंगल है और उसमे यथावसर अन्य भाषाओ का उपयोग भी है। गीत तो शुद्ध डिंगल मे रचे गये है। वशभास्कर के युद्ध वर्णन बड़े रोचक हैं। जिस समय सूर्य्यमल युद्ध का वर्णन करना आरभ करते हैं, वे किसी भी बात को अधूरी नही छोड़ते, युद्ध सम्बन्धी किसी विषय को अल्पता से नही देखते। सेनाओ की मुठभेड, वीरो का जयनाद, कायरो की भगदड, घायल वीरो का करुण क्रन्दन इत्यादि के सिवा जिस समय योद्धा वार करता है उसकी तलवार कैसी दीख पडती है, रक्त की सरिता किस प्रकार खल खल शब्द करती हुई समर स्थली मे प्रवाहित होती है और मास के लोभ से लाशों पर बैठे हुए गीध दूर से कैसे दीख पड़ते हैं आदि बातो का नाना प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षाओ द्वारा वे ऐसा सुन्दर, ऐसा स्पष्ट और ऐसा सबल मजमून बाधते हैं कि पढते ही हृदय सहसा हिल जाता है।

जहा तक राजस्थानी गद्य के विवेचन का प्रश्न है, उसे हम चौथे अध्याय मे विस्तारपूर्वक ले चुके है। अतः यहा उस पर विचार नही किया जायेगा।



१—सहल, गौड व आसिया : वीर सतसई—भूमिका-पृ० ६४
२—मोतीलाल मेनारिया : डिंगल मे वीररस-पृ० ८९

४

डिंगल : प्रवृत्तियाँ और काव्यरूप

डिंगल काव्य अन्य भाषा के काव्यो की तरह ही प्रबन्ध और मुक्तक के रूप मे विभाजित किया जा सकता है, फिर भी इसमे अन्य काव्य रचनाओं से बहुत अतर है। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य ग्रहीत किए जाते हैं परन्तु डिंगल मे रासो, प्रकाश, विलास, रूपक, छद, वेलि, प्रबन्ध आदि नामो से अनेक प्रबन्ध काव्य मिलते है। रासो नामक रचना महाकाव्य भी हो सकती है।[1] वह खण्डकाव्य भी हो सकती है।[2] यही बात अन्य ऊपर लिखे नामों की रचनाओ के सम्बन्ध मे लागू होती है। इन सब कृतियो मे वस्तु सम्पादन, शिल्प विधान, और शैली मे नगण्य-सा ही अन्तर रहता है, जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे।

डिंगल प्रबन्ध काव्य

प्रबन्ध काव्यो के रूप मे अपभ्रंशकाल से आज तक अनेक ग्रन्थ लिखे जाते रहे है। ग्रन्थालयो, उपाश्रयो व अनेक चारणभाटो के सग्रहों मे ऐसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते है। वैसे तो इन प्रबन्ध काव्यो मे विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी भिन्नता दीख पडती है, परन्तु मोटे तौर पर सबमे कुछ सामान्य विशेषताए मिल जाती हैं।[3] ये प्रबन्ध काव्य किसी राजा, सामत अथवा कवि के उपास्य देव के चरित को उपजीव्य बना कर लिखे गए है। कुछ काव्य ग्रन्थो को अपवाद स्वरूप छोड़ कर, हम सभी प्रबन्ध काव्यो मे विषय वस्तु के ऐतिहासिक आधार, यथार्थ जीवन, वास्तविक भावभूमि और सहज अभिव्यक्ति का अभाव पाते हैं। इन प्रबन्ध काव्यो मे तथ्य और कल्पना, इतिहास और रोमान्स का विचित्र समन्वय है।[4] ऐसा करने में कवि को वीर रस का वर्णन करने के लिए अनेक कल्पित युद्धकारणो की

१—पृथ्वीराज रासो, रामरासो, राजरूपक, खुम्माणरासो आदि

२—राउ जैतसीरो रासो, वेलि क्रिसन रुकमणीरी, नागदमण, वीरमायण, वीसलदे रासो आदि।

३—शम्भूनाथ सिह · हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—पृ० १९७-२००

४—हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ७१

उद्‌भावना करनी पड़ी है। सुन्दर राजकुमारियों का हरण और ऐसा करने मे युद्ध, बस कवि को अपने चरित नायक के शौर्य प्रदर्शन का अवसर मिल ही तो गया। उसकी उदात्त कल्पना और काव्यकौशल अजीब-सा समा बाध देता है। हमारे विद्वान इन वर्णनो में ऐतिहासिकता ढूढने की भयंकर भूल कर बैठे।[1] उन्हें निराश होना पड़ा और फिर वे लोग एक स्वर से इन काव्य ग्रन्थो को महत्वहीन समझने लगे। चम्मच से चाकू के कर्म की उम्मीद करना चतुराई नही कही जा सकती। अस्तु—

विवाहो के बाद ऐश आराम। इसमे कवि की शृंगारिक प्रवृत्ति को खुल कर खेलने का मौका मिलता था। वह मृगया, उत्सव, संयोग और वियोग शृंगार, बारहमासा, षट्‌ऋतु वर्णन आदि अनेक परम्परागत वस्तु विन्यास का आश्रय ले लेता था, और अपने काव्य को अधिक रमणीय बना देता था।[2] इस समय के साहित्य की कथानक रूढियो और मुख्य प्रवृत्तियो पर अन्यत्र विचार किया गया है, अतः अभी हम इस विषय को नहीं उठायेंगे।

प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यो मे चरित नायक की वंशावली दी गई हैं। इन वंशावलियो का प्रारम्भ बहुधा किसी दिव्यगुणोत्पन्न महापुरुष या, देवी, देवताओं से जोड़ा जाता है। ऐसा करने मे कवि कोई अनौचित्य नही देखता। उदाहरण के लिए रासो के चरित नायक का जन्म 'अग्नि से उत्पन्न वंश' विशेष मे बताया गया है।[3] और 'सूरज प्रकाश' मे कवि करणीदान ने राज-वंशावली का प्रारम्भ ब्रह्मा से किया है।[4] इस परिपाटी का निर्वाह प्रायः सभी ग्रन्थो मे किया गया है।

कथा तत्व मे दृढता और रोचकता लाने के लिए कवि ने अनेको बार अतिप्राकृत प्रसंगो की भी अवतारणा की है। किसी भी ऐसी सभाव्य घटनावली की उद्‌भावना करने मे कवि को कोई हिचक अनुभव नही होती थी, जो उसके आश्रयदाता के शौर्य, साहस, चतुराई, दानशीलता आदि उच्च गुणो को प्रदर्शित करने मे अथवा अपने बहुक्षेत्रीय ज्ञान का परिचय देने मे सहायक हो सकती थी। अतः सभी प्रबन्ध काव्यों मे अतिप्राकृत प्रसगो की उपलब्धि होती है।[5]

रास, रासक, रासो, रासा, रासौ, रासउ, रसायन, रायसो, रासु आदि नामो से पुकारे जाने वाले काव्य ग्रन्थो की बहुत बटी सख्या डिंगल साहित्य मे उपलब्ध है। कभी कभी यह प्रश्न उठता रहता है कि इन सबमे भेद है अथवा ये सभी शब्द पर्याय हैं। नरोत्तम स्वामी की धारणा है कि वीर रस प्रधान काव्य को रासो सज्ञा दी जाती थी और वीर रसेतर काव्य रास कहलाते थे।[6] किन्तु डा० दशरथ ओझा ने

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य—पृ० ५९

२—हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ७२-७३

३—कविराव मोहनसिंह : पृथ्वीराज रासो—पृ० १६

४—गोवर्द्धन शर्मा : प्राचीन राजस्थानी कवि—खण्ड २, पृ० ६१

५—गोवर्द्धन शर्मा : प्राचीन राजस्थानी गीत—भाग ६—भूमिका—पृ० ९

६—डा० दशरथ ओझा : रास और रासान्वयी काव्य—पृ० १

सप्रमाण सिद्ध किया है कि स्वामी जी की यह धारणा तथ्यमूलक नही है।[1] रास, रासक, रासो एकार्थवाची शब्द हैं। इनमे कोई भेद नही है। इसके पहले कि हम रासो के क्रमिक विकास का अध्ययन करें, हम इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो के मतो को जान ले, उचित होगा। रासो के विकास के सम्बन्ध मे निम्न प्रमुख मत है—

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बीसलदेव रास मे प्रयुक्त रसायण शब्द से रासो की उत्पत्ति मानी है।[2]

२—फ्रासीसी विद्वान गार्सीदा तासीं के अनुसार इसकी उत्पत्ति राजसूय से है।[3]

३—रामचन्द्र वर्मा इसे रहस्य से उत्पन्न मानते हैं।

४—मुंशी देवीप्रसाद के अनुसार रासे के मायने कथा के है। यह रूढी शब्द हैं, एक वचन रासो और बहुबचन रासा।[5]

५—ग्रियर्सन राजादेश से रायसो की उत्पत्ति मानते है।[6]

६—गौरीशकर ओझा के अनुसार रासा शब्द ही उपयुक्त है और इसकी उत्पत्ति सस्कृत रास से है।[7] इस मत को डा० दशरथ ओझा उचित नही मानते। उनकी मान्यता है कि रास शब्द वस्तुत. सस्कृत भाषा का नही है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो सस्कृत बन गया है।[8]

७—पडित मोहनलाल विष्णुलाल पंडया के अनुसार हिन्दी रासो शब्द सस्कृत रास अथवा रासक से उत्पन्न है।[9]

८—मोतीलाल मेनारिया के अनुसार चरित काव्यो मे रासो ग्रन्थ मुख्य हैं। जिस काव्य ग्रन्थ मे किसी राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध, वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे रासो कहते है।[10]

९—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र रासो की उत्पत्ति के लिए रासक शब्द को आधार मानते हैं।[11]

१—डा० दशरथ ओझा . रास और रासान्वयी काव्य—पृ० २
२—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २८
३—गार्सीदा तासीं : हिन्दुई साहित्य का इतिहास—डा० माहेश्वरी द्वारा उद्धृत
४—रामचन्द्र वर्मा : प्रामाणिक हिन्दी कोश—पृ० ९६१
५—मुंशी देवीप्रसाद . सरस्वती—भाग ३-पृ० ९८
६—वही—पृ० ९७
७—सम्मेलन पत्रिका, भाग ३३, संख्या १२—पृ० ९७
८—दशरथ ओझा . हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—पृ० ७०
९—सम्मेलन पत्रिका—भाग ३३, सख्या १२—पृ० ९७ पर उद्धृत
१०—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य—पृ० २४
११—विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत—भाग १

१०–कुछ लोग राजयशवाली रचना को रासो मानने के पक्ष मे है, किन्तु यह मत एकांगी है।

११–रासो, रायसो का अर्थ झगडा, पचडा या उद्यम को लेकर इस आधार पर भी रासो की व्युत्पत्ति ढूंढने की चेष्टा की गई है।[1]

१२–गुजराती साहित्य के विद्वान के० का० शास्त्री के अनुसार रास या रासक मूलत: नृत्य के साथ गाई जाने वाली रचना विशेप है।[2] इसी मत का समर्थन संस्कृत विद्वान डोलरराय माकड भी करते हैं।[3]

१३–हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो और रासक को पर्याय मानते हुए हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के आधार पर इसे मिश्र गेय-रूपक माना है।[4]

१४–कुछ विद्वान गुजराती लोकगीत–नृत्य गरवा को रास का उत्तराधिकारी मानते हैं। रास वहुधा, गेय तत्वो से युक्त, दोहा चौपाई आदि मात्रिक छंदों में लिखा जाता था।[5]

१५–डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दो मे विविध प्रकार के रास, रासावलय रासा और रासक छदो, रासक और नाट्य-रासक उपनाटको, रासक, रास तथा रासो-नृत्यों और नृत्यो से भी रासो प्रवन्ध परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है, यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता। कदाचित् नही ही रहा है।[6]

१६–मं० र० मुजमदार के अनुसार पहले धर्मोपदेश ही रासाओ का मुख्य हेतु था। फिर उपदेश मे कथा तत्व और चरित्र संकीर्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ। साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक नृत्य काव्य अथवा गेय रूपक है।[7]

१७–डा० विजयराय वैद्य रास या रासो को छन्द, राग, धार्मिक कथा आदि विविध तत्वो से युक्त देखते हैं।[8]

१८–डा० दशरथ शर्मा के अनुसार रास के नृत्य, अभिनय और गेय वस्तु इन्ही तीनों अंगो से समय पाकर परस्पर मिलते जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासो की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य विशेप रास कहलाये–इसी प्रकार श्रव्य रास और रासक उपरूपक वने।[9]

१–वैजनाथ खेतान : साहित्य सन्देश–वर्ष १२–अंक ११–पृ० ४५०
२–के० का० शास्त्री : आपणा कविओ भाग–१, पृ०१४३–१५२
३–लेखक से हुई निजी चर्चा मे तथा वाणी–चैत्र २००४ मे प्रकाशित उल्लेख।
४–हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल–पृ० ५९
५–केटलाग आफ गुजराती एण्ड राजस्थानी मेन्युस्क्रिप्टस् इन इण्डिया आफिस।
६–माताप्रसाद गुप्त : हिन्दी अनुशीलन–वर्ष ४–अंक ४
७–म० र० मजुमदार : गुजराती साहित्यना स्वरूपो–पृ० ६९-७१
८–विजयराय क० वैद्य : गुजराती साहित्यनी रूपरेखा–पृ० १९-२०
९–दशरथ शर्मा : साहित्य सदेश–जुलाई १९५१–अंक १

१९–डा० हरिवल्लभ भायाणी ने सन्देश रासक मे प्रयुक्त 'रासा' नामक छद की चर्चा की है। अपने मत की पुष्टि मे वे विरहाक के वृत्तजाति समुच्चय के रासव और स्वयभूछदस् के रासा छदो का हवाला देते है।[1] इसी प्रकार डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने पृथ्वीराज रासो मे पाच स्थलो पर रासो छन्द प्रयुक्त होने की सूचना दी है। उनके अनुसार इतना तो कहा ही जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य मे अनेक विशिष्ट छन्दो का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था।[2] छन्द प्रभाकर[3] और हिन्दी छन्द प्रकाश मे[4] रासक और रास को एक छन्द विशेष बताया गया है।

२०–कई विद्वानो का यह भी मत है कि रस पूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई। अपने मत के समर्थन मे वे शालिभद्रसूरि रचित 'पच-पाडव चरित रासु' का निम्न उल्लेख देते है[5]—

रासि रसाउलु धुणीज्जई।

निसदेह रास रसमय और रोचक काव्य रूप था इसी से जैनो ने रसमय वाणी मे धर्मोपदेश देने के हेतु 'रासा' की रचना की।[6] इसी मान्यता को क० मा० झवेरी मानते है।[7]

२१–भागवत् मे रास शब्द का प्रयोग गीत-नृत्य के लिए हुआ है[8] जिसमे ध्रुपद आदि अनेक रागो का भी प्रयोग किया जाता था।[9]

२२–रास खेले जाते थे, इसके उल्लेख अनेक स्थान पर मिलते हैं। आगे चल कर इस दृष्टि से विस्तृत विचार किया जायेगा। शारदा तनय ने भावप्रकाश मे तीन प्रकार के रासक बताये हैं[10] और उपरूपको के अन्तर्गत 'रासक' नामक गेय-नाट्य

१–भायाणी सन्देश रासक–अग्रेजी भूमिका–छन्द विवेचन।
२–विपिनविहारी त्रिवेदी . रेवातट समय–भूमिका–१३४-१३५
३—जगन्नाथप्रसाद भानु : छन्द प्रभाकर–पृ० ५९
४—रघुनन्दन शास्त्री . हिन्दी छद प्रकाश–पृ० २४५
५—गुर्जर रासावली . गायकवाड ओ० सिरीज मे प्रकाशित।
६—चन्द्रकान्त मेहता मध्यकालना साहित्य प्रकारो–पृ० ३०७
७—के० एम० झवेरी · माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर।
८—श्रीमद्भागवत्–दशमस्कध–अध्याय ३३–श्लोक ३
रासोत्सव : सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मडित:।
९—श्रीमद्भागवत्–दशमस्कध–अध्याय ३३–श्लोक १०
तदेव धुवम्निन्ये तस्मै मान च बह्वदात्।
१०—शारदा तनय : भावप्रकाश–गायकवाड ओ० सिरीज
लतारासक नाम स्याद्त्रेधा रासकमवेत्
दण्डरासकमकन्तु तथा मण्डल रासकम्॥

का उल्लेख किया है ।[1] हेमचन्द्र,[2] वाग्भट, व कविराज विश्वनाथ का भी यही मत है ।[3] रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत-गेय-रूपक-है जिसमे अनेक नर्तकियां होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और चौसठ तक के युगल होते हैं ।[4] हिन्दी मे भी इसे उपरूपको मे से एक माना गया है ।[5]

२३—हिन्दी साहित्य कोश मे लिखा है कि रासो नाम से अभिहित कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत नृत्य परक हैं और दूसरी छन्द वैविध्य-परक हैं । नृत्य-गीत परक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात मे विशेष रूप से समृद्ध हुई और छंद-वैविध्य-परक धारा पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश मे अधिक विकसित हुई ।[6]

इन सब उल्लेखों से निम्न तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं —

१—आरम्भ मे रासक नृत्य–गीत–परक अभिनेय रचना थी ।

२—कालान्तर मे उसके इन तीनो रूपो का विकास हो उठा फलस्वरूप रास या गरबा जो शुद्ध गीत-नृत्यमय रचना है, रास या ख्याल जो नाट्यरूपक हैं और रासो या काव्यात्मक रास ग्रन्थ जो श्रव्यकाव्य और साहित्यिक रूप ग्रहण कर बैठे ।

३—रासो की उत्पत्ति रासक आदि नृत्य-गीतादिसे ही हुई ।

अब हम रासा के इन तीनों प्रकारो के विकास को—एवं काव्यरूप को समझने की चेष्टा करेंगे ।

रासक शब्द नाट्य शास्त्रो मे नृत्य और नाट्य दो रूपों मे व्यवहृत हुआ है। अग्निपुराण के अध्याय ३२८ मे नाटक के २७ भेदं मे रासक नाम का उल्लेख मिलता है, किन्तु उक्त स्थल पर न तो उसे उपरूपक की संज्ञा ही दी गई है और न उसके

१—शारदातनय : भावप्रकाश काव्य च प्रेक्षण नाट्य रासकं रासक तथा
उल्लोप्यकं च हल्लीसमथ दुर्मल्लिका पि च ॥

२—हेमचन्द्राचार्य · काव्यानुशासनम्
गेय-डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिगक-भाणिका-प्रेरण-रमाक्रीड-
हल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्री गदित राग काव्यादि ॥

३—विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, ५।६
नाटिका त्राटक गोष्ठी सट्टकं नाट्य रासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यनि प्रेक्षण रासकं तथा ॥

४—वही -
अनेक नर्तकी योज्य चित्र ताल लयान्वितम् ।
आचतुःषष्टि युगला द्रासकं मसृणोद्धतम् ॥

५—सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र–पृ० ८९९

६—हिन्दी साहित्य कोश–पृ० ६५६

लक्षणो पर प्रकाश ही डाला गया है। अग्निपुराण से पहले नाट्यशास्त्र मे लास्य के दस अंगो का वर्णन मिलता है पर वहा भी रासक का उल्लेख गायब है। जो इस बात का द्योतक है कि अग्निपुराण की रचना के समय तक रासक को गेय-रूपक का स्थान नही मिल पाया था।

यद्यपि दशरूपक मे नृत्य के सात भेदो का नामोल्लेख है किन्तु इन्हे कही भी उपरूपक की सज्ञा नही दी गई है। इसी तरह अभिनव भारती मे रासक का उल्लेख है किन्तु उसे उपरूपक नही माना गया है।[1] हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे गेयकाव्यो के अंतर्गत रासक नाम मिलता है। तात्पर्य यह है कि हेमचन्द्र तक आते-आते नृत्य के एक भेद रासक ने गेयकाव्य की स्थिति प्राप्त कर ली। शारदातनय के मत को हम पहले बता ही चुके हैं। आगे चल कर विश्वनाथ ने रासक को स्पष्टतया उपरूपको की कोटि मे परिगणित किया है। (उद्धरण सख्या ४३-४४ देखिये।)

हिन्दी नाटको का उद्भव और विकास ऐसे ही रासो से हुआ इस धारण के विरोध मे डा० भोलाशकर व्यास है। वे इसको निराधार कल्पना मानते हैं।[2] इसमें तो कोई सदेह नही है कि रास सज्ञक रचनाए खेली जाती थी। रेवन्तगिरी रास में रास की अभिनेयता का उल्लेख है[3] —

रंगहिए रमए जो रासु, सिरि विजय सेणिसूरि निम्भविउए।

नाल्ह की रचना वीसलदेव रासो मे एक उद्धरण ऐसा मिलता है जिसके आधार पर रास के खेल मे नृत्य, वाद्य एव गीत के प्रयोग का प्रमाण पाया जाता है।[4] —

सरसति सामणी करउ हउ पसाउ।
रास प्रगासउं वीसलदे राउ ॥
सेला पइसइ माडली ।

इसी रास मे दूसरा उद्धरण विचारणीय है[5] —

गावणहार माडइ अर गाई ।
रास कइ समयइ वसली वाई ॥
ताल कई समचइ घूघरी ।
माहिली माडली छीदा होइ ॥
बारली माडली सावणा ।
रास प्रगास ईणी विधि होइ ॥

१—दशरथ ओझा : रास और रासान्वयी काव्य—पृ० ३
२—भोलाशकर व्यास · हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—भाग १ पृ० ४१४
३—दशरथ ओझा · रास और रासान्वयी काव्य—पृ० ११४
४—सत्यजीवन वर्मा · वीसलदेव रासो—पृ० ४
५—सत्यजीवन वर्मा · वीसलदेव रासो—पृ० ५

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार रास के गायक अपना स्वर ठीक करके बांसुरी बजा बजाकर ताल के साथ नर्तन करते हुए रास का अभिनय करते हैं। मध्य की रासमडली कम सघन होती है और बाहर की मडली सघन है। इस प्रकार रास का प्रकाश होता है।

चौदहवी शताब्दी मे रास के अभिनय का प्रमाण 'सप्तक्षेत्रि'[1] रासु' के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

वइसइ सहूइ श्रमणसघ सावय गुणवता।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरण घरता।
तीछे तालाराम पडइ वहू भाट पढता।
अनइ लकुटरास जोहई खेला नाचता॥

इस उद्धरण मे भी भाटो के द्वारा ताला रास का पढना वर्णित है किन्तु साथ-साथ ही नाचते हुए लकुटरास का खेलना भी दिखाया गया है। यही पद्धति सभी लोक नाटको की है। जिन्होने कभी यक्ष-गान का अभिनय देखा होगा उन्हे ज्ञात होगा कि एक ही कथानक को गीत एव नर्तन के द्वारा युगपत् किस प्रकार किया जाता है।

रास के गेय रूपकत्व मे क्रमिक विकास हुआ है। इस विषय मे पत्र पत्रिकाओ में समय समय पर लेख प्रकाशित होते रहे हैं। यहा सक्षेप मे प्रो० म०र० मजुमदार[2] के मत का सारांश दे देना पर्याप्त होगा।

'साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से 'रासक' एक नृत्य काव्य या गेयरूपक है। सस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो मे 'रासक' और 'नाट्य रासक' नाम से दो उपरूपको की टिप्पणी प्राप्त होती हैं। कुछ लोग इस उपरूपक को 'नृत्यकाव्य' कहते हैं और हेमचन्द्र इसे गेयरूपक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि (१) इसमे सगीत की मात्रा अधिक होती है। (२) पूर्णकथावस्तु छदो के माध्यम मे वर्णित होती है। (३) सभी गेय पद पूर्ण अभिनेय होने चाहिए।'

प्रो० मजूमदार 'सदेश रासक' की अभिनेयता का परीक्षण करते हुए लिखते है—'सदेश रासक' के सभी छद गेय है और इसकी समस्त कथावस्तु अभिनेय है। इसलिए यह गेयरूपक है और यह नाटक की भाति प्रत्यक्ष दिखाने के लिए ही लिखा गया था ऐसा तो उसकी टीका मे ही स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम गाथा के आरभ में

'ग्रन्थप्रारम्भे अभीष्ट देवता प्रणिधानप्रधाना प्रेक्षवता।
प्रवृत्तिरित्यौचित्यात् सूत्रस्य प्रथम नमस्कार गाथा।'

इस उद्धरण में ग्रन्थ लेखक के लिए प्रेक्षावत् शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि टीकाकार इसे रूपक का ही एक प्रकार मानते हैं। आगे चल कर बहुरूपियों के

१—दलाल : प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह-पृ० ५२
२—म०र० मजुमदार : गुजराती साहित्यना स्वरूपो-पृ० ७२

द्वारा इस काव्य का पढा जाना यह सिद्ध करता है कि यह केवल श्रव्यकाव्य नही अपितु बहुवेश धारण करने वाली जा॰ि के द्वारा यह गाया भी जाता था।

डा॰ दशरथ ओझा की मान्यता है कि रास का मूल अर्थ है गर्जना। उसके वाद उसका अर्थ हुआ मात्रिक छद मे विरचित रचना। उसके बाद एक दो छदो मे विरचित रचना रास कहलाने लगी। तदुपरात इसने स्वतत्र गेय उपरूपक का अर्थ धारण किया। सामूहिक गेयरूपक होने पर रस अनिवार्य बन गया। इसीलिए रास काव्य रसायन कहे जाने लगे। रसपूर्ण होने के कारण ही यह रचना रास कहलाई ऐसा भी एक मत है।[1]

रास के इस गेयरूपकत्व के सम्बन्ध मे इतने अधिक प्रमाण हैं कि शक की कोई गुजाइश नही रह जाती। प्राचीन राजस्थानी के अनेक रासग्रथ उपरूपक कहे जा सकते है। वे गेय हैं, लघु हैं और एक प्रकार से प्रभावमय है। चूकि डिंगल के रासोग्रथ काव्यगथ अधिक है उपरूपक कम, हम रासो के इस पहलू पर अब और अधिक विस्तार मे नही जायेंगे।

यह तो हुआ रासक या रासो के विकास का एक पहलू। अब हम उसके दूसरे रूप को देखेंगे।

सस्कृत-लक्षण-ग्रन्थो के अतिरिक्त विरहाक कृत 'वृत्त जाति समुच्चय' एवं स्वयभू कृत 'स्वयभूच्छन्दस्' (९वी शताब्दी) मे रासक को एक छद विशेष एव एक काव्य प्रकार के रूप मे हम देखते है —

अडिलाहि दुवहएहिव मत्ता-रड्ढहि तह अढोसाहि।
वहुएहि जो रइज्जई सो भरणइ रासऊ णाम॥

जिस रचना मे घत्ता अडिला, दूहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा आदि छद आयें वह रासक कहलाती है। (वृत्त जाति समुच्चय ४-३८)।

स्वयभू के अनुसार जिस काव्य मे घत्ता, छड्डुणिया, पद्धडिया तथा अन्य सुदर छद-बद्ध रचना हो, जो जनसाधारण को मनोहर प्रतीत हो वह रासक कहलाती है।

(स्वयभू छदस् ८।४२——)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उत्तार अपभ्रशकाव्य काल अथवा पुरानी-हिन्दी-युग मे रास नामक नृत्य से विकसित होकर रासक उपरूपक की कोटि मे विराजमान हो गए थे। जब हम 'सदेश रासक' का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे भी रास या रासक दो रूपो मे प्रचलित थे। एक स्थान पर तो वह नृत्य के रूप मे वर्णित है किन्तु दूसरे स्थान पर वह हेमचन्द्र के गेय रूपक की परिधि मे आसीन है। हेमचन्द्र ने रामाक्रीड आदि गेय 'उपरूपको के अभिनय के लिए 'भाष्यते' शब्द का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार मिलता है —

१—दशरथ ओझा : रास और रासान्वयीकाव्य–पृ॰ १३

ऋतु-वर्णन सयुक्त रामाक्रीडं तु भाण्यते ।[1]

ठीक इसी प्रकार का वर्णन सदेश-रासक[2] मे मिलता है —

कह व ठाइ चउवेइहिं वेउ पयासियइ,
कह वहुरूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ ॥

अर्थात् किसी स्थान पर चारो वेदो के ज्ञाता वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं विविध रूपों से निवद्ध रासक पढे जाते हैं ।

यहां रासक का पढा जाना स्वयं ही उसके श्रव्यकाव्य की ओर विकसित होने की सूचना देता है । यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'रास' नामक रचनायें नृत्य मे गाई जाती थी, और उनका सस्वर पाठ होता था । प्राचीन रास मात्रिक छदो में रचित है, जवकि इसके वाद की रचनाओ मे देशी या शास्त्रीय गेयपदों का भी कहीं-कही समावेश मिल जाता है ।[3] पन्द्रहवी शती पूर्व एव वाद के रासाओ में और भी अनेक अन्तर विचारणीय हैं । लगता है कि पन्द्रहवी शती तक जैन रासाओं का स्वरूप निर्माण हो रहा था । उनमें या तो धार्मिक स्थलों की—तीर्थ स्थानों की प्रशस्ति होती थी जैसे रेवतगिरीरास,[4] आबूरास,[5] कच्छुली रास,[6] सप्तक्षेत्रि रास[7] आदि अथवा किसी महापुरुष, दिव्य पुरुष, तीर्थंकर अथवा धर्मवीर पुरुष की प्रशस्ति होती थी जैसे भरत और वाहुवलि,[8] जम्बुस्वामि, नेमिनाथ[9] जैसे देवी देवताओ या पेथड,[10] समरसिंह[11] जैसे धर्मवीरो की । चौदहवी शती के रासाओ मे पौराणिक और काल्पनिक कथाओ का समावेश होने लगा । पौराणिक कथाओ मे नलदमयती,[12] राम,[13] आदि की कथाओं को लेकर रास रचे गये । इसी प्रकार रासो के वस्तुतत्व मे लोककथाएँ, निजधरी कथाएँ और जनविश्वास भी कालान्तर में प्रवेश पाने लगे ।[14] इस प्रकार पन्द्रहवी शती वाद के रासाओ में वस्तुतत्व में विकास तो दिखता ही है किन्तु रचनातत्व की दृष्टि

१—काव्यानुशासनम्—अ०८सू०४, ६५ पृ० ४४६
२—सदेश रासक—द्वितीय प्रक्रम-पद्य ४३
३—के०का० शास्त्री : आपणा कवियो—ख० १-पृ० १४६
४—दलाल : प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में सम्पादित
५—दशरथ ओझा : रास और रासान्वयी काव्य—पृ० १२१-१२८
६—वही—पृ० १३३-१३७
७—दलाल : प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह में सम्पादित
८—मुनिजिनविजय : भरतेश्वर वाहुवलिरास
९—दशरथ ओझा : रास और रासान्वयी काव्य—पृ० ९९-१०५
१०—दलाल : प्राचीन गुर्जर काव्य में सम्पादित
११—ओझा : रास और रासान्वयी काव्य पृ० २२७-२४२
१२—साडेसरा : नलदववंती रास
१३—ओझा : रास और रासान्वयीकाव्य-पृ० ४०७-४३०
१४—चंद्रकान्त मेहता : मध्यकालना साहित्य प्रकारो—पृ० ३१३

से भी अतर है। प्राचीन जैन रास मात्र एक ही वस्तु का आलेखन करते थे, शान्तरस की प्रधानता रहती थी, पात्रो के विकास की सम्भावना नही थी, किन्तु बाद के रासाओ मे अनेक अन्तरकथाओ, दीर्घवर्णनो, समकालीन जीवन के खण्डचित्रो, उपदेश-सूत्रो, कथानक रूढियो, सूक्तियो आदि के संयोग से जटिलता आ गई। अनेक रसो को अभिव्यक्ति मिलने लगी। इन सब कारणो से परवर्ती रासाओ का आकार बढता चला गया। उनमें कथातत्व भी महत्व पाने लगा। प्रारम्भिक रासाओ का विस्तार सीमित और कोमलकाय जान पडता है, वहा बाद की रचनाएँ महाकाव्य की परिधि स्पर्श करने लगी। एक अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। जहा प्रारम्भिक ग्रथो में मात्र धार्मिक दृष्टि का प्राधान्य था, महापुरुषो या देवी देवताओ की स्तुति थी, वहा बाद की रचनाओ ऐतिहासिक व्यक्तित्वो का प्रवेश हो गया।[1]

ऐतिहासिक प्रसगो को लेकर रचित गद्य-पद्य मय कृतिया अपभ्रश सस्कृत मे मिल जाती है। मेरुतु गाचार्य कृत प्रवध चिन्तामणि[2] तथा राजशेखर की 'चतुर्विशति-प्रवध' ऐसी ही कृतियाँ है जिनमे भोज, कुमारपाल, सिद्धराज, राणकदेवी, मुज इत्यादि ऐतिहासिक पात्रो के जीवन-प्रसगो का उल्लेख है। परवर्ती रासो रचनाएँ वस्तु सगठन, वर्णन विस्तार, शैली तथा कथानिरूपण की दृष्टि से प्रवध की कोटि मे आ जाती है। डा० चद्रकान्त मेहता ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि रास और प्रबव ये दोनो एक दूसरे के पर्याय के रूप मे पन्द्रहवी सदी के बाद प्रयुक्त होते थे।[3] यही नही एक ही कृति को चरित, प्रवध, चुपई, पवाडु और रास नाम से पुकारा गया है। पद्मनाभ विरचित कान्हडदे प्रबन्ध ही काहानडदेव चुपइ, कान्हडदे पवाडउ, कान्हड चरिय, राउल कान्हडदे पवाडु रास आदि नामो से पुकारा गया है।[4] के०का० शास्त्री समरारासु को प्रवध मानने के पक्ष मे हैं।[5] यही हाल पेथडरास का भी है। मजुमदार उसे भी ऐतिहासिक प्रवध की कोटि मे रखते जान पडते हैं।[6] इस सबसे ज्ञात होता है कि कालान्तर की रास, रासु, रासो, प्रबध, पवाडु, वेलि, छद, विलास, रूपक, प्रकास, चउपइ तथा चरित आदि ग्रथ साहित्यिक रचनाएँ हैं और प्रबव काव्य की कोटि मे आती है। इनमे तात्विक अ तर का अभाव है।[7] हजारीप्रसाद जी ने लिखा है—जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए। जब इन काव्यो के लेखक इन

१—चद्रकान्त मेहता : मध्यकालना साहित्य प्रकारो—पृ० ३१३

२—मुनि जिनविजय द्वारा सिंघी ग्रथमाला मे प्रकाशित

३—डा० चद्रकान्त मेहता : मध्यकालना साहित्य प्रकारो—पृ० ३१६

४—के० वी० व्यास : कान्हडदे प्रवध—अ ग्रेजी भूमिका-पृ० २०

५—के०का० शास्त्री : आपणा कविओ-पृ० २११-२२१

६—म०र० मजुमदार : गुजराती साहित्यना स्वरूपो-पृ० ८४

७—वही-पृ० ८०

शब्दो का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मनमे कुछ न कुछ विशिष्ट काव्यरूप रहता होगा। राजपूताने के डिंगल साहित्य मे परवर्ती काल मे ये शब्द साधारण चरितकाव्य के नामान्तर हो गए है। बहुत से चरितकाव्यो के साथ 'रासो' नाम जुड़ा मिलता है—जैसे, रायमलरासो, राणारासो, सगतसिंघरासो, रतनरासो इत्यादि। इसी प्रकार बहुतेरे चरितकाव्यो के साथ 'विलास' शब्द जुड़ा हुआ है—जैसे, राजविलास, जगविलास, विजयविलास, रतनविलास, अभैविलास, भीमविलास। 'विलास' शब्द भी कुछ क्रीडा, कुछ खेल आदि की ओर इशारा करता है। इसी प्रकार कुछ काव्यो के नाम के साथ 'रूपक' शब्द जुड़ा हुआ है--जैसे, राजारूपक, गोगादेरूपक, रावरिणमलरूपक, गजसिंवजीरूपक इत्यादि। स्पष्ट ही रूपक शब्द किसी अभिनेयता की ओर संकेत करता है। ये शब्द केवल इस बात की ओर संकेत करके विरत हो जाते हैं कि ये काव्यरूप किसी समय, गेय और अभिनेय थे। 'रासक' का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे-धीरे ये भी कथाकाव्य या चरित-काव्य के रूप मे ही याद किए जाने लगे। इनका पुराना रूप क्रमशः भुला दिया गया, परन्तु पृथ्वीराज के काल मे यह रूप सम्पूर्णरूप से भुलाए नही गए थे। इसीलिए पृथ्वीराज रासो में कथा-काव्यो के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासक रूप के भी कुछ चिन्ह प्राप्त हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार हमने देखा कि रासो संज्ञक रचनाओ की दो धाराएं स्पष्टतः जान पडती है। एक तो नृत्य-गीत-परक और दूसरी छंद वैविध्य-परक। पहली धारा का उद्भव रास और रासक से हुआ यह हम देख चुके हैं। जैनो की अधिकाश लघु-कृतिया इसी धारा मे गिनी जा सकती है–जैसे आबूरास, समरारासु, चदनबालारास, बुद्धिरास आदि। दूसरी प्रकार की धारा का उत्स अपभ्रंश कालीन साहित्य मे देखा जा सकता है। अपभ्रंश-छंदशास्त्रियो ने रासक और रासाबंध काव्यो के लक्षणो का निर्देश किया है[2] जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इसी परम्परा में पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो, राउ जैतसी रोरासो, रामरासो आदि की गणना की जा सकती है। इस प्रकार की कृतियो मे धीरे-धीरे आवान्तर बातो का प्रवेश होने लगा और साहित्यिक रूढियां बढती चली गईं।

अब हम रासो काव्यो की विशेषताओ पर गौर करें। यहा रासो का अर्थ मात्र रासो संज्ञक रचनाओ से न लेकर हम विस्तृत अर्थ लेंगे जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार की प्रबंधात्मक कृतिया गृहीत की जा सकती है।

प्रत्येक रासो या प्रबंध का प्रारम्भ मंगलाचरण या स्तुति से हुआ है। जैनो ने अपने उपास्य तीर्थंकरो की वंदना से भी ग्रंथो की शुरुआत की है। कुछ उदाहरण देखिये –

१–हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल–पृ० ६०-६१
२–मुनि जिनविजय : भरतेश्वर बाहुबलिरास–आरम्भ

रिसह जिणेसर पय पणेमेवि
सरसत्ति साभिणि मनि समरेवि ।[1]

—शालिभद्रसूरि--भरतेश्वर बाहुवलिरास

अम्बदेव ने समरारासु मे आदिश्वर की वदना करने के बाद सरस्वति की वंदना की है ।[2]

पहिलउ पणमिव देव आदीसरुसे तुजसिहरे ।
अनु अरिहंत सव्वे वि आराहउँ वहुमत्ति मरे ॥१॥
तउ सरसति सुमरेवि सारयससहर निम्मलीय ।
जसु पयकमल पसाय मुरुव माणइ मन रलिय ॥२॥

—अम्वदेव—समारारासु

हीरानद सूरिकृत कलिकाल--रास का प्रारम्भ भी जिनवीर की अभ्यर्थना से, तत्पश्चात सरम्वती की वदना से होता है[3] —

पहिलं घुरि पणमेई, सिरि वीर जिणद ।
सरसति मनि समरेई, आणिय मनि आणंद ॥१॥

-- हीरानदसूरि -- कलिकालरास --

पद्मनाम ब्राह्मण कवि था, अतः उसने अपने कान्हडदे प्रवध मे सवसे पहले गणपति और सरस्वति की वदना की है ।[4]

गोरीनदन वीनवू, ब्रह्मसुता सरसत्ति ।
सरस वध प्राकृत कवू, थउ मुझ निर्मलमत्ति ॥१॥

--पद्मनाभ - कान्हडदे - प्रवंध

इसी तरह से कवि ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अपने आराध्य को स्मरण करते रहते थे । रतनूँ वीरभाण ने राजरूपक का प्रारम्भ यो किया है ।[5]

कमल-नयन मगलकरन, श्री राधा घनश्याम ।
कवि-भ्रम-भमर म सोच कर, सिमटि नाम अभिराम ॥१॥

ढाढी वादर मुसलमान था फिर भी उसने ग्रन्थारम्भ मे सरस्वती की ही वदना की है ।[6]

१—मुनि जिनविजय : भरतेश्वर बाहुबलिरास -- आरम्भ
२—दलाल प्राचीन गुर्जर काव्य -- पृ० २७
३—हिन्दी अनुशीलन -- वर्ष १०, अक १, पृ० ५५
४—के० वी० व्यास · कान्हडदे प्रवध -- पृ० १
५—रामकर्ण आसोपा राजरूपक – पृ० १
६—लक्ष्मीकुमारी चुडावत : वीरवाण पृ० १

सुमत समापो सारदा, आपो उकती आप ।
कमधी जस वरनन करूँ, तुझ महर परताप ॥१॥

--बादर - वीरवांण

किसना जी आढा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रघुवर जस प्रकाश' मे गणेश जी की स्तुति इस प्रकार की है ।[1]

श्री लम्बोदर परम संत वुद्धवंत परम सिद्धिवर ।
आच फरस ओपंत, विघन-वन हंत ऊववर ॥
मद कपोल महकत, मधुप भ्रामंत गधमद ।
नद महेसुर जन निमत, हित दयावत हृद ॥
उचरत 'किसन' कवि यम अरज, तन अनंत भगति जुगत ।
जानकी-कत अक्खण सुजस, एकदत दीजै उगत ॥ १ ॥

–किसना जी आढा - रघुवर जस प्रकास

राम के चरित को आधार बना कर चलने वाले मंछाराम सेवक मंगलाचरण मे श्रीराम की जय मानते हैं ।[2]

श्रीनिध आगमसारं, वारिजनयण च ज्यानकी वल्लभ ।
अखिल जगत आधारं, सारंगधरण जायो अनघेस ॥१॥

--कविमछ-रघुनाथरूपक

राठौड कवि पृथ्वीराज की वेलिका मगलाचरण इस प्रकार है[3] ---

परमेसर प्रणवि, प्रणवि सरसति पुणि, सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार ।
मगल रूप गाइ जै माहव, चार सुए ही मगल चार ॥ १ ॥

--राठौड़ प्रिथीराज - वेल क्रिसन रुकमणीरी

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन रासो से लेकर परवर्ती डिंगल काव्यो मे भी प्रारम्भ मे मगलाचरण अवश्य रहा है ।

डिगल प्रबंधकाव्यो मे बहुधा ग्रंथ के प्रारम्भ मे अथवा अन्त में कवि अपना परिचय, वश विवरण, गुरु का उल्लेख और कभी कभी ग्रथ की महत्ता का निर्देश कर देता है । रचनाकाल का सकेत भी कभी स्पष्टत: और कभी प्रतीक पद्धति से कर दिया जाता है । वैसे अपवाद रूप मे ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता के सम्बन्ध मे जानकारी नही मिलती । कभी-कभी प्रतियो के खडित होने के कारण और कभी अनपेक्षित कारणो से यह अभाव है, इसमे सन्देह नही । इस मान्यता के प्रमाण मे निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं --

---

१--सीताराम लालस रघुवरजस प्रकाश -- पृ० १
२--महतावचन्द्र रघुनाथ रूपक गीता रो-पृ० १
३--आनन्दप्रसाद दीक्षित : वेलि क्रिसन रुकमणीरी-पृ० १

रघुवरजसप्रकासकार किसना जी आढा ने अपनी कृति के अन्त मे अपने समूचे वश का सक्षिप्त परिचय दे दिया है[1] ---

'दुरसा' घर 'किसेनेस' किसन घर सुकवि महेसुर।
सुत 'महेस' 'खूमाण' 'खान साहिब' सुत जिण घर।।
'साहिब' घर 'पनसाह' 'पना' सुत 'दुलह' सुकव पुण।
'दुल्ह' थरे खट पुत्र 'दान' 'जस' 'किसन' 'बुधौ' भण।।
सारूप 'चमन' मुरधर उतन, प्रगट नगर पाचेटियौ।
चारण जाती आढा विगत 'किसन' सुकव पिंगल कियौ।।३५।।

कवि के नाम की छाप तो प्राय: मिलती ही है। रचना काल का भी उल्लेख मिल जाता है। पर प्राय सभी ग्रन्थो की महत्ता अवश्य वर्णित मिलती है। कभी वह अलगसे वर्णित होती है, कभीसाथ ही उदाहरण के लिए वेलि क्रिसन रुकमणीरी की निम्नपक्तियाँ देखिए।[2]

करि श्रवणे दिन रात कठ करि
पायै स्त्री फल भगति अपार ।। ३०५ ।।

रघुनाथ रूपककार कहता है[3] —

उर ज्ञान भगती नीत उपजै चातुर्री लह चोजसूँ।
अवधेस चिरतां हुवैं वाकव मिलै सदगत मोजसूँ।।
इण ग्रन्थ मो रघुनाथ गुण अत भेद कविता भाखियो।
इण हिज कारण नाम ओ रघुनाथ रूपक राखियो।।

यहा कवि न केवल उसकी महत्ता ही प्रदर्शित करता है, किन्तु नामकरण का आधार भी प्रस्तुत कर देता है। प्राचीन जैन रासो मे इस परिपाटी का कट्टरता से पालन किया गया है।[4] हाँ साहित्यिक कृतियो मे यह परिपाटी इतनी अनिवार्य नही है। जो विशुद्ध लौकिक काव्य हैं, उनके कर्ता भी इस रूढ़ि पालन से नही बच सके। कई कवियो ने तो ऐहिकतापरक रचनाओ को भी धार्मिक महत्ता से मडित कर दिया है जैसे पद्मनाभ ने अपनी रचना कान्हडदे प्रबध के अन्त मे अनेक पुण्य कार्यों की गणना कराई है और कहा है कि कान्हडदे चरित को पढने और सुनने वाले दोनो अपार पुण्य के भागी होते हैं।[5] यथा

एकचित्ति जे नर साभलइ, तेह तणा सवि दुकृत टलइ।
जे फल लाभइ दीघइ दानि, जे फल गगा तणइ सनानि।।३४५

१-- सीताराम लालस रघुवर जस प्रकास - पृ० ३४०
२—नरोत्तम स्वामी : क्रिसन रुकमणीरी वेल - पृ० १५९
३—महताबचन्द्र : रघुनाथरूपक गीतारो - पृ० २८४
४--डा० चन्द्रकान्त मेहता : मध्यकालना साहित्य प्रकारो - पृ० ३२१
५—के०बी० व्यास : कान्हडदे प्रबन्ध - पृ० २३२-२३३

जे फल हुइ तप कीधइ सदा, जे फल हुइ दर्शनि नरवदा ।
जे फल सत्य वचन प्रमाण, ते फल हुइ साभलीइ पुराण ॥३४६
जे फल पामइ तपसी सर्वं, जे फल हुइ वाद छोड़वे ।
जे फल पामइ कीधइ यागि, जे फल भेटया हुइ प्रियागि ॥३४७
जे फल पामइ गगाद्वारि, जे फल हुइ भेटि केदारि ।
जे फल हुइ विद्या उद्धरी, जे फल भेटया गोदावरी ॥३४८
जे फल नारायण दीठइ नेत्रि, जे फल हुइ दानि कुरुषेत्रि ।
जे फल पामइ साहसि सती, जे फल हुइ नाह्या गोमती ॥३४९
जे फल लहइ द्वारिका छमासि, जे फल भेटया हुइ प्रभासि ।
जे फल हुइ मुगतिपुरी साति, रामनाम उच्चरइ प्रभाति ॥३५०
कान्हडचरिय जि को नर भणइ, एकचित्ति जि को नर सुणइ ।
तीरथफल वोल्यु जेतलू, पामइ पुण्य सवे तेतलू ॥३५१

इसी प्रकार असाइत ने हंस-वच्छ चौपाई या हंसाउली नामक प्रेम कथा की महत्ता बताते हुए कहा है[1] --

भणता दोप दरिद्र तनि टलि भणि असाईत अफला फलि ।
मणि भणवि नित गुणि नवनधि आवि आगणि ॥१७॥

चंद वरदायी के पृथ्वीराज रासो की ये पक्तिया तो प्रख्यात ही है,[2] जिसमे वह रासो की प्रशसा करता है —

कावि समद कवि चंद कृत, मुगति समप्पन ज्ञान ।
राज नीति वोहिय सुफल पार उतारण यान ॥२२॥

यही परम्परा विभिन्न डिंगल प्रवध काव्यो मे देखने को मिलती है । इसी महत्ता प्रदर्शन की परम्परा का एक रूप कृति मे क्या क्या है, आदि पर विस्तृत प्रकाश डालता है । उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो से वशभास्कर तक इस अविछिन्न परम्परा को देखा जा सकता है । यहा स्थानाभाव से मात्र एक दो उदाहरण ही अलम् होगे ।

राठोड़ पृथ्वीराज अपनी वेलिको गूढार्थी घोपित करते हुए कहते हैं कि समान्य व्यक्ति उसे समझ नही पाता । उसे ठीक से समझने के लिए ज्योतिपी, वैद्य, पुराणो का विद्वान, योगी, सगीतज्ञ, तार्किक, न्यायशास्त्री, कवि, भापाविद् और चारण भाट आदि सभी को एकत्र होकर विचार करना पड़ेगा । भावार्थ यह कि वेलि मे ये सब ज्ञान मौजूद हैं ।[3]

१—गोवर्धन शर्मा प्राचीन राजस्थानी गीत - भाग ६-पृ० २५
२- कविराव मोहनसिंह- पृथ्वीराज रासो - ख० १-पृ० १०
३—नरोत्तमदास स्वामी . क्रिसन रुकमणीरी वेलि पृ० १५५

जोतिखी, वयद, पउराणिक, जोगी,
सगीती, तारकिक सहि ।
चारण, भाट, सुकवि, भाखा-चत्र,
करि अेकठा त अरथ कहि ।

हम आगे चल कर इस दिशा मे और अधिक प्रकाश डालेंगे ।

डिंगल के प्रबन्ध काव्यो की एक विशेषता वस्तु-वर्णन है । नगरवर्णन, प्रकृति-वर्णन, स्त्री-पुरुष वर्णन, युद्धवर्णन, घोडो, वृक्षो, योद्धाओ के नामो की परिगणना आदि कवि के अनिवार्य कर्तव्य है । यह सम्भव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है, उसमे कवि स्वय सम्मिलित न हो सका हो, या जिस युद्ध का चित्र खीचा जा रहा है उसमे वह स्वयं अंगरक्षक न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आखो से देखे है, अत अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमे सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो का व्यौरा तथा भेदोपभेदो सहित प्रत्येक वस्तु का यथाक्रम नाम आता चला जाता है ।[1] जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलकारो की सहायता लिया करते हैं, उसका मनोहर रूप रासाकाव्यो मे स्थूल सत्य तथा नाम परिगणना से ही निखर उठता है । रासो काव्यो मे प्रस्तुत सामग्री ही इतनी सम्भावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नही होती । गिरनार पर्वत की वनराजिका सौन्दर्य देखिये[2] —

अगुण (?) अजण अविलीय, अवाडय अ कुल्लु ।
उ वरु अ वरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु ।। १५
करवर करपट करुणातर (?) करवली करवीर ।
कुडा कडाह कयव कड करब कदलि कपीर ।। १६
वेयलु वूजलु वउल वडो, वेडस वरण विडंग ।
वासू ती वीरिणि विरह, वसियालि वण वग ।। १७
सीसमि सिवलि सिर (स) समि, सिंधुवारि सिरखड ।
सरल सार साहार सय, सीगु सिगु (?) सिण दड ।। १८
पल्लव-फुल-फलुल्लसिय, रेहइ ताहि [?] वाणराइ ।
तहि उज्जिल-तलि धम्मियह, उल्लटु अ गि न माइ ।। १९

यहा वृक्षो की एक दीर्घसूची दे दी गई है । यमक और अनुप्रास के चतुराई के साथ किये गये प्रयोग से दृश्य मे सजीवता आ जाती है । पृथ्वीराज रासो के ६३वें समय मे (काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बृहत् सस्करण के पृष्ठ १९९० से २००० तक) पकवान-मिठाई वर्णन अचार-वर्णन, तरकारियाँ और गोरसवर्णन, अचारवर्णन आदि का इसी प्रकार का भाडार है ।[3] राजरूपक मे लडने वाले सैनिको व सामन्तो

१—ओम्प्रकाश : हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य – पृ० १९
२—रेवतगिरि रासु – रास और रासान्वयी काव्य मे-पृ० १०९
३—ओम्प्रकाश . हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य - पृ० २०

के नामो की दीर्घ सूचियां हैं। समूचा चवालीसवा प्रकाश ऐसा ही है।[1] राजविलास मे वस्तुओ की दीर्घनामावली प्रस्तुत की गई है।[2] इसी प्रकार कवि घोड़ों के प्रकारों की परिगणना कर उठता है।[3]

(ख) ऐराक आरबी वस्व ऐं न,
सोमत श्रवन सुन्दर सुनें न।
काश्मीर देस कावोज कच्छि,
पय पंथ पौन पथ रूप लच्छि ॥८॥
वगाल जाति के बाजि राज,
काविल सुकेक हय भूप काज।
खधार उतन केहि खुरासान,
वपु उंच तेज वर विविध वान ॥९॥
हय हीस करत के जाति हस,
कविले सु किहाड़े भौरं वस।
किरड़िए खुरहड़े के सु रत्त,
पीलडे केक लीले पवित्त ॥१०॥

डिंगल रासा ग्रन्थ विविध छन्दों मे लिखे गये है। हम पीछे देख ही चुके हैं कि वृत्तजाति-समुच्चय एवं स्वयंभूछन्द दोनो ने रासावन्ध काव्यो में विविध छन्दों का समावेश किया है। छन्द वैविध्य के साथ साथ काव्यग्रन्थो का प्रकाश, समय, प्रस्ताव, उल्लास, खण्ड, पल्लव, विलास आदि मे विभाजन भी मिलता है। दधवाडिया माधोदास विरचित रामरासो मे गाहा, दोहे पाघडी, कवित्त, रसावला, चौपाई, झूलना, मोतीदाम, वंशावली, श्लोक तथा वे अक्खरी छन्द मिलते हैं।[4] गाडण पसाइत रचित गुण जोधायण राव जोधाजी की प्रशसा मे लिखा गया वीररस का छोटा सा काव्य है, जिसमे दोहा, कवित्त, भुजगप्रयात और पाघडी, सब मिलाकर ७५ छन्द हैं।[5] पद्मनाभ के कान्हडदे प्रवन्ध मे भी अनेक देशी रागरागिनियों मे निर्मित पद, चौपाई, दोहे, सवैये आदि छन्द हैं।[6] पृथ्वीराज रासो, वशभास्कर आदि मे यह वैविध्य अद्भुत है।

वहुधा कवि जन अपने द्वारा प्रयुक्त छन्दो की सूचना या संख्या भी दे देते हैं। वादर ने लिखा है[7] --

१--रामकर्ण आसोपा : राजरूपक - ४४ प्रकाश
२--मोतीलाल मेनारिय : राजविलास-दूसरा विलास-पद १०९-११२
३--वही - छठा विलास
४--हीरालाल माहेश्वरी . राजस्थानी साहित्य - पृ० १७०
५--पुस्तक प्रकाश, जोधपुर की हस्तप्रति
६--के०वी० व्यास . कान्हडदे प्रवन्ध
७--लक्ष्मीकुमारी चूडावत. वीरवाण - पृ० ६१

सत बीस नीसाणीया, ऊपर पाच सवाय ।
एक गीत इतरा दूहा, भणीया गुण सुभ भाय ।। १७२
नवगुण पूणा तीन सो, वीरवाण जसवार ।
सुध वाचीजो सकवीया, बाघर कही विचार ।। १७३
सवासे नीसाणीया, दुहा पुण सत दोय ।
गीत एक इण ग्रन्थमे, समजहु वाचक सोय ।। १७४

चन्द भी कहता है[1]—

छद प्रबन्ध कवित्त जति, साटक, गाह, दुहत्थ ।
लहु गुरु मडित खंडि यहि, पिंगल अमर भरत्थ ।।

अर्थात् उसके रचे छदो की जातिया-कवित्त (छप्पय), साटक (सार्दूल-विक्रिडित), गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा विकृत रूप सोरठो को भी इसी मे माना ही है) इनके अतिरिक्त सस्कृत श्लोको का प्रयोग भी किया गया है ।

सभी रासाकाव्यो मे अर्थालकारो और शब्दालंकारो का विशेष प्रयोग है । वीरकाव्यो के सौन्दर्यपक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रकार की प्रवृत्तिया दिखलाई पड़ती हैं–एक का उद्गम सस्कृत-साहित्य से है और दूसरी का लोकसाहित्य से, सस्कृत का प्रभाव श्रृ गार आदि कोमल रसो मे अधिक मिलता है क्योकि इनकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी, अन्यत्र 'प्राकृत' प्रभाव है क्योकि वह जन-सामान्य की वस्तु थी । सस्कृत मे पडित परम्परा से सौन्दर्य सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिनका पालन कवियो का कर्तव्य हो जाता था, उदाहरण के लिए किस अंग के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उपयोग होना चाहिए, यह निश्चित था । रासो काव्यो ने इस प्रवृत्ति मे उत्प्रेक्षा अलकार को अधिक अपनाया है और जैसा कि स्वाभाविक है शरीरागो के वर्णन मे सम्भावना का आधार वस्तूत्प्रेक्षा ही है । महाकवि चन्द ने पद्मावती के रूप का वर्णन इसी शैली पर किया है और गजनी की सुन्दरियो के चित्र भी इसी प्रकार के है —

तमोर कोर रत्तिय । दसन्न ते सुभत्तिय ।।
मनो कि डार पक्किय । अनार ते दरक्किय ।।
हलें अलक्क लविय । उरोज सो बिलविय ।।
मनो कि ते उरग्गियं । कली कुमुद्द लग्गिय ।। (६७वा समय)

यहा पर दात, केश, उरोज आदि के लिए जिन अप्रस्तुतो का उपयोग हुआ है वे सस्कृत साहित्य मे परम्परा से प्रसिद्ध थे ।[2]

रुक्मिणि की वय:सन्धि का वर्णन करते हुए पृथ्वीराज की मौलिकता दर्शनीय है । वे कहते है[3] कि वय:सन्धि के आरम्भ होते ही–प्रथम रुक्मिणी का मुख अरुण हो

१—मोहनसिंह : पृथ्वीराज रासो - सम्पादकीय - पृ० १
२—ओम्प्रकाश : हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य - पृ० २०-२१
३—आनन्दप्रसाद दीक्षित : वेलि क्रिसन रुक्मणीरी - पृ० ४

गया, मानो पूर्व दिशा मे सूर्योदय के समय लालिमा छा गई हो। कुच युगल भी ऐसे उन्नत हो गये है, मानो उस राग को देख कर उसे पूर्व दिशा मे उदित सूर्य का राग समझ कर ऋषिगण भी सन्ध्या वन्दन करने के लिए जाग उठे हो –

पहिली मुख राग प्रगट थयौ प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे किरि जागिया पयोहर
सझा वन्दण रिखेसर ॥ १६ ॥

यहा सौन्दर्यवर्णन मे एक अनूठी ताजगी है। मात्र परम्परा पालन ही नही है। अब हम एक लोक परम्परा का उदाहरण लेंगे। सस्कृत साहित्य के परे जनता मे प्रचलित उपमानो का प्रयोग भी यथावसर हुआ है। रतनारी आखें और मूंगफली-सी सुन्दर उगलि–नरपति से प्रशसा पाती हैं। कवि ने रानी की शोभा यो वर्णित की है[1] ---

ससि-वदनी जीत्यौ मात-गयंद।
आपड़ीया –– रतनालिया ॥
मीहरा जाणे भमर भमाय।
मू ग-फली - सी आगुली ॥
कूसम-कली, कर-नख जीसा।
कनक कु डल धज सोहइ कान ॥

यहा इन उपमानों का जनजीवन मे सानिध्य चिन्तनीय है।

दूसरी प्रवृत्ति का आभास नाम गिनाने वाली शैली मे ऊपर मिल चुका है। सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इन काव्यो ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है, जिसके कई रूप हैं, जिनमे से मुख्य है 'सख्यात्मक अत्युक्ति', जिसमे वर्णन करते हुए वर्ण्य-वस्तु की ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है। रासो काव्यो मे इस अत्युक्ति का उपयोग वैभव-वर्णन, युद्धवर्णन तथा भोजवर्णन तीनो ही स्थलों पर किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के ६६वें समय मे 'रावल जी की खातिरदारी' मे कितना अन्नादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है[2], अन्यत्र नागौर की लड़ाई के समय लूट मे क्या-क्या और कितना-कितना मिला इसकी[3] चर्चा है, तो कवि नर-

---

१--सत्यजीवन वर्मा . वीसल देव रासो • पृ० ६६

२— सीधौ मन लै पच, साक पल्लव तैलास्त्रम।
दही-दूध अनपाह, घृत मन असी अनोपम।
मैदा मन पचास, वीस मन वेसन दीनौ ॥ (पृ० रा० २११८)

३— एक लख्ख वाजित्र, सहस तीनह मय मत्तह।
तख्ख एक तोखार, तेज ऐराकी तत्तह।
आरावी हथिनी, सत्त सै सत्त सु भारिय। (६५४)

पति नाल्ह यही बतलाते है कि राजा वीसलदेव के अभियान के समय उनके साथ कितने पैदल थे, कितनी पालकिया थी, और कितने हाथी थे –

आठ सहस नेजा-धणी, पालकी बैठा सहस पचास।
हाथी चाल्या डोढसौ, असीय सहस चाल्या केकाण ।।

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' मे मिलता है, यहां न तो संख्या बतलाई जाती है और न ऊहाकी सहायता लेनी पडती है, केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खीच कर उसकी अभिव्यजना पर जोर दिया जाता है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमे इतने व्यक्ति, इतने हाथी-घोड़े मरे, और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे।[1] प्रथम को सख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक, क्योकि इसमे पाठक के सामने एक वास्तविक चित्र रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यजना पर पहुचना कठिन नही होता। चित्रात्मकता मे यदि खीचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जैसी कि फारसी के प्रभाव से आगे हिन्दी साहित्य मे स्थान-स्थान पर दिखलाई पडी।

अत्युक्तिका सहारा लेते लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पनालोक मे जा पहुचते है, उस समय उनको इस ससार की विषमताओं तथा मात्राओ का ध्यान नही रहता। 'रावल जी की खातिरदारी' वाले उदाहरण मे कवि को यह ध्यान नही रहा कि जिस भोज मे पाच मन आटा, पचास मन मैंदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमे अस्सी मन घी नही लग सकता। इसी प्रकार 'आल्हखड' मे[2] आल्हा-ऊदल की खिचडी मे जितनी हींग पडती बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होता ही नही, पढकर केवल हसी आती है। परन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यो मे अधिक नही है। हा वैभव के वर्णन मे ये कवि स्वर्ण, चन्दन, हीरा तथा पन्ना के बिना[3] चलना ही नही सीखे[4]।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यो का दूसरा प्रिय साधन वह है जिसको आज-कल 'ध्वन्यर्थव्यजना' कहा जाता है, इसका व्यवहार भी अपभ्रश काव्यो मे पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, दोनो ही स्थलो पर श्रृंगार रस मे भी और वीर रस मे भी। युद्धस्थल मे उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करती है इसे सभी जानते

---

१. लोहान तनी बज्जे लहरि, कोउ हल्ले, कोउ उत्तरै।
परनाल रुधिर चल्ले प्रबल, एक घाव एकह मरै।।

२ आल्हा-ऊदल की खिचडी मा, परिगै सवा लाख मन हींग।

३. (क) चदन काठ को माडहो, सोना की चोरी, मौती की माल।
(वीसलदेव रासो, २२)

(ख) चन्दन पाट, कपाट ई चन्दन।
खुम्भी पना, प्रवाली खम्भ (३९) वेलि क्रिसन रुकमणीरी।

४. ओम्प्रकाश' हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य–पृ० २१-२३

हैं, और खड्गो की खटखटाहट, बाणो की सरसराहट, एव घोड़ों की हिनहिनाहट का भी प्रभाव सर्वविदित है, दूसरी ओर सभी रसिक जानते है कि नूपुरों की छन-छन, पायल की झन-झन तथा किंकणी की कण-कण मे क्या सदेश छिपा रहता है। रासोकाव्य नाद को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमे नाद के द्वारा ही अर्थ तक पहुचाने वाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यंजना की शैली के असख्य उदाहरण मिलते हैं।

(१) झनं झननं भय नूपुरय।
खननं-खन चूरिय भूरि भयं ।। (परमालरासो-शृ गार)

(२) हहकत कूदत नचे कमध। कडवकंत वज्जत छुट्टंत सधं।
लहक्कत लूटत तूटंत भूम। झुकते धुकते दोऊ वथ्थ झूम ।।
(पृ० रा० २११०)

'कडकत' 'दडकंत', 'तूटत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उनकी क्रिया का चित्र नेत्रो के सामने आ जाता है, इनसे मिलते-जुलते-शब्द 'हहक त' (हाहाकार करते हुए), वज्जत (वजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्पत्ति मे सहायक हैं[1]।

डिंगल काव्यो मे बीच बीच मे आने वाले मुक्तको, सुभाषितो, सूक्तियो आदि का प्रयोग भी एक विशेषता है। अनेक स्थानो पर उन्होने लोकप्रिय कहावतो का स्थान ग्रहण कर लिया है-यथा

भावी गति आगम विगति, को भेटन समरथ्थ ।
राम, युधिष्ठिर और नल, तिन में परी अवथ्थ ।।
(पृथ्वीराज रासो-पृ०१९८५)

भावी गति और विपत्ति को मिटाने की सामर्थ्य किसी मे भी नही है। राम, युधिष्ठिर और नल जैसे नरपु गवो पर सकट आ पड़े।

दवका दाधा कुपली मेल्ही।
जीभ का दाधा नु पागरई। -वीसलदे रासो -पृ० ३७

दावाग्नि मे जला वृक्ष फिर से पल्लवित हो जायेगा, किन्तु जीभ से जला-दुखित व्यक्ति कभी चैन नही पाता।

विण बंधव सवि संपइ ऊणी ।
जिम विण लवण रसोइ अलूणी ।।८३।।
-भरत बाहुबलि रास-

बाधवो के विना सारी सम्पत्ति और ऐश्वर्य उसी प्रकार का न्यून है, जिस प्रकार नमक के विना रसोई।

---

१. ओम्प्रकाश: हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० २४

डूंगर-केरा बाहला, ओछा-केरा नेह ।
बहता वहइ उतामला, झटक दिखावइ छेह ॥३३८॥
—ढोला मारूरा दूहा

पहाडी नाले और ओछे पुरुषों का प्रेम बहते समय तो बडी तेजी से बहते हैं, परन्तु तुरन्त ही छेह-अन्त दिखा देते हैं ।

दुर्बल नह बल रायनं, मूरख नइं बल मोन्य ।
बालक बल रोवा तणू, तस्कर बल नइ शोन्य ।
—माधवानल कामकदला

दुर्बल का राजा का, मूर्ख को मौन का, बालक को रुदन का और चौर को शून्यता का बल रहता है ।

डिंगल के प्रबन्ध काव्यो मे सामयिक झलक मिल जाती है । यद्यपि बहुधा कवियो ने अपने मूल लक्ष्य को ही निभाने की कोशिश की है, फिर भी प्रसंगानुकूल अवसर मिलने पर अन्य जानकारी देने की भी उनकी चेष्टा रही है । कवि के सामने अपने प्रवन्ध काव्यो के विषय और पाठक, दोनों ही रहते थे । समकालीन राजा का तो वह वर्णन करता था और यह वर्णन होता था सामन्तो तथा प्रजाजनो के लिए[1] । इसीलिए डिंगल रचनाओ मे शास्त्रीय परम्परा और लोकवार्ता का विचित्र समन्वय पाया जाता है । इसी से उनमे विभिन्न कथानक रूढ़ियों का घडुल्ले से प्रयोग होने लगा[2] । ये काव्य किसी शास्त्रीय परम्परा के रूप मात्र नही है, वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं । काल्पनिक होते हुए भी ऐहिक हैं, ज्ञान-प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से उबले नही पडते तथा राजा विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग प्रतिनिधि हैं, वे राजकवियो के द्वारा लिखे गये थे; फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है[3] ।

हम पहले देख ही चुके है कि कान्हडदे प्रबन्ध को कवि पद्मनाभ ने स्वय एक जगह कान्हडदे पवाडु कहा है । यह पवाडउ, पवाड़ा क्या है? मेरी दृष्टि मे 'पवाडे' का अर्थ है किसी वीर का प्रशस्ति काव्य, वीर के पराक्रम, विद्वानो की बुद्धिमत्ता तथा किसी व्यक्ति विशेष के सामर्थ्य, गुण, कौशल आदि का काव्यात्मक गेय वर्णन पवाडा कहा जा सकता है। पवाडो को प्रवाडो अथवा परवाडो की सज्ञा से भी सबोधित किया जाता है । डा० सहल के अनुसार 'पाबूप्रकाश' मे कवि ने 'परवाडा' शब्द का प्रयोग 'अलौकिक वीर कृत्य' के रूप मे किया जान पड़ता है[4] । डा० सत्येन्द्र ने पवाडो के उद्‌भव के सम्बन्ध मे विचित्र कल्पना की है[5] । उन्होने

१. ओम्प्रकाश हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० २०
२. हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृ० ७३-७५
३. ओम्प्रकाश: हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य—पृ० १८
४. परवाडा कीधी प्रथी, मारवाडा अवनीप । पाबूप्रकाश—पृ० २९
५. सत्येन्द्र. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—पृ० ३४८-४६

लिखा है—पंवारा के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि यह शब्द कहा से निकला। पंवारा ब्रज के मुहावरे मे तो झंझट, झगडे अथवा युद्ध का पर्याय हो गया है, विशेष कर ऐसा झंझट जो समाप्त ही न होने पाये। 'इस पवाडे से बचो', 'यह कहा का पवाड़ा फैला दिया है?'-ऐसा बहुधा कहा जाता है। बुंदेलखड मे पवाडे का अर्थ लम्बी कथा का भी होता है। मराठी मे यह शब्द 'वीर गाथा' के लिए प्रयुक्त होता है। ये सभी अर्थ 'पवारे' के वाच्यार्थ अथवा मूल अर्थ नही। ये दूसरे अर्थ हैं, जो प्रयोग के कारण इसे मिले है। यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतो में पहले 'पवार-परमार क्षत्रियो की वीर गाथायें गायी जाती होगी। ये लम्बी होती होगी और लटाई झगड़ो मे परिपूर्ण होती होगी। फलत: परमारों के गीत होने के कारण 'पवारे' कहलाये। पवारों की कथावस्तु पूर्णत: ऐतिहासिक भले न हो, पर कथा वस्तु का विन्दु अवश्य ऐतिहासिक होता है।' कहना न होगा कि यह कल्पना समीचीन नही जान पडती। प्राकृत भाषा मे प्रशस्ति, स्तुति अथवा कीर्ति स्तोत्र के लिए 'पवाढ़' शब्द मिलता है। किसी की कीर्ति, महत्व अथवा महिमा को जोर शोर से प्रगट किया जाय, उसे पवाडउ कहा गया है। संस्कृत प्रवाद अथवा संस्कृत भूतकृदन्त प्रवृद्ध से प्राकृत पवड्ढ-पवडउ- पवाडो का विकास अधिक संभव जान पडता है। 'हिन्दी शब्द सागर'-कार ने पवाडे शब्द को संस्कृत प्रवाद से ही व्युत्पन्न माना है।

मराठी ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' मे इस शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है—यथा

हे मारिले ते वर थोडे,
आणीक ही साबीन गाढे।
भग नादेन पवाडे येकलाचि भी।'

इस शब्द का मराठी मे बहुत उल्लेख मिलता है। मुगलकालीन महाराष्ट्र में शौर्य व पराक्रम की एक नवीन लहर उठी, उस समय पवाडे अथवा पोवाड़ो की बहुसख्यक रचना हुई। इन रचनाओं को गाने वाला एक दल विशेष उत्पन्न हो गया और आज भी उसकी परम्परा के सूत्र उपलब्ध हैं। श्री कैलकर ने मराठी मे 'ऐतिहासिक पोवाड़ा' नामक संग्रह दो खड मे प्रकाशित भी कराया है। जिसमे ऐसी ही रचनाओ को एकत्र किया गया है।

पन्द्रहवीं सदी मे रचित एक ग्रन्थ 'त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध' अथवा 'प्रबोध चिन्तामणि मे पवाडा शब्द तीन स्थलो पर प्रयुक्त हुआ है, वहा इस शब्द का प्रयोग आख्यान अथवा किसी गीत विशेष के रूप मे हुआ है यथा—

(१) पुत्र पवाडा सम्भली, आणन्दिउ नरनाह।

(२) मझ दिग्विजय करन्ता त्रिभुवन झिट्टी थाइ तिणि फाड़ा:
आपण कहऊ केहउ केतला, तुझ आगति पवाडा?

(३) मुयदड, सुधड भड भजइ, चडिय पवाडई पचसर।

इस जन-काव्य का उद्भव कब से हुआ, यह कहना कठिन है। इनका जन्म तब हुआ होगा जब कि काव्य, सगीत व कथा मे अन्तर न था। तब कथा और कविता का आपस मे मेल था। कहानी विषय वस्तु को निर्मित करती थी और कविता उसके रूप-तत्व को, सगीत उसकी देह मे प्राणप्रतिष्ठा करता था। पवाडो की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा की गई है अथवा जनसमुदाय द्वारा, इस विषय पर हमे विभिन्न मत दिखाई पड़ते है। प्रोफसर चाइल्ड के अनुसार पवाड़े मे लोक-मानस व लोक-हृदय की अभिव्यक्ति होती है, लेखक के व्यक्ति का प्रस्फुटन उसमे नही होता। अत: पवाडे के रचयिता को कोई महत्व नही दिया जाता। पवाडा वस्तुप्रधान रचना है, व्यक्तिप्रधान नही[1]। फिर भी उसकी रचना किसी एक लेखक के द्वारा की जाती है। प्रोफेसर किटरिज व जैम्सग्रिम यह मान कर चले है कि कोई एक लेखक पवाड़े की शुरुआत भर करता है, सम्पूर्ण पवाडे की रचना उसका एकान्तिक कार्य नही होता, जन समुदाय के साहचर्य से वह पवाडे को आगे वढाता है। वे 'फोक इज दि ऑथर' को मानते है[2]। दोनो धारणाओ मे सत्य का कुछ अश है। पवाडे को केवल जनकाव्य ने ही अपनाया हो ऐसी वात नही है। अनेक कवियो ने भी अपने काव्यग्रथो मे 'पवाड़े' काव्य रूप का प्रयोग किया है। पवाडो में भी मात्राओ का ध्यान रखा गया है, यद्यपि मौखिक परम्परा द्वारा उपलव्ध होने के कारण उनमे अनियमितता व नियम शिथिलता है। ये सब तथ्य सकेत करते है कि पवाडो का रचयिता कोई एक व्यक्ति ही था। जिस प्रकार अजन्ता व एलिफेंटा गुफाओ के मूर्तिकारो व चित्रकारो की नामावली के अभाव मे भी हम उन कलाकृतियो के निर्माताओ के व्यक्तित्व व अस्तित्व मे किसी प्रकार का सन्देह नही करते, उसी प्रकार पवाडो के निर्माताओ के सम्बन्व मे भी समझना चाहिए।

ईसा की तेरहवी शताव्दी मे पवाडो का प्रचार महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान' पजाब व ब्रजप्रदेश मे था, ऐसे सकेत उपलव्ध होते है।[3] सिद्धपुर निवासी कवि असाइत (स० १४२७) ने तत्कालीन देशभाषा (प्राचीन मरु-गुर्जर) मे 'हसावलि' पुस्तक लिखी है। हसावलि का वास्तविका नाम 'हसवच्छ चरित पवाडो' जान पड़ता है। काव्य की समाप्ति पर कवि ने कहा है[4]—

सवत ।१४। चउद चद्र मुनि शख,
वच्छहस वर चरित असख।
बावन वीर कथारस, लीउ,
अह पवाडु असाइत कहिउ।

---

१. ढोलामारू रा दूहा (भूमिका) पृ० ३४ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ३५।

३. माचवे: मराठी और उसका साहित्य पृ० २६

४. के० का० शास्त्री : कविचरित पृ० १

उसी प्रकार सायाजी फूला नामक चारण कवि द्वारा भी पवाड़े का प्रयोग मिलता है। इसी कवि के (१६३२-१७०३ वि०) 'नाग दमण' व 'रुक्मणिहरण' दो काव्य ग्रन्थ मिलते हैं।[1] नागदमण एक छोटा सा खंडकाव्य है जिसमे कालिय-मर्दन की कथा कही गई है। इसमें १२९ छंद हैं—१२४ भुजग प्रयात, चार दोहे और एक छप्पय। इसके मगलाचरण के दोहों मे उन्होंने प्रकट किया है कि मैंने 'जदुपतिनाथ के चरित्र' को पवाड़े के रूप मे गाया है—यथा वीर कृत्य के वर्णन के रूप में—

विघिजा शारदा विनवूं, सद्गुरु करू पसाय।
पव्वाडो पन्नगा-सिरे, जदुपति कीनो जाय॥

इन सभी उदाहरणो से ज्ञात होता है कि 'पवाड़े का अर्थ' एक ऐसी गेय रचना से लिया जाता रहा है, जो किसी वीर के कृत्यो से सबधित हो। पवाड़े निश्चय ही वीर गीत हैं। पराक्रम व अद्भुत कार्यों का वर्णन ही इनका उपजीव्य रहा है। छंद के सबंध मे पर्याप्त विविधता रही है। असाइत की 'हंसावलि' (हंस वच्छ चरित पवाड़ो) का मुख्य रस अद्भुत है। 'नागदमण' तो कृष्ण के विचित्र, साहसिक व अद्भुत कृत्य का काव्य है ही। पाबूजी के पवाड़े तो उनके अलौकिक पराक्रम की गाथा गाते हैं। अतः जहाँ तक विषय-वस्तु का प्रश्न है सभी मे पराक्रम व अलौकिक कार्यों का स्तुतिपरक वर्णन है, किन्तु यह समानता की भावना छंदो मे नहीं है, 'हंसावलि (हंस वच्छ चरित पवाड़ो) चौपई छद मे हैं। पाबूजी के सभी पवाड़ों मे एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। एक छन्द मे प्रयोग के कारण कथा का प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है, जो प्रबंध काव्य के लिए आवश्यक व वांछनीय है।[2] डा० सहल के मत मे पवाड़ों का छन्द मात्रिक अतुकान्त छन्द है, जिसके प्रथम व तृतीय चरणो मे १६ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणो मे क्रमशः ११ व १३ मात्रायें होती हैं। अपनी मान्यता की पुष्टि मे उन्होंने निम्न उदाहरण दिया है—

आंकै कै परवाणो राणी।१६।
जासी तीन्यू लोक।११।
(कोई) आको तो टालेडो ए वो।१६।
रामचरन हूं ना टल्यो।१३।

उनके द्वारा संपादित सतियो के पवाड़े मे यही क्रम है। किन्तु श्री नरोत्तम स्वामी द्वारा सपादित 'सोढी जी रो-पवाड़ो' का छन्द-विन्यास बिलकुल भिन्न है। यथा—

हाल्या हाल्या छाती परला हार।१९।
(कोई) पायलडी तो खुड़की बिछिया बाजिया, ।ए मोरी सइया। ।२१।

---

१ मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य—पृ० १३२-३३
२ 'मरुभारती' वर्ष १, अंक ३, डा० सहल का लेख पृ० २६

यहाँ उन्नीस और इकतीस मात्राओ का क्रम है। पर इसमे बहुत अपवाद भी मिलते है जो स्वाभाविक ही है। 'पाबूजी रा पवाडा'[1] मे तो बहुत अधिक विषमता है। इन सब तथ्यो को ध्यान मे रख कर कहा जा सकता है कि छद की दृष्टि से 'पवाड़ो' की सज्ञा से अभिहित किए जाने वाले काव्य-रूप के लिए कोई निश्चित नियम नही है। हा सभी छद मात्रिक है। गेय हैं, अतः उनके लिए मात्रिक होना ही अधिक सभव व स्वाभाविक है। रचना तत्व की दृष्टि से पवाडो की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है[2] कि जिसमे मुख्यतः चौपाई बध हो, उसमे अन्य प्रकार के छद अथवा दोहे आवें कि न आवें। इसी प्रकार अलग-अलग राग मे गाने के पद आवे चाहे न आवें। गेय, रास काव्यो यथा कडवा, रास, ठवणी, ढाल की तरह ही पवाड़ा भी एक गेय काव्य-स्वरूप है जो कथा को लेकर चलता है।

सर जदुनाथ सरकार ने वीर गीतो (लोक) के सम्बन्ध मे निम्न विशेषतायें बताई हैं। प्रबन्ध की द्रुत गति, शब्द विन्यास की सादगी, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोराग, सूक्ष्म भावविश्लेषण के बजाय व्यापार की प्रधानता, स्थूल किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण, क्रीडास्थली अथवा देशकाल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओ का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार, सच्चे लोकगीत की ये निताात आवश्यक विशेषतायें हैं,[3] पवाड़ो मे ये सब विशेषताएं है। पृथ्वीसिंह मेहता का मत है कि पवाड़ा शब्द का प्रयोग सस्कृत श्लोक अर्थ मे हुआ जान पड़ता है और व्युत्पत्ति के विचार से यदि हम इसे सस्कृत शब्द प्रवर्धन या प्रवर्धना का अपभ्र श माने तो शायद अधिक युक्ति सगत होगा। कुछ भी हो, कालान्तर मे इसी गेय काव्यरूप ने प्रबधात्मक स्वरूप धारण कर लिया।

डिंगल मे छन्द नाम से पुकारी जाने वाली रचनायें भी उपलब्ध होती हैं, यथा श्रीधर का रणमल्ल-छद, बीठू मेंहाका पाबूजीरा छन्द, बीठूसूजा कृत छन्द राव जैतसी रो। इन छद सज्ञक रचनाओ का गठन दो प्रकार है। छोटी रचनाओ मे कभी कभी एक ही छद प्रयुक्त होता है, किन्तु अनेक बार भिन्न-भिन्न छन्दो का समुच्चय भी छद नाम से पुकारा जाता है।[4] रणमल्ल छद मे देशी राग, छद दोनो का प्रयोग है। पाबूजीरा छंद मे गाहा, त्रोटक और कलस छदो का उपयोग किया गया हैं। राव जैतसीरा छन्द मे ४०१ छद है। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि छद सज्ञक रचनाओ मे कोई ऐसी विशेषता नही है, जो उन्हे डिंगल प्रबध काव्यो से जुदा करें। आख्यान नाम से पुकारी जाने वाली रचनाए आख्यायिका और चरित दोनो का मिश्रण है।[5] हम देख ही चुके हैं कि डिंगल की रचनाओ मे कथा और चरित

---

१ मरुभारती, अ क ३–४ पृ० १२३-१३०

२ मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पृ० १२५

३ बी० एल० सिंघी : राजस्थानी लिटरेचर मे उद्धृत।

४ मजुमदार: गुजराती साहित्यना स्वरूपो पृ० १०४

५ वही—पृ० १४६-१४७

दोनो का समन्वय है। प्रकाश, विलास, रूपक, आदि भी ऐसी ही रचनायें हैं। अब इनके रूप विधान मे कोई विशेष अन्तर नही रहा। इस प्रकार रास, रासो, प्रबंध आख्यान, विलास, प्रकाश, छंद, रूपक, विवाहलो, वेलि, पवाडा, आदि सभी काव्य-रूप डिंगल प्रबंध काव्यों की कोटि मे आते हैं।

प्रबंधकाव्यो से सर्वथा भिन्न किन्तु एक विशेष प्रयोजन को लेकर चलने वाले भी अनेक काव्य ग्रन्थ डिंगल मे पाए जाते है। इनमे से कुछ तो एक ही विषय को लेकर लिखे गये मुक्तको के संग्रह ग्रन्थ है और कुछ ऋतुकाव्य हैं। बांकीदास की रचनाए पहले प्रकार की है[1] और फागु, बारामासी, संदेसो आदि काव्य प्रकार दूसरे ढंग की रचनायें हैं।[2]

पहले प्रकार की रचनाए डिंगल मे बहुत बडी संख्या मे है, यह हम तीसरे अध्याय मे देख ही चुके हैं। कवित्त, दूहा, छन्द, कुंडलिया, झमाल आदि मुक्तको मे एक विषय को लेकर काफी अर्से से लिखा जाता रहा है। इनमे वस्तु-ऐक्य का झीना सा आवरण मात्र है, वैसे प्रत्येक रचना अपने आप मे स्वतंत्र मुक्तक है। डिंगल के महाकवि सूर्यमल्ल रचित 'वीर सतसई' को लीजिए। इसमे वीरो से संबंधित दोहों का संग्रह मात्र हैं। हालां-झालांरा कुण्डलिया मे यद्यपि हाला और झाला सरदार के युद्ध का वर्णन हैं, किन्तु प्रत्येक कुंडलिया अपने आप मे स्वतंत्र मुक्तक है। चुगलमुख चपेटिका मे बांकीदास रचित चुगलखोरो की भर्त्सना के दोहे हैं। अस्तु। इन सब पर डिंगल मुक्तकों के अंतर्गत ही विचार किया जाना चाहिए। हमने भी वैसा ही किया है।

फागु, धमाल, बारहमासा आदि रचनाए स्पष्टत. ऋतुकाव्य हैं, यह उनके नामो से ही मालूम हो जाता है। मूलत. फागु और धमाल वसन्त ऋतु मे गाये जाने का काव्य है। जिस प्रकार नवरात्रि और शरद-पूर्णिमा के अवसर पर रास गाये जाते थे और तालिरास अथवा लकुटरास के रूप मे खेले जाते थे, उसी प्रकार फाल्गुन-चैत्र मे वसन्त के आगमन पर भी फागु गाये और खेले जाते थे। फाग के समय में खेले और गाये जाने के कारण इनका नाम फागु पडा।[4] वैसे फागु रास का ही रूप है। इन काव्यो मे मिलन और विरह दोनों आते हैं। प्रवृत्तियों और काव्यशैली के आधार पर विद्वानो ने फागु की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से बताई है—यथा १—डा० सांडेसरा फागु की व्युत्पत्ति संस्कृत फल्गु से बताते है—फल्गु-फग्गु-फागु।[5] २—के० वी० व्यास भी संस्कृत फाल्गुण से फग्गु और फिर फागु इस विकास को मानते

---

१ धवलपच्चीसी, संतोषबावनी, मावड़िया मिजाज, कायर बावनी आदि
२ वसन्त विलास फागु, जीभ-दांत संवाद, वसन्त फागु आदि
३ मजुमदार. गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पृ० २००
४ हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी साहित्य—पृ० २४१
५ डा० भोगीलाल सांडेसरा: प्राचीन फागु संग्रह—पृ० ५३

है। फल्गुन मे बसन्त ऋतु अपने पूर्ण यौवन पर होती है। हर्षोन्माद भरे इस समय के गान फागु कहलाते हैं। अक्षय चन्द्र शर्मा इसे मधु महोत्सव रूपी गेय रूपक मानते हैं।[1-3]

ऐसा प्रतीत होता है कि फागु का मूल उद्भव तो गेय-रूपक काव्य मे बसन्तोत्सव मनाने से हुआ। इसी से फागु के मूल मे लोक साहित्य का गीत स्वरूप है।[3] इसी सरल लोक काव्य का विकास कालान्तर मे शिष्ट काव्य के रूप मे हुआ। शैली और विषय के आधार पर विवेचन करते हुए श्री लालचद गाधी इसे विविध तत्वो से युक्त रचना देखते है।[4] फागवध रचना को यमक अनुप्रासमयी शैली मे रचित होना चाहिए ऐसा आदर्श भी स्थापित हुआ।[5] कुछ भी हो, आतरिक उल्लास से युक्त गेय-काव्य फागु है।

डिंगल के मुक्तक काव्य मे दो प्रकार की रचनाए उपलब्ध है। एक तो वे जो गीत के नाम से पुकारी जाती है, और दूसरी वे जो दोहो, कवित्त, कुडलियाँ तथा अन्य छन्दो मे रचित है। राजस्थानी साहित्य का, राजस्थानी सस्कृति और लोकमनसा का प्रतिनिधित्व यदि कोई काव्य रूप कर सकता है तो वह यही है।

डिंगल के कवियो ने तत्कालीन प्रसिद्ध और लोकप्रिय छन्दो का प्रयोग किया। उन्होने सस्कृत-हिन्दी मे प्रयुक्त गाथा (गाहा), पद्धरि, मुक्तादाम, तोमर, भुजग प्रयात, त्रोटक आदि प्रसिद्ध सभी छन्दो का प्रयोग करने मे कोई हिचक अनुभव नही की, उसी प्रकार अपभ्रश का दोहा भी बडे प्रेम से अपनाया। कवित्त, कुडलियाँ और अन्य तुकान्त छन्दो का उपयोग भी बहुत हुआ फिर भी इन सभी छन्दो के अतिरिक्त 'गीतो' की रचना की गई, और बड़े परिमाण मे की गई। डिंगल गीतो का अपना निजी विधान है। 'गीत' शब्द से प्राय: हम ऐसी कविता का अर्थ लेते हैं जो गेय हो अर्थात् गाई जा सकती हो। सूर, मीरा अथवा कबीर के पद जिस प्रकार गाये जाते है, उस तरह डिंगल के गीतो गाया नही जा सकता। ये गीत वास्तव मे डिंगल के अपने छन्द हैं, जो गाये नही जाते, विशेप ढग से पढे जाते है।

राजस्थानी लोक मानस मे एक बात आज भी प्रचलित है कि मनुष्य का नाम 'गीतडा के मीतड़ा' रहता है अर्थात् मनुष्य का यश, उसकी प्रसिद्धि गीतो के रूप मे लिखी जाकर अमरत्व पा लेती है अथवा दुर्ग, कोट, देवल, महल, हवेली आदि बनवाने से स्थायित्व ग्रहण करती है। यह धारणा डिंगल गीतो के लिए शक्तिशाली प्रेरक रही है और इसीलिए अनेक प्रकार के इन डिंगल गीतो की रचना, सहस्त्रो की

---

१ के० बी० व्यास बसन्त विलास–अग्रेजी भूमिका–पृ० ३८
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका-वर्ष ५६, अक १, पृ० २५
३ मजुमदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो–पृ० २०१
४ जैन सत्य प्रकाश–वर्ष ११, अक ७, पृ० २१२
५ अ० प्रे० शाह. जैन सत्य प्रकाश–वर्ष १२, अक ५-६, पृ० १६५

संख्या मे हुई । विषय वस्तु के अनुरूप गीतों की रचना की जाती रही है और वीर गीतो के अतिरिक्त भक्ति, शृंगार, करुणा आदि विषयो पर भी गीत रचे गये हैं। आगे चल कर हम इन पर विचार करेंगे ।

'डिंगल गीत' वस्तुतः एक छंद विशेष है । इन गीतो के कई भेद हैं । डिंगल के भिन्न-भिन्न रीति ग्रन्थो मे इनकी अलग अलग संख्यायें दी गई है । गुजराती भाषा में दीवान रणछोड़ जी द्वारा सग्रहीत और सम्पादित 'रण पिंगल' नामक एक ग्रन्थ तीन भागों मे है । ग्रथ क्या है, मानो छन्द का एनसाइक्लोपीडिया है । इसके प्रथम भाग मे लौकिक छन्द, दूसरे मे पिंगलानुसार छन्दो का विस्तार, तीसरे मे वैदिक, डिंगल तथा अरबी फारसी के छन्दो को दिया गया है और उनकी तुलनात्मक समीक्षा की गई है । छन्दो के सम्बन्ध मे ऐसा गम्भीर अध्ययन बहुत कम हुआ है । इस ग्रंथ मे डिंगल के ४४ गीतो का उल्लेख और विवेचन किया गया है 'रघुनाथ रूपक' डिंगल के छन्दो का दूसरा ग्रथ है । जिसमे गीतो की सख्या ७२ है । यह ग्रंथ जोधपुर के महाराजा मानसिंह के कृपापात्र कवि मछाराम ने लिखा है और नौ विलासो मे विभाजित है प्रथम दो विलासो मे वर्ण, गण, दग्धाक्षर, अक्षरत्याग, फलाफल काव्यदोष, वयण सगाई, अखरोट, उक्ति व रसो के लक्षण-नाम भेद आदि बातो पर प्रकाश डाला गया है । शेष सात विलासो मे डिंगल काव्यो मे प्रचलित ७२ जाति के गीतों का विस्तृत विवेचन है । किसन जी आढा जो डिंगल के प्रसिद्ध दुरसाजी आढा के वंशज और स्वय अच्छे कवि थे, उन्होने अपने ग्रथ 'रघुवर जस प्रकाश' मे डिंगल के ६४ प्रकार के गीतो का उल्लेख किया है । बूंदी के कवि मुरारिदान जी ने अपने 'डिंगल कोष' मे भी गीतो पर प्रकाश डाला है । अस्तु ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, डिंगल गीत गाये नही जाते, विशेष प्रकार से पढे जाते हैं इनको ठीक ricite करना आसान काम नही, यदि इन गीतो को किसी उचित और योग्य व्यक्ति के मुंह से सुना जाय, तो कही इनके सौन्दर्य को समझा जा सकता है । कागज पर उतर कर ये छन्द अपनी ध्वनि सम्बन्धी विशेषता खो बैठते हैं और फिर इन गीतो के वास्तविक सौन्दर्य और चमत्कार का अनुमान भी नही लगाया जा सकता । श्री रामदेव जी चोखानी ने एक बार डिंगल गीतो को विश्वकवि रवीन्द्र को सुनवाया था । कहा जाता है कि कवि उन्हे सुन कर झूम उठे । उन्होने एक जगह लिखा भी है, 'कुछ समय पहले कलकत्ता मे मेरे कुछ राजस्थानी मित्रो ने रण सम्बन्धी कुछ राजस्थानी गीत सुनवाये । मैं तो उनको सुनकर मुग्ध हो गया । उन गीतो में कितनी सरसता, सहृदयता और भावुकता है ! ये लोगों के स्वाभाविक उद्‌गार हैं । मैं तो उनको सन्त साहित्य से भी उत्कृष्ट समझता हूं । क्या ही अच्छा हो, यदि वे गीत प्रकाशित किये जायें । यह गीत संसार की किसी भी भाषा और साहित्य का गौरव बढा सकते हैं ।' इनका सौन्दर्य और चमत्कार ठीक तरह से 'रिसाइट' करने पर निर्भर रहता है । यह बहुत ही दुःख और

लज्जा की बात है कि इस समय इन गीतो को ठीक से सुना सकने की क्षमता कम विद्वानो के पास है जो चारण कवि इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव रखते है, उनमे से अधिकाँश सभा सम्मेलनो से दूर रहते हैं और इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि अच्छे काव्य-पाठको की इस कला के लुप्तप्राय. कौशल को रेकार्ड कर लिया जाय।

यह एक सर्व मान्य तथ्य है कि युग की नई माग जहाँ विषय वस्तु मे परिवर्तन लाती है, वहा वह नये काव्यरूपो की भी उद्भावना करती है। डिंगल के समस्त छन्द अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश और प्राकृतो के काव्य-रूपो से बहुत प्रभावित हैं। इन गीतो का मूल उत्स कहाँ है, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, किन्तु मेरी धारणा है कि यदि कोई विद्वान इस ओर प्रयत्न करेगे तो उन्हे प्राकृत अथवा अपभ्रंश मे ही इन गीत छन्दो का बीज निहित जान पड़ेगा और मेरी यह धारणा आकारण नही है! सस्कृत के अधिकाश छन्द अतुकान्त है और वर्णवृत्त है। कविता मे तुकात पद्धति का प्रचलन सबसे अधिक अपभ्रंश दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हमे यह भी याद रखना होगा कि मात्रिक छन्दो की उद्भावना व लोकप्रियता भी प्राकृत के पश्चवर्ती है। संस्कृत कविता मे हमे यह बातें नही दीखती। वहाँ दूसरी ओर डिंगल के प्राय सभी गीत तुकान्त हैं और मात्रिक हैं। लगभग चार गीतो को छोड कर कोई गीत व्रजभाषा अथवा हिन्दी की अन्य विभाषाओ मे नही मिलता। इन बातो के अतिरिक्त भी अपभ्रंश काव्य की एक विशेष परम्परा हमे कुछ डिंगल गीतो मे मिल जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद जी ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद मे 'हिन्दी साहित्य के आदि काल' सम्बन्धी अपने पचम व्याख्यान मे अपभ्रश काव्य की विशेषताये बतलाते हुए कहा है, 'अपभ्रश काव्य कडव-बद्ध है। पज्झटिका या अरिल्ल छन्द की कई पत्तियाँ लिखकर कवि घत्ताका ध्रुवक देता है। कई पज्झटिका, अरिल्ल या ऐसी ही ही किसी छोटे छन्द को देकर अन्त मे घत्ताका ध्रुवक यही कड़वक है। पण्डित नाथूराम जी 'प्रेमी' ने जैन साहित्य के इतिहास मे लिखा है कि अपभ्रंश काव्य मे सर्ग की जगह प्राय: सन्धि का व्यवहार किया जाता है प्रत्येक सन्धि मे अनेक 'कडवक' होते हैं। 'कडवक' अथवा बध की यह प्रवृत्ति बहुत से डिंगल गीतो मे स्पष्टत. दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए मनमोदन, काछो अथवा चितविलास गीत को लिया जा सकता है।

रघुनाथ रूपककार ने 'गीत जात मनमोद' की व्याख्या इस प्रकार की है—

गुण दोहैसी माल गत, ऊपर कढ़षो आंण।
हुवै गीत मनमोद हद, बद रघुपति वाखाण॥

अर्थात् दोहा, छन्द, बनाकर उसके बाद कड़खा लाओ। यही मनमोदक गीत है। इसमे रामचन्द्र जी के यश का वर्णन करो। यद्यपि यह 'कडषा' अपभ्रश 'कडवक' नही है, पर उसी के समान इसका गठन हुआ है। अन्य छन्द गीतो मे भी यही प्रवृत्ति विचारणीय है।

दूसरी मान्यता है कि ये छन्द लौकिक आधार पर विकसित हुए हैं । अपनी धारणा की पुष्टि में इनके नामकरण की ओर आप का ध्यान आकर्षित करता हूं । अरटियो, झमाल, मंदार, चित हिलोल, पालवणी, त्रिपखो आदि गीत छन्द स्पष्ट ही लोकमानस मे अपना निकट सम्बन्ध घोषित करते हैं । राजस्थान मे पालवणी नामक एक बेल होती है । यह बेल खेजडी के वृक्षो पर चढ जाती है और लगभग वर्ष भर हरी भरी रहती है । यह बेल इतनी अधिक घनी होती है कि एक छाता सी बन जाती है । पशु इसके पत्ते बडे चाव और प्रेम से खाते हैं । आखो के दुखने पर पत्तो को पीस कर पट्टी बाधी जाती है । ये पत्ते बडे लसदार होते हैं । पालवणी गीत मे भी पालवणी बेल की कुछ विशेषतायें दीख पडती है । पालवणी जिस प्रकार सभी ऋतुओ हरी रहती है, उसी तरह इस गीत के चारो चरण तुकान्त होते हैं । इस गीत के पाठन की विधि भी बडी लसदार है । ऐसा लगता है मानो बीच मे कोई कहीं विराम ही नही है । इसी प्रकार अन्य छन्दो का अथवा डिंगल गीतो का जन जीवन से निकट संबन्ध स्थापित किया जा सकता है ।

यह पहले कहा जा चुका है कि डिंगल गीत विशेप प्रकार से 'रिसाइट' किये जाते हैं । ध्वनि सौन्दर्य उनकी बहुत बडी विशेपता है । सोहणो, भवंर गुंजार, चित विलास, वीर कठ, ल्हैचाल आदि गीतों के नाम स्वय बडे Suggestive हैं– ध्वन्यात्मक हैं । इस दिशा मे अधिक न कह कर केवल इतना ही निवेदन कर देना चाहूंगा कि नाद सौंदर्य और संगीत का जितना ध्यान डिंगल गीतो मे रखा गया है, उतना अन्यत्र नहीं । डिंगल के प्रत्येक गीत की बनावट को लेकर अनेक निषेध है । गणों के चयन और प्रयोग को लेकर अनेक सावधानियां बरतने का आदेश रीतिग्रंथो मे दिया गया है । इस प्रकार सगीत की विभिन्न राग रागनियो की तरह ही डिंगल गीतो के सघटन को निश्चित कर दिया गया है । जिससे कि ठीक तरह पढे जाने पर 'भवर गुंजार' भ्रमरों की गुनगुनाहट सा प्यारा और मधुर लगे और 'चित्त हिल्लोल हमारे चित्त को आलोडित कर दे । 'वीर कठ' हममें नवीन उत्साह भर दे । प्रत्येक गीत की इस दृष्टि ये अपनी निजी विशेपतायें हैं जो चिन्त्य हैं ।

इन गीत छन्दो का सामाजिक प्रभाव, विपयवस्तु, प्रत्येक गीत की निजी विशेपता, रस अनुरूपता, सँगीतात्मकता सभी विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखते है । इनकी हृदय-स्पर्शिता को लेकर क्या नही कहा जा सकता ? जिन गीतो को सुनकर लक्ष योद्धा आन पर मर मिटते थे, सैकड़ों वीर बालायें लपलपाती आग की लपटो का प्रसन्नतापूर्वक अभिपेक स्वीकार करती थी और जौहर की आग मे जीते जी जल मरती थी, जिन्हे सुन अकेला नरसिंह शतशत शक्तिशाली शत्रुओ से भिड जाता था, उन गीतों मे कितनी शक्ति है इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है ।[1]

---

१ गोवर्द्धन शर्मा : डिंगल का अपना छन्द-विधान-शोधपत्रिका से

राजस्थानी साहित्य एक बडा भाग डिंगल गीतों के रूप मे लिखा गया है। असख्य-असख्य गीतो ने इस वीर प्रसवनी धरती के वीर सपूतो के यश को स्थायित्व दिया है। इतिहास उन उर्जस्व बलिदानो भूल जाय, चाहे लोक प्रतिमा उन बीती घटनाओ की याद न रख सके, किन्तु डिंगल गीतों ने महान शौर्य, त्याग और बलिदान की अधिकाश घटनाओं को आज तक जीवित कर रखा है। राजस्थान मे कदाचित ही ऐसा वीर हुआ हो, जिसके शौर्य, दानवीरता, पराक्रम व बलिदान को उपजीव्य बनाकर कोई एकाध गीत न रचा गया होगा। अनेक गीतों के ऐतिहासिक मूल्यो की उपेक्षा नही की जा सकती। ऐसे है ये डिंगल गीत।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि राजस्थानी मे पाये जाने वाले डिंगल गीत किसी अन्य भाषा मे नही मिलते। यह राजस्थानी की अपनी विशेषता है। वस्तुत. गीत एक प्रकार के छंद हैं, जो केवल राजस्थानी मे ही उपलब्ध हैं। डिंगल गीतो के मूल उत्स के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कोई धारणा नही बनाई जा सकती है, फिर भी मेरी मान्यता है कि डिंगल गीतो की उद्भावना को खोजते समय याद रखना होगा कि हम अपभ्रश कालीन साहित्य को अवश्य ढू ढे।[1] चन्द बरदाई के वशज नानूराम का कहना है कि वीरचन्द्र के पुत्र हरिचन्द्र ने ही डिंगल गीत की सर्वप्रथम उद्भावना की। उसने डिंगल भाषा मे २४ गीत लिखे थे और एक डिंगल कोष का सग्रह व सम्पादन भी किया था।[2] किन्तु कहा नही जा सकता कि इस कथन मे सचाई का कितना अ श है। प्रमाणो के अभाव मे केवल किसी के कथन मात्र पर विश्वास कर लेना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक नही कहा जा सकता। वश-भास्कर के रचयिता वीर रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की धारणा थी कि डिंगल गीतो का जनक कोई चारण ही है।[3] इसमे कोई सदेह नही कि डिंगल गीत लेखको मे सबसे अधिक सख्या चारणो की ही रही है। चारणोत्तर जाति के कवियो ने डिंगल गीत लिखे हैं किन्तु ऐसे कवि अल्प सख्या में रहे है, अतः उक्त दोनो कल्पनाओ का आधार यही जान पड़ता है।

गीतो का आरम्भ कब से हुआ, इसका ठीक प्रमाण नही मिलता। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने राजस्थानी ख्यातो व बातो की परम्परा, नवी शताब्दी तक ढूढी है। उन्होने अपने 'चारण' नामक लेख मे 'अनर्घ राघव' से एक उदाहरण दिया है।[4] जिससे पता चलता है कि गीत और ख्यात नवी शताब्दी मे भी वर्तमान थे। उद्धरण यह है :-

---

१. गोवर्द्धन शर्मा . –शोध पत्रिका वर्ष ६, अ क २, पृ० ७०-७४
२. महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री : प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आन दि ओपरेशन इन सर्च आफ मैनेस्क्रिप्टस् आफ बार्डिक क्रानिकल्स - पृ० ३०।
३. डा० कन्हैयालाल सहल : राजस्थान के सास्कृतिक उपाख्यान पृ० ४
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०; पृ० ३३९

'चर्चामिश्चारणाना क्षितिरमणपरा प्राप्य सम्मोदलीजा-
प्राकीर्तेः सौविदल्ला नव गणय कवि प्रात वाणी विलासान् ।
गीत ख्यात च नाम्ना किमधि रघुपतेरथ यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्री धवलयति गशोदामुद्रया रामभद्रः ।'

अपभ्रंश काव्य ने गीत छंद को अपने ढग से अपना लिया था, इसका प्रमाण हमे हेमचन्द्र की प्राकृत वाल भाषा मागधी व्याकरण मे मिलता है। उन्होने एक उदाहरण दिया है जो यह है :--

ढोल्ला सामला घण चपवण्णी ।
णइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ।

यह उदाहरण हमारे डिंगल के छोटे साणोर छंद का है। छोटा साणोर गीत छन्द का ही एक भेद है।[1] अतः यह निश्चित तौर से कहा जा सकता है कि डिंगल गीतो ने १३वी सदी मे अपना स्वरूप ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था, यद्यपि उनका पूर्ण विकास पन्द्रहवी शताब्दी मे दीख पडता है। इस समय अपार गीतो की सृष्टि हुई और ये गीत भी विविध विषयो पर लिखे गये।

मान लीजिये कविता के छः पद्य है डिंगल गीतो के ये पद्य दोहले कहलाते हैं। सभी गीतो मे एक विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प्रथम दोहले मे जिस भावना को कवि ने अभिव्यक्त किया है, दूसरे दोहले मे भी उसी भावना को व्यक्त किया जायेगा, किन्तु जरा भिन्न प्रकार से। तीसरे अथवा चौथे दोहले मे भी इसी प्रकार भावना की पुनरावृत्ति होती है किन्तु भाषा की नही। इसको जरा उदाहरण लेकर समझा जाय। यथा --

राजस्थान के प्रसिद्ध योद्धा जयमल और पत्ताको भला कौन नही जानता ? वादशाह अकवर स्वय उन दोनो की वीरता से प्रभावित हुआ था। प्रस्तुत गीत मे चित्तौड किले को सम्बोधित करते हुये जो मार्मिक उद्‌गार प्रकट किये हैं, वे भला किसे रोमाचित नही करते।

चवै एम जैमाल चीतोड मत चल चलै,
हेडहूं अरी दल न दूं हाथै।
ताहरै कमल परा चढै नह ताइया,
माहरै कमल जे खवा माथै ॥१॥
धड़क मत चत्रगढ जोधहर धीर पै,
गंज सत्रा दला करूं गजगाह।
भुजा सूं भूझ जद कमल कमलां मिलै,
पछै तो कमल पग देह पातसाह ॥२॥
दूद कुल आभरण घुहड़हर दाखवै,
धीर मन डरै मत हरै धोखो।

---

१. डा० कन्हैयालाल सहल : राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान पृ० ५,

प्रथी पर माहरो सीस पड़िया पछै,
जाणजै ताहरै सीस जोखो ॥३॥
साच आछो कियो वीर रै सीधली,
हाथ चित पूरवै काम हथवाह ।
पुर अमर कमध जैमाल पाधारियो,
पछै पाधारियो कोट पतसाह ॥४॥

जयमल कहता है कि हे चित्तौड ! तू विचलित न हो, मैं शत्रु-दल को भगा दूंगा । तुझे शत्रुओ के हाथ कदापि न जाने दूंगा । तेरे सिर पर शत्रुओ के पैर तब तक नही पडेंगे, जब तक मेरे कन्धो पर मेरा मस्तक है अर्थात् मेरे जीते जी शत्रुओ के हाथ मे जाने की आशका निर्मूल है ।

जोघा का वशज धीरज बधाता है कि हे चित्तौड़ ! भयभीत न हो । शत्रुओ के दलों को नष्ट कर हाथियो से मैं उन्हे रौंदवा डालूंगा । भुजाओ से अलग होकर जब मेरा सिर (महादेव की मुण्डमाला के) मस्तको मे जा मिलेगा, तभी बादशाह तेरे सिर पर पैर रख सकेगा ।

दूदा के कुल का आभूषण और धूहड का पोता जयमल चित्तौड़ दुर्ग से कहता है कि हे दुर्ग ! तू धैर्य धारण कर, मन मे वृथा न डर और किसी भी प्रकार के सशय मे न रह । तेरे उन्नत मस्तक को तभी खतरा हो सकेगा, जब मेरा मस्तक धूल मे जा गिरेगा ।

हे सिंह के समान वीर जयमल ! तूने अपने वचनो को अच्छी तरह पूरा कर दिखाया । अपने हाथो से विपुल बाण वर्षा कर तूने अपने मन की निकाल ली । राठौड योद्धा जयमल जब स्वर्ग सिधार गया तभी बादशाह किले मे प्रविष्ट हो सका ।

उक्त उदाहरण से विदित होता है कि एक ही भावना को अलकारिक भाषा का आश्रय लेकर बारबार व्यक्त किया गया है । अब प्रश्न यह उठता है—ऐसा होता क्यों है ? भावो की यह आवृत्ति क्यो ? इसमे क्या रहस्य है ? मेरी धारणा है कि डिंगल गीत के सभी दोहलो मे एक ही भाव की आवृत्ति भावपुष्टि के लिये की जाती है । मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका बडा उपयोग है । बार-बार के दोहराने से पाठक की भावप्रवणता को उत्तेजना मिलती है । वह कवि के साथ बह जाता है । उदाहरण के लिये एक वक्ता है और वह किसी आमसभा के मच से जनता को कहता है–'हमे रोटी, रोजी और कपडा दो' तो उसके इस कथन का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ेगा । किन्तु यदि वह यह कहे—'हमारी सरकार से माग है–हमे रोटी दो, हमे रोजी दो, हमें कपड़ा दो' तो उसकी इस वक्तृता का अधिक तीव्र व व्यापक प्रभाव पडेगा । कारण स्पष्ट है कि 'हमे रोटी दो, हमे रोजी दो, हमे कपड़ा दो' कहने से इन शब्दो मे एक विशेष शक्ति जान पडती है । यह एक ही भावना, हमारे अभावो को पूरा करने की माग को प्रकारान्तर से दोहराती है । यही डिंगल गीतो मे भावना की आवृत्ति का रहस्य है । गुजराती साहित्य के स्वनामधन्य साहित्यिक स्वर्गीय मेघाणी

जी ने भी कहा है-'चारणी रचना का हेतु विगत उपस्थित करना नही था, बल्कि एक ही भावना को उठा कर शब्द गु फन द्वारा शौर्य आदि जागृत करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। लोक गीतो की तरह सब वस्तुओ का व्योरा देने का अवकाश यहा नही रचनाकार की दृष्टि मे इतिहास का विगतवार वर्णन महत्वपूर्ण नही था, अपितु उसका उद्देश्य तो नाद् तथा प्रसग की जमावट करके शूरातन चढाना था।'

डिंगल गीतों को डिंगल भाषा की निजी सम्पत्ति कह सकते हैं। इस अपूर्व एव अमेय सम्पत्ति के लिये डिंगल को न तो अपनी मा अपभ्रश का मु ह देखना पड़ा और न सखी व्रजभाषा का। अतएव निस्सदेह यह गीत रचना डिंगल कवियो के मस्तिष्क की एक अपूर्व उपज कही जा सकती है। इसी प्रश्न पर इससे पूर्व पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

अन्य छन्दो की भाति डिंगल गीतो के अपने नियम हैं। अधिकांश गीतो में चार दोहले पाये जाते हैं। कम से कम तीन दोहले होना अनिवार्य है, हां चार से अधिक दोहलो की रचना भी 'एक गीत के अन्तर्गत की जा सकती है। प्रत्येक दोहले (द्वालै) मे चार पक्तिया होती हैं। कही-कही पहले चरण मे अन्य चरणो से अधिक मात्राये या वर्ण होते हैं, जो उसके प्रथम व प्रारम्भिक स्थान के सूचक होते हैं। वे गीत मात्रिक, और वर्णिक दोनो प्रकार के पाये जाते हैं। अधिकाश गीत सतुकान्त होते हैं, पर अनेक ऐसे गीत भी उपलब्ध हुये है, जो अतुकान्त हैं। हिन्दी के लिये मात्रिक छन्दो मे अतुकान्त कविता नई चीज है, पर राजस्थानी मे वह प्राचीनकाल से चली आई है।[1] राजस्थानी के गम्भीर अध्येता नरोत्तम स्वामी ने 'रघुनाथ रूपक' को आधार बना कर डिंगल गीतो को वैज्ञानिक क्रम से विभाजित किया है। उनको विवेचन करने पर मालूम हुआ कि 'मात्रिक गीतो की सख्या बहुत अधिक है। वार्णिक गीतो की कुल सख्या ७ है, और उनमे भी मात्राओ का झझट लगा हुआ है।'[2] एक गीत ऐसा भी है जो मात्रिक और वार्णिक दोनो है। मात्रिक गीतो मे सबसे अधिक सख्या विषम गीतो की है। इससे कम अर्धसम की और सबसे कम सम की। विषम गीतो की यह अधिकता राजस्थानी की एक विशेषता कही जा सकती है, (क्योंकि) हिन्दी के अधिकाश छन्द और पद सम या अर्धसम ही पाये जाते हैं।

इन गीतो मे मात्रिक छन्दो की बहुलता और विषम पदो की अधिकता का कारण निश्चित तौर पर तो अविकृत अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण ठहराया नही जा सकता है,[4] किन्तु सम्भावित कारणो का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। श्री आर० वी० जागीरदार ने अपनी पुस्तक 'ड्रामा इन सस्कृत लिटरेचर'

१—गजराज ओझा : नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १४, अ क २, पृ० १३१

२—नरोत्तम स्वामी : राजस्थान भारती, भाग २, अ क १, पृ० २४

३—वही।

४—विशेष जानकारी के लिए देखिये – परिशिष्ट १,
डिंगल गीतो का छद शास्त्रीय अध्ययन

मे सस्कृत नाटको मे प्राकृत गीतो की अवतारणा पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि सगीत की आवश्यकता के अनुरूप ही जनपदीय बोलियो के गीतो की व्यवस्था सस्कृत के नाटककारो को करनी पडी है। वार्णिक वृतो मे यह माधुर्य नही आ पाता था जो 'देशी बयना' सव जन मिट्ठा' मे था। मात्रिक वृत जो अपभ्रश मे जाकर तुकान्त हो गये थे—अपेक्षाकृत अधिक लय मय थे। डिंगल के ये समस्त गीत, जैसा कि पहले बताया जा चुका है—विशेष लय और ध्वनि सौन्दर्य के साथ पढे जाते हैं, स्वाभाविकतया मात्रिक ही होने चाहिए। जो सरलता व सरसता मात्रिक वृत्तो में होती है, वह डिंगल कवि के लिए आवश्यक थी, अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए इसके अतिरिक्त राह भी कौन सी हो सकती थी ? अत: अधिकाश गीत मात्रिक और विषम हैं।

डिंगल गीतो के बाद सबसे प्रिय छन्द 'दोहा' है। यदि गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि कौन-सा छद राजस्थान की भावना का सही प्रतिनिधित्व करता है, किसकी अभिव्यक्ति सबसे जीवन्त है, तो निसन्देह दोहा इसमे बाजी ले जायेगा। नीति, वीर, शृ गार, प्रकृतिवर्णन तथा अन्य प्रकार की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए 'दोहा' डिंगल मे कवियों का अति प्रिय छद रहा है। इस प्रदेश के लोकरिवाज, उत्सव, धार्मिक विश्वास, आशायें—अभिलाषायें, जनभावना, समाजव्यवस्था, सस्कार और सस्कृति जिस कुशलता से अपने को इस छन्द के माध्यम से प्रगट कर पाई है, वह अभूतपूर्व है। दोहा राजस्थानीजनता से इतना अधिक स्नेह सम्पादन कर पाया है कि उसने सभी प्रकार की कविता के लिए 'सज्ञा' का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। मानो वह छन्दो का प्रतिनिधि बन बैठा है अत: कभी-कभी सामान्य छन्द के अर्थ मे भी इसका प्रयोग कर दिया जाता है।

दोहा अपभ्र शकालीन छद है। लोकभाषा अपभ्र श की जेठी बेटी राजस्थानी मे अपने वश का रुधिर बहुत अधिक शुद्ध रूप मे पाया जाता है—तब भला दोहे को यह प्रधानता क्यो न मिले ? यह छद दोहा दूहा, दूहो, दूहा, दोहरा आदि नामो से पुकारा जाता रहा है। विद्वानो का मत है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत दोधक या दोग्धक शब्द से की जाती है पर यह उचित नही जान पडता। 'स्वयभू' छद' (अपभ्र श काव्य शास्त्र) मे इस छद को 'दुवहअ' कह कर पुकारा गया है। इससे ज्ञात हुआ है कि 'द्विपदक' से दिव्पथक (दिवपथा) दुवहअ होता हुआ कालान्तर मे 'दोहा' हो गया। अपभ्र श काल मे इस छद ने बहुत प्रमुखता पा ली। जिस प्रकार प्राकृत साहित्य मे 'गाहा' या 'गाथा' छद का बोल बाला था, उसी प्रकार अपभ्रश-काल मे 'दोहा' सर्वप्रिय छद बन बैठा और उसका बहुत प्रयोग होने लगा। डा० जेकोबी और अल्सडोर्फ के अनुसार 'अपभ्र श' नीति काव्य का यह अति प्रचलित छद है और यह कह कर कि यह प्राकृत गाथा का अपभ्र श प्रतिरूप है, इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहा अपभ्र श का छोटा ही छन्द कहा जायेगा लेकिन उसमे इतनी स्वरगत भगिमायें है कि उससे कथा के प्रवाह मे बाधा आती है अत: उसका प्रयोग चरित्र-

काव्यो मे कथा प्रवाह को नियन्त्रित करने के लिए होता रहा है। अपभ्रंश काव्य की इस परम्परा को राजस्थानी ने तो ग्रहण किया ही है—हम अन्य भाषा काव्यों मे भी यही प्रवृत्ति पाते हैं। सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य व राम चरित मानस मे दोहा चौपाई का प्रयोग मानो इसी परम्परा का निर्वाह है। किन्तु दोहा है मुक्तक का श्रेष्ठ छन्द उसमे आने वाली चार यतिया और प्रत्येक यति का विषम चरण उसे मुक्तक काव्य के लिए अति उपयोगी बना देता है। हिन्दी मे दोहे को एक ही प्रकार का माना जाता है। किन्तु डिंगल मे यह पाच रूपो मे पाया जाता है। यथा—(१) दूहो (२) सोरठियो दूहो (३) बडो दूहो (४) तूंबेरी दूहो और (५) खोडो दूहो।

(१) दूहो—यह एक मात्रिक छन्द है जिसमें चार चरण होते है। पहले और तीसरे चरण में १३-१३ मात्रायें होती हैं और दूसरे व चौथे चरण मे ११-११ मात्रायें होती हैं। अन्त तुकान्त होता है। यथा —

राजनीति रै रोग सूं बढै विपद जद पूर।
मेटे सकट मुलकरो, कै साहित कै सूर॥

राजनीति के कुत्सित रोग से जब देश विपदग्रस्त हो जाता है तो साहित्य अथवा शूरवीर ही उसका सकट मिटा सकते हैं।

(२) सोरठियो दूहो—यह हिन्दी का सोरठा ही है। इसका सम्बन्ध सौरठ (सौराष्ट्र) से जोडा जाता है। यह राजस्थानी का बहुतप्रिय छन्द है। एक कहावत प्रसिद्ध है —

सोरठियो दूहो मलो भलि मरवण री बात।
जोवण छाई धण भली, तारा छाई रात॥

सोरठियो दूहो, ढोला मारवण की कथा, यौवनमद से मत्त प्रिया और तारो से भरी हुई रात्रि अच्छी होती है।

इसके पहले और तीसरे चरण मे ११-११ मात्रायें तथा दूसरे तथा चौथे चरण मे १३-१३ मात्रायें होती हैं। तुक मध्य मे मिलता है। हमे यहा राजस्थानी दोहो के सम्बन्ध मे एक बात, एक विशेषता याद रखनी चाहिए कि उनमे केवल उन्ही चरणो का तुक मिलेगा जिनकी मात्रायें ११ हो। उदाहरण सोरठिये दूहे का —

अकबरसमद अथाह, तिह डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाडी तिण माह, पोयण फूल प्रतापसी॥

अकबर अथाह समुद्र के समान है, जिसकी अथाह गहराई मे हिन्दू और मुसलमान सब डूब गये, परन्तु मेवाड का महाराणा प्रताप कमल के फूल के समान उसके ऊपर ही तैर रहा है—उस समुद्र का राशि जल प्रताप रूपी कमल-पुष्प को जरा भी आर्द्र नही कर सका।

(३) बडो दूहो—इसका दूसरा नाम 'साकलियो दूहो' भी है। इसके पहले और चौथे चरण मे ११-११ मात्रायें तथा दूसरे व तीसरे चरण मे १३-१३ मात्रायें होती हैं। पहले और चौथे चरण का तुक मिलता है।

रोपी अकबर राड़, कोट झडै नह कागरै ।
पटके हाथल सीह पण, वादल ह्वै न बिगाड़ ।।

अकवर ने लडाई ठान ली पर अनेक प्रयत्नो के बावजूद भी वह कोट (परकोटा) या कूगूरे को गिरा न सका । सिंह क्रोधित होकर चाहे जितनी बार अपना पंजा पटके, पर उससे वादलो को कोई हानि नही पहुचती । वे उसकी पहुच से सदा ही बाहर रहते हैं ।

(४) तूवेरी दूहो–यह बड़े दूहे का विलोम है । इसके पहले और चौथे चरण मे १३-१३ मात्रायें तथा दूसरे और तीसरे चरण मे ११-११ मात्रायें होती हैं । दूसरे और तीसरे चरणो का तुक मिलता है ।

मेवा तजिया महमहण, दुरजोधनरा देख ।
केला छोत विसेख, जाय विदुर घर जीमिया ।।

महामानव श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मेवे भी त्याग दिए किन्तु प्रेम-भक्ति मे बंध कर उन्होने विदुर के घर जाकर विशेष तौर से केले के छिलके खाये ।

(५) खोड़ो दूहो–खोडा शब्द राजस्थानी का है जिसका अर्थ होता है 'लंगड़ा' । जिस दोहे का अन्तिम चरण कम मात्राओ का हो, वह खोड़ा दूहा कहलाता है । इसके पहले और तीसरे चरणो मे ११-११ मात्रायें होती हैं और इन्ही का तुक भी मिलता है । दूसरे चरण मे १३ और चौथे चरण मे केवल ६ मात्रायें रहती हैं ।

नाड़ो भरियो नीर, टाबरियो झूलण गयो ।
परै न पूगो तीर, वो डूबो ।।

भरे हुए तलैया मे बच्चा झकोले लेने के लिए गया । वह तैर कर किनारे पहुच नही पाया, वेचारा डूब गया ।

यहा हमने डिंगलके रीति ग्रथो और छद शास्त्रोके अनुसार दोहेके प्रमुख भेदो-प्रभेदो पर विचार किया है[1] किन्तु वर्ण्य विषय को लेकर भी दोहेके अनेक भेद प्रचलित हो गये हैं । राजस्थान के सास्कृतिक उपाख्यान नामक अपनी पुस्तक के आरम्भ मे डा० कन्हैयालाल सहल इस प्रकार की सुन्दर व्याख्या को है उसे यहा साभार उद्धृत किया जाता है ।[2]

(१) रंग दूहा —

'धन्य धन्य' या शाबाशी के अर्थ मे 'रंग है, रग है' कहने की प्रथा राजस्थान में है । किसी के शौर्य आदि की प्रशंसा मे 'रग रग' के प्रयोग द्वारा जो दोहा कहा जाता है उसे 'रग रा दूहा' कहते हैं । उदाहरणार्थ —

'ल्यायो भ्रमर लिवाय, मेछा पग झट माडतो
सतिया सुजस सवाय, वसियो स्रुग रग रंग बलू ।'

१—विस्तृत जानकारी के लिए देखिए--'रघुवर जस प्रकाश'-पृ० ६८

२—कन्हैयालाल सहल : राजस्थान के सास्कृतिक उपाख्यान - पृ० १३-१४

अर्थात् शत्रुओ को तलवार के घाट उतार कर बलूजी अमरसिंह के शव को ले आए जिसे लेकर उनकी रानी चिता पर बैठ कर भस्म हो गई। वीर बलूजी भी इसके बाद शत्रुओ से लडते हुए स्वर्गवासी हुए। 'रंग है, रग है', ऐसे बलूजी के लिए।

(२)परिजाऊ दूहा—परिजाऊ शब्द का प्रयोग वीर रस से सम्बन्ध रखने वाले किसी गीत, दोहे अथवा कवित्तके लिए हो सकता है–विशेषत: उन छन्दोके लिए इस शब्द का प्रयोग समुचित है जिनमे वीरो ने शरणागत रक्षाका अथवा अपने सम्मान की रक्षा के लिए प्राणो की बाजी लगा दी हो। उदाहरणार्थ —

सूरा सोत उजाड़ मे, भूंडण पोहरा देत।
उठ रै कंत निदालवा, कटक हिलोला लेत।

अर्थात् शूकर जगल मे सोया हुआ था, शूकरी पहरा दे रही थी। क्षत्रिय-कुमारो के आखेट दल ने शूकर को चारो ओर से घेर लिया। तब शूकरी ने कहा—हे निद्रालु पति, उठो, शत्रु-दल समुद्र मे उठती हुई लहरो की तरह हिलोरें ले रहा है। इस पर शूकर ने उत्तर दिया —

तू जा भूडण भाकरा, हू जाऊ रणघट्ट।
महल रुवाणौ पदमणी, (कै) मीस वखेरू हट्ट।

अर्थात् हे शूकरी! तू तो पहाडो मे चली जा और मैं युद्धक्षेत्र में जाता हू। या तो शत्रुओ को मार कर उनकी प्रियतमाओ को रुलाऊगा अथवा युद्ध में स्वयं प्राण देकर शत्रुओ के घर घर गोठ के साधन जुटा दूगा। यह सुनते ही शूकरी बोल उठी —

सुण सूरा भुंडण कहै, कुल अपणों लाजत।
इण धरती रो ऊपन्यो तीतर नही भाजत॥

मैं युद्ध मे न जाऊं, हो नही सकता, ऐसा करने से हमारा कुल लज्जित होगा। इस धरती का उत्पन्न हुआ तीतर भी प्राणरक्षा के लिए भाग नही सकता, फिर मेरी तो बात ही क्या?

(३) सिन्धु दूहा–युद्ध के समय दमामी लोग योद्धाओ को उत्साह दिलाने के लिए सिन्धुराग मे दोहे गाते थे। जब कोई सेना युद्ध के लिए तत्पर होती, अथवा युद्ध मे जुट जाती तो वीरो को जोश दिलाने के लिए सिन्धु राग का प्रयोग किया जाता था। इसके द्वारा योद्धाओ को नवीन प्रेरणा मिलती थी। कहना न होगा कि जीवन की नश्वरता और वीर कर्तव्यो के पालन करने के लाभो पर ही ये दोहे आधारित होते थे। यथा —

सार वहन्ता साहिबों, मन माया न धरत।
जाण खखेरी खालडी, तापस मढी तजत॥

हे शूरो तलवार चलाते हुए मन मे किसी भी प्रकार माया को धारण न करो। अपने शरीर को ककाल और सूखी चमडी मात्र समझो। जैसे कोई तपस्वी मढी त्याग कर चला जाता है, उसी प्रकार ये प्राण भी एक दिन चले जायेंगे अतः रण में बस तलवार चलाते रहो।

(४) विसहर दूहा—जिस दोहे द्वारा कवि अनौचित्य के लिए किसी व्यक्ति की भर्त्सना करता है, तो वह दोहा विसहर कहलाता है। विंसहर शब्द सम्भवत विषधर का ही रूप हैं। ऐसे दोहे तीव्रता व भयकरता के साथ एक विषधर के समान ही अपने लक्ष्य पर चोट करते हैं, इसी से इन्हे विसहर कहा जाने लगा है।

'विसहर' छंद व्यगात्मक छद हैं, निन्दात्मक नही। यद्यपि उनमे निन्दा की जाती है, किन्तु यह निन्दा साध्य नही, साधन है। कवि का प्रयोजन भर्त्सना अथवा निन्दा द्वारा सुधारा है, अत: हम इन्हें निन्दात्मक काव्य नही कहेंगे। सामाजिक उपयोगिता को विना विचारे जो केवल अवगुण दर्शन अथवा भर्त्सनामय काव्य लिखा जायेगा उसे अंग्रेजी में लेम्पून (निन्दात्मक) कहा जायेगा। निन्दात्मक काव्य के औचित्य पर हम शका कर सकते हैं, किन्तु 'विसहर' उपयोगिता की दृष्टि से महत्व रखते है। उनमे घृणा व तिरस्कार नही, व्यग और भर्त्सना होती है। इस सम्वन्ध मे ड्रायडन ने कहा है, 'व्यंग का वह स्वरूप जिसे हम इंग्लैण्ड मे 'लेंपून' के नाम से ग्रहित करते हैं, वहुत ही खतरनाक प्रकार का शस्त्र है, और बहुधा गैरकानूनी है। हमे दूसरे व्यक्तियो की निन्दा करने का कोई नैतिक अधिकार नही है। केवल दो ही कारण हो सकते हैं जिससे हमे ऐसे निन्दात्मक काव्य रचने की छूट मिले, मैं वादा नहीं करता कि वे दोनो कारण सदा न्याय-सगत ही हो। पहला कारण है 'प्रतिहिंसा,' जवकि हमारे आगे ऐसा ही क्रूर व्यवहार हुआ हो अथवा भयकर रूप से बदनाम किये गये हो, जिसका अन्य कोई इलाज न हो। मैं दूसरा कारण भी बताऊंगा और वह यह कि कोई व्यक्ति जन समुदाय के लिए परेशानी का कारण बन गया हो।'

कहना होगा कि 'विसहर' किसी भी दृष्टि से लेंपून की कोटि मे नही रखे जा सकते हैं। 'विसहरो' का उपयोग शासको व सामन्तो को कर्तव्यपरायण, मानवीय उदात्त आचरणकर्ता व निष्ठावान् बने रहने को मजबूर करता था। एक दो उदाहरण लेकर हमे अपनी वात समझनी होगी।

जोधपुर नरेश बखतसिंह ने अपने पिता अजीतसिंह को रात मे सोते हुए जान से मार दिया था। यह घटना ३ जुलाई १७२४ को घटित हुई। इस सम्बन्ध मे यह दोहा प्रसिद्ध है —

बखता बखत बायरो क्यु मारियो अजमाल।
हिन्दुवाणी रो सेवरो तुरकाणीरो काल॥

(हे भला-बुरा न विचारने वाले बखतसिंह ! तूने अजीतसिंह को क्यो मारा ? वह तो हिन्दुओ का शिरमौर और मुसलमानो का कट्टर शत्रु था)।

एक बार किसी कवि ने इन्ही बखतसिंह को अपने एक घोड़े को 'वापो', 'वापो' कहते और दुलारते हुये देखा। उसने ताना मारते हुये निम्न विसहर कहा —

वापो मत कह बखतसी, कापत है केकाण।
एक वार वापो कह्या, पवंग तजेला प्राण॥

(हे बखतसिंह ! घोड़े को 'वापो' कह कर न पुकार। वह प्राणभय से कांप रहा हैं। यदि एक बार जो फिर 'वापा' कह दोगे तो यह घोड़ा भय के मारे अपने प्राण तज देगा।)

'विसहर' के रूप मे की जाने वाली भर्त्सना का लक्ष्य दुर्गुणो को वढने से रोकना था। अपने पिता को स्वयं मार देना, इससे वढ कर कृतघ्नता क्या होगी ?

'विसहर' की सम्वेदना में अपेक्षाकृत कम तीखे व्यग भी राजस्थानी काव्य में वहुतायत से मिलते हैं। वाकीदास की व्यंगमय कविता इसी प्रकार की है। उन्होंने उन व्यापारियों को लतेड़ा है जो स्वार्थ सिद्धि के लिए अपने मित्रों का भी ध्यान नही रखते।

जल छाणे, दिन जीमही, लीली वस्त न खाय।
दोसत हूं देता दगो, कसर न राखै काय॥

(वे जल को छान कर पीते हैं, दिन में ही भोजन कर लेते है और (अहिंसा की दृष्टि से) हरी वस्तुयें (सब्जी) नही खाते किन्तु मित्र को धोका देने मे कोई कमर नही रखते।)

उनकी 'कुकवि वत्तीसी', मावडिया मिजाज,' 'कृपण दर्पण', 'कायर वावनी' आदि रचनायें इसी प्रकार की हैं। किन्तु इनमे कवि ऊमरदान के काव्य सा असतुलन नही है। ऊमरदान ने 'राम-स्नेही' सम्प्रदाय के साधुओ से चिढ कर अच्छी खबर ली है, पर वह व्यगात्मक काव्य के स्थान पर निन्दात्मक कविता वन पडी है। प्रस्तुत चर्चा का हमारा उद्देश्य राजस्थानी कविता मे पाये जाने वाले व्यग के प्रकारों की जानकारी तक ही सीमित है अत. ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार नही किया गया है।

वयण-सगाई

डिंगल कविता मे विभिन्न प्रकार के अलंकारो का प्रयोग किया गया है, किन्तु यह आश्चर्य की वात है कि काव्यरूढियो को वहुत अधिक परिमाण मे संजो कर चलने वाली डिंगल कविता–धारा अलकारो के प्रति अधिक उत्साही नही रही। डिंगल के अधिकाश कवि, केवल अलंकार के मोह मे पड कर, अपनी रचनाओ को निर्वीर्य वनाने के हिमायती कभी नहीं रहे। उन्होने अलकार-प्रयोग के सम्वन्ध मे पूर्ण संयम से काम लिया है। अलकारो को, उन्होने अपनी कविता-कामिनी के सौन्दर्य-वृद्धि का साधन मात्र ही माना है, उसे साध्य कभी वनने नही दिया। साधन और साध्य का यह अन्तर उनके सामने सदैव स्पष्ट था। यही कारण है कि डिंगल कविता, रूढ़ियों

से पूर्णतया शृंखलित होने पर भी प्राणवान है। इसका यह अर्थ नही कि डिंगल कविता मे अलंकारो का प्रयोग नही हुआ, पर अलकार कविता के एक अंग-मात्र बन कर रहे, वे कभी कविता पर छा नही सके। डिंगल कविता मे हमे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक और अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारो का सफल प्रयोग मिलता है। पर एक अलंकार को, डिंगल कवियो ने, बडी तत्परता और इतनी कड़ाई से प्रयुक्त किया है कि वह अलकार, केवल अलकार मात्र नही रहा अपनी सज्ञा त्याग कर, वह अनिवार्य काव्य-तत्व के रूप मे ग्रहीत किया जाने लगा। वह राजस्थानी कविता की एक विशेषता वन गया। इस शब्दालकार को 'वयण-सगाई' (वर्ण-सगाई या वर्ण-सम्बन्ध) कहा जाने लगा।

'वयण-सगाई' एक शब्दालंकार है। राजस्थानी परम्परा से अपरिचित विद्वानो ने इसे एक छद मान लिया है,[1] जो सर्वथा अनुचित है। 'वयण-सगाई' के अनुसार, सामान्यत: कविता के किसी चरण के प्रथम शब्द का प्रथम अक्षर, उसी चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर से मिलता है। जैसे —

अकवर गरव न आंण, हींदू सह चाकर हुआ।
दीठो कोई दीवाण, करता लटका कटहड़े ॥

(हे अकवर ! मन मे इस वात का गर्व न कर कि हिन्दू सरदार तेरे सेवक हो गये हैं। क्या तूने कभी इकलिंग के दीवान, महाराणा प्रताप को कटहड़े मे मुजरा करते देखा है ?)

यहा प्रथम चरण के 'अकबर' और 'आण', दूसरे चरण के 'हीन्दू' और 'हुआ', तीसरे चरण के 'दीठो' और 'दीवाण' और चौथे चरण मे 'करतो' और 'कटहड़े' मे वयण-सगाई है। 'वयण-सगाई' नामक इस अलकार का उल्लेख सस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रश के काव्यशास्त्रो मे नही पाया जाता। न अन्य भारतीय भाषाओ मे इसके इस स्वरूप की उपलब्धि ही होती है। अत: अलकार के क्षेत्र मे 'वयण-सगाई' डिंगल कवियो की विशिष्ट उद्भावना है और अलंकार-शास्त्र को उनकी एक विशिष्ट देन कही जा सकती है। अस्तु —

डिंगल मे रचित कविता का प्रत्येक चरण का पहला अक्षर उस चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर से मिले—कितना बडा वन्धन है यह ! डिंगल कवियो ने इस नियम का कडाई से पालन किया है। हा यह बात अवश्य है कि 'वयण-सगाई' के कालान्तर मे अनेक भेद बनते चले गए, जिससे कवियो को अधिक सुविधा हो गई। पर प्रश्न यह आता है कि सस्कृत वर्ण-वृतो की क्लिष्टता से बचने वाली कविता पर यह बन्धन कैसे हावी हो गया ? और इस प्रश्न के उत्तर मे हमे डिंगल के लक्षण-ग्रन्थो की शरण मे जाना पड़ता है। मछाराम ने अपने ग्रथ 'रघुनाथरूपक' मे लिखा है —

१—नामवरसिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग – पृ० ३०।

आवे इण भाषा अमल, वयण-सगाई वेश ।
दग्ध अगण वद दुगण रो, लागे नह लवलेश ।।
० ० ०
खून किया जाणी खलक, हाड़ वैर जो होय ।
वणै सगाई वयण तो, कलमस रहै न कोय ।।

(अर्थात् इस डिंगल भाषा मे ऐसा नियम है कि यदि अक्षरो की वयण-सगाई मिल जाती है तो दग्धाक्षरो का, अशुभ गणो का और अशुभ द्विगुणो का कुछ भी दोष नही लगता ।

(ससार में यह प्रसिद्ध है कि किसी की हत्या करनेसे जो वैरभाव हो जाता है, वह भी वाग्दान से विवाह सम्बन्ध हो जाने के बाद दूर हो जाता है । वहा फिर किसी के मन मे, किसी भी प्रकार की दुरभिसधि नही रहती ।)

इसका यह अर्थ निकला कि डिंगल कवियो ने इस 'वयण-सगाई' को दग्धाक्षरो, अशुभ गणो व द्विगुणो की झझट से बचने के लिए अपनाया, पर यह साधन महगा रहा । इस पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पहले हम दग्धाक्षरो, अशुभ गणो व द्विगणो सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लें तो उचित होगा ।

दग्धाक्षरो के सम्बन्ध मे विद्वानो में परस्पर मतभेद है । कुछ लोग, केवल आठ दग्धाक्षर मानते हैं और उनका कविता के प्रारम्भ मे प्रयोग निषिद्ध ठहराते हैं । वे अक्षर ये हैं—ह, झ, ध, र, घ, न, प, और भ । आठ दग्धाक्षर मानने वालो की मान्यता है कि कविता में 'हकार' का प्रयोग हित की हानि करता है । 'झकार' शरीर मे व्याधि उत्पन्न करता है । 'धकार' राज-भय कराता है । 'रकार' धन का नाश कराता है । 'घकार' स्त्री और शरीर का नाश करता है । 'नकार' अकारण ही मनुष्य को नीचा दिखाता है । 'पकार' यश का नाश कराता है । 'भकार' परदेश मे भटकाता है । इन आठ अशुभ अक्षरो से कविजन सदा बचें । जिन पिंगलाचार्यों ने चौदह दग्धाक्षर माने हैं, उनका मत है–'मकार', 'दकार' और 'पकार' यह आद्य शब्द के मध्य में नही लाना चाहिए । 'झकार', 'टकार' और 'ककार' इनको आदि शब्द के अन्त मे नही रखना चाहिए और ह, ज, ध, र, घ, न, प, भ,–इन आठ अक्षरो को आदि मे नही लाना चाहिए । कुछ आचार्यों द्वारा ग, ड, ठ, ट, थ, ण, द्र, ल, प, म, ह, झ, ध, र, घ, नृ, ष, और भ,–इन अठारह अक्षरो को दग्धाक्षर माना गया है । कवि को अपने कर्म मे तल्लीन रहते हुए भी इन दग्धाक्षरो के प्रति सतर्क रहना जरूरी था । इसी प्रकार उन्हे अशुभ गणों को भी कविता के प्रारम्भ मे नही लाना चाहिए । 'मगण' 'नगण' 'यगण' और 'भगण' ये चार शुभ गण हैं और शेष चार गण, यथा, 'सगण' 'तगण' 'रगण' और 'जगण' अशुभ है–इन्हे कदापि कविता के प्रारम्भ मे न आने दिया जाय ।

अभी तो हम दग्धाक्षर व अशुभ गणो के सम्बन्ध मे उलझ रहे है । द्विगणो का चक्कर तो बेहद पेचीदा है । यह तो हम सब जानते हैं कि गण आठ होते हैं,

यथा—य, म, त, भ, न, र, ज, और स गण। इनमे से 'मगण' और 'नगण' इन दानो गणो को मित्र-गण माना जाता है। 'भगण' और 'यगण' को भृत्य (सेवक) 'जगण' और 'तगण' को उदास और 'सगण' और 'रगण' को शत्रु की सज्ञा दी गई है। आचार्यों के अनुसार 'मित्र' और 'उदास' गणो का सम्बन्ध सुखो को दुखो मे वदल देता है। 'मित्र' व 'शत्रु' गणो का सम्बन्ध सज्जनो को हानि करता है। 'उदास' और 'शत्रुगण' मिल कर अशुभ योग का निर्माण करते हैं। 'दास' और 'उदास-गणो' की मैत्री घनक्षय करती है और 'दास' और 'शत्रु' गणो की निकटता दुश्मनी मे वदल जाती है। 'शत्रु गणो' के साथ 'भृत्य गणो' के मिलने से शोक की वृद्धि और 'शत्रु' तथा 'उदास गणो' के साथ से वश-विनाश होता है। कितनी विचित्र भूल-भुलैया है! कवि-कविता क्या करता है, बडी वीरता का, साहस का प्रदर्शन करता है। लोक-कथाओ के राजकुमार की तरह यदि वह दग्धाक्षर रूपी पहरेदारो से अपने को वचा कर, अशुभ गणों रूपी चारो समुद्रो को पार कर, द्विगणो के तिलस्म को वेध सकने मे सफल हो जाता है तो कही जाकर कविता सुन्दरी तक उसकी पहुँच होती है। कितनी भयकर और अधिक है उसकी वाधायें! और इन वाधाओ से बचने के लिए उसे 'वयण-सगाई' रूपी जादू की चटाई जो मिल गई।

और डिंगल कवि ने अगणित वन्धनो से मुक्त होने के लिए, अपने को एक नये वन्धन मे वाध लिया। यह स्वाभाविक ही था। काटा, काटे से ही निकाला जाता है। चिकित्सक विष को प्रभावहीन करने के लिए प्रति-विष की शरण लेता है। अतः यदि डिंगल कविता ने दग्धाक्षरो, अशुभ गणो और द्विगणो के दोषरूपी शृ खलाओ को तोड़ने के लिए, अपने को 'वयण-सगाई' के बन्धनो में जकड़ा तो यह सहज ही था।

वैसे डिंगल के रीति-ग्रन्थो मे वयण-सगाई का निर्वाह करना अनिवार्य नही माना है और निर्वाह न होने को दोष भी नही ठहराया है, फिर भी मध्यकालीन कवियो ने इसका इतनी कट्टरता से पालन किया है कि पश्चवर्ती कवियो को इसे एक काव्य-नियम के रूप मे ग्रहण करने को वाध्य होना पड़ा है। यदि कोई कवि, किसी स्थान पर 'वयण-सगाई' का निर्वाह नही कर पाता तो वह कोई काव्यदोष नही माना जाता था, परन्तु वह उसकी काव्य अक्षमता का द्योतक माना जाता था। बूँदी के महाकवि सूर्यमल्ल पहले कवि थे, जिन्होने 'वयण-सगाई' के पालन करने मे, अनेक वार भावो की उचित अभिव्यक्ति और सवेगो का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक कविता मे नही हो पाता है और कभी कभी तो इसीलिए रसोद्रेक भी वाधा पहुँचाती है, यही विचार कर, उन्होने अपनी 'वीर सतसई' मे, इस नियम मे ढील बरती और अपनी सफाई के रूप मे निम्न दोहा लिखा :

वयण-सगाई वालिया पेखीजै रस पोस।
वीर हुतासण बोल में, दीसे हेक न दोस॥

(वयण-मगाई के नियम को जला देने से, वीर-रस का पोषण ही दिखाई पडता है। उस हुतासन (अग्नि) की दीप्ति मे दोष तो एक भी नही दिखाई देता।

अग्नि, जिस प्रकार सभी खराबियो को जला कर शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार वीर-रस सभी काव्य दोषो को छिपा लेता है।)

'वयण-सगाई' के सात भेद माने गये हैं, जिनमे तीन मुख्य हैं–उन्हे उत्तम (अधिक), मध्यम (सम) और अधम (न्यून) कहा जाता है।

१–उत्तम या अधिक प्रकार की 'वयण-सगाई' मे चरण के पहले शब्द और अन्तिम शब्द के आदि के वर्गों को मिलाया जाता है–यथा —

जिण वन भूल न जावता, गैंद गिवड गिडराज।
तिण वन जबुक ताखड़ा, ऊधम मडे आज॥

(जिस वन मे हाथी, गेंडे और सूअर भय के मारे भूल कर भी नही जाते थे, वहा आज (सिंह के न होने से) गीदड़ भी वडे शक्तिवान बने उपद्रव कर रहे हैं।)

२–मध्यम या सम 'वयण-सगाई' मे चरण के प्रथम शब्द के आदि के अक्षर और अन्तिम शब्द के मध्यम अक्षर का मेल किया जाय . जैसे —

नाम लिया थी मानवां, सरकै कलुष विसाल।
मह जैसे भेटै तिमर, रमम परस किरमाल॥

(हे मनुष्य ! प्रभु के नाम-स्मरण से तुम्हारा सारा विपुल पाप उसी प्रकार खिसक जायेगा, जिस प्रकार सूर्य की रश्मि से पृथ्वी का अन्धकार, स्पर्श मात्र से तिरोहित हो जाता है।)

३–अधम या न्यून 'वयण-सगाई' मे चरण आदि के और अन्त के अक्षरो को मिलाया जाता है, जैसे —

मरद जिके संसार मे, लखजै जीव विसाल।
रात दिवस रघुनाथ रा, लेवै नाम रसाल॥

(इस ससार मे जो भी (समझदार) मनुष्य हैं, वे ससार के राशि-राशि जीवो को देख कर (यह समझ कर कि इन्हे प्रभु ने बनाया है) रात-दिन भगवान राम का नाम लेते रहते हैं।)

इन तीनो भेदो के सम्बन्ध मे निम्न दोहा पाया जाता है —

वरण मित्त जू धरण विव, कवियण तीन कहत।
आद अधिक, सममध अवर, न्यून अक सो अंत॥

(वर्ण-मैत्री कराते समय कवियो ने तीन 'प्रकार' कहे हैं। जब किसी चरण के आदि अक्षर का मेल अन्त के शब्द के आदि अक्षर से, मध्यम अक्षर से या अन्तिम अक्षर से हो तो उसे क्रमश: अधिक, सम और न्यून वर्ण-मैत्री (वयण-सगाई) कहेगे।)

डिंगल में काव्यदोष

डिंगल काव्य का अपना निजी छन्द विधान है उसी प्रकार अपना निजी काव्य-शास्त्र भी है। उसके काव्यालकार भी अपने ही ढग के हैं। 'वयण-सगाई' का प्रयोग

अन्य भाषाओ मे नही पाया जाता है। इसी प्रकार डिंगल कविता मे काव्यदोष भी बहुत कुछ अपने हैं। राजस्थानी काव्यशास्त्रियो ने कविता मे ग्यारह दोष माने हैं, हम यहा उन्ही पर विचार करेंगे।

काव्य के मुख्य अर्थ की प्रतीति मे बाधा पहुचाने वाले को काव्य-दोष कह कर पुकारा जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, डिंगल मे ग्यारह प्रकार के काव्यदोष माने जाते हैं यथा (१) अंध, (२) छबकाल, (३) हीन, (४) निनग, (५) पागलो, (६) जात विरोध, (७) अपस, (८) नालछेद, (९) पखतूट, (१०) बहरो और (११) अमगल।

हम आगे चल कर डिंगल के मान्य और प्रामाणिक रीतिग्रन्थ 'रघुनाथरूपक' के आधार पर इन काव्यदोषो की विवेचना करेंगे। यह ग्रन्थ जोधपुर के महाराजा मानसिंह जी के कृपापात्र कवि मछाराम का बनाया हुआ है और अपने ढग का एक ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे डिंगल भाषा की कविता की रीतियां, छद भेद, छन्द लक्षण, अलकार, गुणदोष आदि का समावेश कर लिया गया है। अस्तु—

(१) अंध दोष

जिस गीत अथवा कविता मे उक्ति का एक ही ढग से निर्वाह न हो उसे अंध दोष कहते हैं – यथा

दिलड़ा समझ रे सगलो जग दाखै,
पछै घणो पिछतासी।
पुरष जनम कद तू पामेला
गुण कद हरिरा गासी ॥१॥
मात पिता बधव दौलत-मद,
सुत त्रिय जोड सधाणो।
मायारा आडबर मांहैं,
बदा ! केम बंधाणो ॥२॥
समुझै क्यू न अजू समझाऊ,
भूल मती हिव भाया।
दौडे ऊमर चटका देती,
छित जिम बादल छाया ॥३॥
सोवै खाय करै नहैं सुकृत,
खोवै दीह खलीता।
प्रीत करै सिमरै सीतापत,
जिके जमारो जीता ॥४॥

हे मन ! समझ, सम्पूर्ण जगत कहता है, नही तो फिर बहुत पश्चाताप करेगा। मनुष्य-जन्म फिर कब तू पावैगा, और कब ईश्वर के गुणानुवाद गावैगा ॥१॥

माता-पिता, भाईवन्धु, धनमद, पुत्र और स्त्री से तूने अपना सम्बन्ध मिलाया है और हे ईश्वर के सेवक ! इस माया के आडम्बर मे क्या बँधा हुआ है ॥२॥

मैं अब भी तुझे समझाता हूँ, समझता क्यो नही है । हे भाई ! अब भी भूल मत कर। यह उम्र पृथ्वी पर वद्‌लो की छाया की तरह चुटकी देती हुई दौड़ रही है ॥३॥

यो तो सब ही खा करके सो जाते हैं, पुण्य नही करते हैं और दिन खाली ही (व्यर्थ ही) खोते है। किन्तु जो प्रेम से सीतापति (रामचन्द्र का) का स्मरण करता है उसने ही जीवन मे विजय प्राप्त की ॥४॥

इस गीत के प्रथम और द्वितीय द्वाले मे (दल मे) परामुख उक्ति है और तृतीय द्वाले मे सन्मुख उक्ति है और फिर चतुर्थ द्वाले मे परामुख उक्ति है। इसमे एक ही उक्ति का निर्वाह नही हुआ, अत. इसमे अंधदोप है।

(२) छवकाल दोप —

जहा कविता में डिंगल के अतिरिक्त अन्य भापाओ के शब्दो का प्रयोग होता है, वहा छवकाल दोप माना जाता है।

वन वैठो भला चढो गिर-वदरी, धरा भेप के धारो ।
चित नँह लग्यो रामरै चरणा, नँह जव लग निसतारो ॥१॥
प्रीति करै तीरथ रै ऊपर, मोज दिये मनमानो ।
तक्यो न मन हर पग जिहताई, पार न उतरै प्रानी ॥२॥
कर विधान करवत ले कासी, ले व्रजरेणू लेटै ।
पग्यो न दिल प्रभुरै पद पंकज, मिसत न यातिक भेटै ॥३॥
भैरव देव अदेव भलाई, निरखो फिर फिर नैना ।
मुगत तणी सातारो मालक, हरि विन दाता है ना ॥४॥

चाहे वन मे जाकर तप करो, चाहे वद्रीनाथ जी के पर्वतो पर चढ कर गल जावो, और चाहे कितने प्रकार के भेप धर कर पृथ्वी मे फिरो, किन्तु जव तक रामचन्द्र भगवान के चरणो में मन नही लगा, तव तक इस ससार से छुटकारा नही हो सकता ॥१॥

चाहे तीर्थो के ऊपर खूव प्रेम हो, और चाहे मन इच्छित आनन्द भोगने को मिले हो किन्तु जव तक ईश्वर के चरणो को मन लगा कर नही देखा तव तक प्राणी का उद्धार नही हो सकता ॥२॥

चाहे विधि अनुसार काशी मे करोत ले और चाहे व्रजभूमि मे लेटे, किन्तु जव तक मन ईश्वर के चरणारविंद मे अनुरक्त नही हुआ तव तक स्वर्ग नही मिल सकता ॥३॥

चाहे भैरव आदि देव और अदेवो को वार वार नेत्रो से देखो, किन्तु मुक्ति की प्राप्ति का मालिक ईश्वर के सिवा और कोई भी देने वाला नही है ॥४॥

इस गीत मे प्राणी, भेटै, लेटै, नैना, भिसत, त्यातिक और जबलग ये शब्द व्रज-भाषा और फारसी के हैं। अत इस प्रकार जो भाषा विरुद्ध शब्द जहा आते हैं वहां छबकाल दोष होता है। अर्थात् इस गीत मे डिंगल भाषा के शब्द आने चाहिये थे किन्तु अन्य भाषा के भी आये हैं। अत. यह दोष है।

(३) हीण दोष —

जहा अर्थ में अस्पष्टता हो, वहा हीण दोष होगा। यथा —

मनरा महराण समापण मोजा,
काषण दिनां तरणा कुरद।
दीजै किसो समो वड़ दूजो,
पेखे चक्रत रहे पुरंद ॥१॥
भिडै सचेत वडाला भारथ,
चवडै खेत करै चित चोज।
अतुली वल झाडे असरारो,
खागां भार गमाडे खोज ॥२॥
पात सुजस अखियात पयपै,
दातव असमर वात दुवै।
जग मे राम तुहालै जोडै,
हुवो न कोई फेर हुवै ॥३॥

मन के समुद्र, आनन्द देने वाले और दीनो की दरिद्रता नाश करने वाले के वरावर किसे रखें जिसे देख कर इन्द्र भी चकित होता है ॥१॥

जो सावधान हो करके वडे वडे युद्धोमे भिड़ गए हैं और उत्साहपूर्वक प्रगट मे युद्ध किये हैं, राक्षसो के जवरदस्त वल को नष्ट कर दिया है। और तलवारो की मार कर उनका निशान भी मिटा दिया है ॥२॥

कवि लोग दान और तलवार का वीरत्व, दोनो बातें और सुयश अक्षय कहते हैं। हे राम ! तुम्हारे बरावर ससार मे ऐसा कोई हुआ न फिर कभी होगा ॥३॥

इस गीत मे राम की प्रशसा है। राम शब्द से यह स्पष्ट नही होता है कि परशुराम है वा वलराम हैं वा रघुवशी रामचन्द्र है। और न इसमे उनके माता, पिता, जाति और प्रवाडो (आश्चर्यजनक कर्तव्यो) का ही वर्णन है। केवल राम की स्तुति है। यहा इस प्रकार का वर्णन होता है वहां हीण दोष होता है।

(४) निनग दोष —

जहां उचित क्रम से वर्णन नही किया गया हो और बेतरतीब अभिव्यक्ति हो, निनग दोष कहलाता है।

बसू मास कादम मचो प्रसत परवत वणे,
रुधिर मिल सरतपत हुओ रातो।

अजोध्यानाथ दसमाथ रावण अडग,
महा वे ओर भाराथ मातो ॥१॥
वरंगां राल वरमाल सूरा वरैं,
त्रिपत पंखाल दिल खुले ताला।
सवल् पड भार सिर तणावै अहेसुर,
महेसुर वणावै मुंड माला ॥२॥
कटारयां मरालग सेल खंजर करद,
अंग कट जरद पडिया अथाहा।
जोध सुर असुर वे सरोवर जूटिया,
वरोवर करैं सारीख वाहा ॥३॥
सीस दस झड़े धनुधारर सायकां,
हेर कप भाल अणपार हरपे।
वसू सारी सुजस पयपै सुवाणा,
विमाणों वैठ सुर सुमन वरपे ॥४॥

पृथ्वी पर मांस का कीचड़ हो गया और हड्डियोके पर्वत वन गए। रक्त मिलने से समुद्र लाल हो गया है। रामचन्द्र और दसमस्तकवाला रावण दोनों अडिग है। दोनो तरफ से भयानक लड़ाई हो रही है ॥१॥

अप्सरायें वरमाल डाल कर शूर वीरों को वरती है। अर्थात् अपना पति वनाती हैं। गिद्ध आदि पक्षियों के मन के ताले खुल गए हैं और वे तृप्त हो गए हैं अर्थात् वे पक्षीगण इच्छित मांस खाकर तृप्त हो गये हैं। शेप नाग वहुत भार पड़ने के कारण अपने मस्तक को तानते हैं और महादेव जी मुंडो की माला वनाते हैं ॥ २ ॥

कटारिया, वाण, सेल, खंजर और छुरी की लगने से अपार अग कट २ कर पीले लड़ गए हैं। सुर और असुरों के योद्धा दोनो वरावर भिड़ रहे हैं और आपस में लगातार एक से वार कर रहे हैं ॥३॥

(इतने में) धनुर्धारी रामचन्द्र के वाणो से रावण के दसों मस्तक कट कर गिर गए। यह देख कर वन्दर और रीछ वहुत ही प्रसन्न हुए। सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यो ने श्रेष्ठ वाणी से सुयश (जय जयकार) कहा और विमानो में वैठ कर देव-गणों ने पुष्प वर्षा की ॥४॥

इस गीत मे क्रम से वर्णन नहीं है। प्रथम दोनो सेनाओ का वर्णन चाहिए था फिर शस्त्र प्रहार का, फिर अप्सराओ का, फिर मांस आदि का, किन्तु ऊपर इस तरह वर्णन नहीं है अतः इसमें निनंग दोप है। यह हिन्दी का अक्रमत्व दोप है।

(५) जातविरोध दोप —

जहा किसी कविता के विभिन्न चरण अलग-अलग छन्द के हो, वहा जात-विरोध दोष होता है।

अवनी मे जिके भलाई आया,
करै सदा सुकरतरा काम।
दान सदा वितसारूं देवै,
नित रसणा लेवै हरिनाम ॥१॥
गिणजै सद ज्यारी जिन्दगाणी,
उभै विरद धरिया अखत।
प्रारम्भै दौलत पुन पाणा,
पुर्णै सुवाणा सीतपत ॥२॥
धन वे पुरष वडा पणधारी,
खलक सिरोमण सुजस खटै।
उमगे दान ऊथमैं अचा,
राम राम मुखहूत रटै ॥३॥
देह जिकण वाता अै दोई,
तिके सदाई तीखा।
वीजा जड जंगम वसुधारा,
सारा जीव सरीखा ॥४॥

वास्तव मे ससार मे वे ही आए हैं जो सदा पुण्य कार्य करते हैं यथाशक्ति दान देते हैं और नित्य भगवानका भजन करते हैं ॥१॥ उन्हीका जीवन ससार मे सच्चा है जो इन दोनो यशो को पूर्णतया धारण करते हैं—हाथ से पुण्य कार्यो मे धन देवै और सीतापति रामचन्द्र का भजन करै॥२॥ वे महान प्रतिज्ञा धारी पुरुष धन्य हैं जो ससार मे सर्वश्रेष्ठ यश को प्राप्त करते हैं। जो सानन्द अजलि भर कर खूब दान देते है और मुख से राम नाम लेते हैं ॥३॥ देह वही है जिसमे ये दोनो बातें हैं और वे ही ससार में तीक्ष्ण है। वरना ससार के चराचर सब जीव समान है ॥४॥

इस गीत मे प्रथम द्वाला वेलिया गीत का, द्वितीय द्वाला खुडद सँणोर का, तृतीय सोहण गीत का और चतुर्थ जागडे गीत का है। अत: जिस जाति का गीत हो उसमे उसी जाति के गीत का द्वाला आना चाहिए। यदि अन्य का लाना है तो वेलिया सहणोर और खुडद सणोर का लाना चाहिए। अत. इस गीत मे जागडे गीत का द्वाला आने के कारण जाति विरुद्ध दोष है।

(६) पागलो दोष —

जहां गीत मे नियम के विरुद्ध कम या अधिक मात्राये होती है, वहा पागला (पंगु) दोष होता है।

हालै जिण अगर घूमता हसती,
ताता गयण झूमता तुरग।
पैदल प्रबल रथा हृदपंगी,
चतुरंगी अत फौज सुचंग ॥१॥

सिंघासण चढणो नर आमण,
सासण सह मानै संसार ।
ख़तम खुसी अनखूट अजाना,
निरमल चंद मुखी ग्रह नार ॥२॥
सुजस आठ दिसा सरसावै,
आठ दिसा खावै अरिताप ।
परतव ही दीसरै प्राणी,
पिरभू भजण तणों परताप ॥३॥

जिसके आगे घूमते हुये हाथी आकाश मे उडने वाले तेज घोडे बलवान पैदल फौज, अत्यन्त शोभा वाले रथ और बहुत बलवान चतुरंगिनी फौजें-चलती हैं ॥१॥ जिसके पालकी चढने को है, सब संसार जिसका शासन मानता है, जिसको अत्यन्त आनद प्राप्त है, जिसके पास अटूट खजाना और चन्द्रमुखी गृहदेवी है ॥२॥ जिसका आठो दिशाओ मे सुयश छाया हुआ है और आठो दिशाओ मे शत्रुगण जिसकी धाक मानते हैं । हे प्राणी उसको ये बातें ईश्वर भजन के प्रताप से प्राप्त हुई हैं, यह प्रत्यक्ष ही दिखलाई पडती है ॥३॥

इस गीत के प्रथम द्वालै (छन्द) के द्वितीय पद मे १६ मात्राएं हैं किन्तु १५ मात्राएं चाहिए थी और तीसरे द्वालै के प्रथम पद मे १५ मात्राएं हैं किन्तु १६ होनी चाहिए थी । इस तरह जहा नियम विरुद्ध अधिक न्यून मात्राएं होती हैं वहां पागला दोष होता है ।

(७) अपस दोष –

जहा कविता में क्लिष्ठता हो, और इस कारण से अर्थबोध मे बाधा पड़ती हो वहा अपस दोष होता है । इस बात से तो इन्कार नही किया जा सकता कि सूर के दृष्टिकूट और कबीर की उलटबासिया प्रसादगुण विहीन हैं । अत. उन पर भी यह दोष लागू किया जा सकता है, यदि हम डिंगल काव्यशास्त्र के आधार पर उन्हें आकें । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जहा किसी बात का सीधा वर्णन न करके कूट अथवा पहेली की भाति किया गया हो वहा अपस दोष होता है – यथा —

नदिया पति तासु सुता रो नायक,
जिण नूं काठो झालै ।
जलसुत मीत तासु-सुत जिणनूं,
घात कदै नंह घालै ॥१॥

नदियो का स्वामी समुद्र, उसकी कन्या (लक्ष्मी) का पति विष्णु, उन्हें दृढ़ता से जो भजता है, उसे जल के पुत्र (कमल) के मित्र (सूर्य) का बेटा (यम) कभी कष्ट नही देता ।

उक्त गीत में नदियो के स्वामी (समुद्र) की पुत्री लक्ष्मी का पति विष्णु । आदि का उल्लेख दृष्टिकूट पद के अनुसार है । यदि सरल रीति से ही विष्णु कह दिया जाता तो अर्थ सुगम हो जाता अतः यहा अपस दोष है ।

(८) नालच्छेद दोष

काव्य परिपाटी के विरुद्ध मनमाने ढग से वर्णन करने पर यह दोष होता है। यथा —

कच आदि मुख ससि लक स्यघ कुचकोक नालछिद।
(रघुवर जस प्रकाश से)

यहा पहले केशो व बाद मे मुख का वर्णन किया गया है जो काव्य परम्परा के विरुद्ध है। अत: यहा नालच्छेद दोष है।

(९) पखतूट दोष —

जहा कविता मे कच्ची जोड़ अर्थात् अनुप्रास रहित पद और पक्की जोड़ (सानुप्रास पद) हो वहा पखतूट दोष है।

उड़ै पग हाथ किरका हुवे अंग रा,
बहै रत जेम रावण वहाला।
आप आपो वरी जोयनै आडिया,
लड़ै रिण भलभला निराताला ॥२॥
तहक नीसाण गिरवाण हरखाण तन,
चिन्ता सरसाण र भगाण चालै।
निडर रिषराण गणपाण बीणा नचै,
भाण रथताण घमसाण भालै ॥३॥
हणे कुंभेणसा जोधहर श्रीहथा,
करै कुंण तेण परमाण काया।
जगत सारो अजूं साखदे जिकणरी,
खोपरी गुलेंचा भीम खाया ॥४॥

पग और हाथ उड रहे हैं और शरीर के टुकडे-टुकडे हो रहे हैं, और श्रावण मे जैसे मार्ग मे पानी के नाले बहते हैं उसी तरह रक्त बह रहा है। अपने-अपने बराबर की जोडी देख कर अत्यन्त निशक होकर युद्ध मे वीरगण लड रहे हैं ॥२॥ निसाण वज रहे हैं। देवगणो के अग हर्षित हो रहे हैं, चित मे प्रफुल्लित होती हुई अप्सरायें गा रही हैं, नारद ऋषि हाथ मे वीणा लेकर निशंक नाच रहे हैं और सूर्य निज रथ को रोक कर युद्ध देख रहे हैं ॥३॥ रामचन्द्र के हाथो से कुम्भकर्ण जैसा योद्धा मारा गया, उसके शरीर का वर्णन कौन कर सकता है। आज भी सम्पूर्ण ससार इसकी साक्षी देता है कि उसकी खोपडी मे भीम ने कितनी ही गुलाचे (डुबकियें) खाई है ॥४॥

इस गीत के प्रथम दो द्वाल मे कच्ची जोड है अर्थात् अनुप्रास रहित पदो का समावेश है। आगे पक्की जोड याने अनुप्रास सहित पद है। इस प्रकार जहा अनुप्रास रहित और सहित दोनो पदो का समावेश हो वहा पखतूट दोष होता है।

(१०) वहरो दोष —

जहां शव्द योजना ऐसी हो कि दुतरफा अर्थ निकले और भ्रम पैदा हो, वहा वहरो दोष होता है। यथा —

छके जोम सू जाय जमराण सा छेडिया,
लड़े अरि रेडिया खेध लागा।
भिडे भाराथ अणपार दल भाजिया,
वीर भागो नही सारवागा ॥१॥
दुझल जिण मुजांवलहूत आठू दिसा,
लंघ सामद कीधी लड़ाई।
जीत लीधी जमी कठैथी जेणरी,
पराजै हुई नह फतै पाई ॥२॥
प्रवल सुर असुर जिण लगाया पागडै,
जिको खल चापड़ै खेत जारा।
पाडियो राम दसकंठ पीठाण मे,
सवद जै जै हुवा लोक सारा ॥३॥

यमराज को छेड़ने की तरह गर्व से मतवाले शत्रुओं से जाकर भिड़ गया और उन्हे घेर कर उनकी सेना को मार गिराया। तरवार वजने पर भी वह वीर युद्ध से नही भागा ॥१॥ जिसकी भुजाओं के वल से आठो दिशायें कष्ट सहती थी ऐसे वीर से उस वीर ने समुद्र को उलाघ करके (पार करके) युद्ध किया और जहा कही भी शत्रु की जमीन थी सव जीत ली। उसकी पराजय (हार) नही हुई। उसने विजय प्राप्त ही ॥२॥ जिसने वलवान देवताओ और राक्षसोको अपने चरणो पर लगाया था और जो दुष्ट उस जवरदस्त युद्ध मे सन्मुख प्रगट हुआ था, रामचद्र ने उस रावण को युद्ध मे दवाया और पटक दिया। इससे सम्पूर्ण लोक में जय जय कार शव्द हुआ ॥३॥

इस गीत मे 'वीर भागो नही सारवागा' और 'पराजै हुई नह फतै पाई' दोनो पदो मे नही और नह शव्द दोनो ओर लगते हैं। इनके दूसरी तरफ लगने से अर्थ नितात उलटा हो जाता है। अत. इस तरह से शव्द योजना नही करनी चाहिए। इस गीत मे इस तरह दोनों ओर लगते हुए शव्द आने के कारण वहरा दोष है।

(११) अमंगल दोष —

जहा किसी छन्द को किसी चरण के पहले और अन्तिम अक्षर के मिलने से कोई अमगल सूचक शव्द वनता हो तो अमंगल दोष कहलाता है—यथा —

'महपन मे पय राम रे'

(रघुवर जसप्रकास से)

प्रस्तुत चरण के प्रथम अक्षर 'म' और अन्तिम अक्षर 'रै' से अमगल सूचक शव्द 'मरै' वनता है अतः यहा अमगल दोष है।

रघुनाथ रूपककार के अनुसार ये दोष गीतो की 'वयण-सगाई' को नष्ट कर देते हैं। इन्ही दोषो के कारण सगाई भी छूट जाती है क्योकि अधा सफेद दाग वाला, नपुसक, पागल, पंगु, जाति विरुद्ध अर्थात् वर्ण संकर, मिर्गीका रोगी, नाल-भ्रष्ट, पक्षाघात का रोगी और बहरा जो मनुष्य होता है, उसे कोई भी अपनी पुत्री नही दे सकता है। अस्तु —

इन काव्यदोषो पर विचार करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि डिंगल कविता अनघड भाषा की रचना नही है किन्तु शब्द और अर्थ के प्रयोगो पर इस कविता मे अनेक नियम बने हुए हैं और वह सुसस्कृत, शास्त्रीय पद्धति पर रची गई है। उसमे सूक्ष्म भेदो पर भी बारीकी से विचार किया गया है और इस दृष्टि से भी वह किसी भी प्रतिष्ठित भाषा से कम नही है।

राजस्थानी गद्य

राजस्थानी साहित्य की विशेषरूप से उल्लेखनीय विशेषता उसका प्रचुर गद्य साहित्य है। और साथ ही आश्चर्य की बात तो यह है कि उपलब्ध गद्य वस्तुविन्यास और शिल्प की दृष्टि से बहुत वैविध्य रखता है।[1] राजस्थानी गद्य का वस्तुतत्व और शिल्पतत्व के आधार पर मोटे तौर पर इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है। (१) ऐतिहासिक गद्य (२) जैन लेखको का गद्य (३) टीकाओ तथा अनुवादो का गद्य (४) कथाए। यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए हैं, और तथ्यो के अभाव मे इसे किसी प्रकार पूर्ण नही माना जा सकता। यहा प्रत्येक प्रकार के गद्य-भण्डार का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

राजस्थानी गद्य का एक बहुत बडा भाग ऐतिहासिक साहित्य है। ऐतिहासिक गद्य साहित्य के अन्तर्गत (अ) ख्यात (ब) इतिहास (स) प्रसग (द) दवावैत (इ) वचनिका (फ) प्रबन्ध काव्यो मे आए विविध गद्याश—यथा भट्टाउलि आदि (ग) पट्टो, शिला-लेखो, पत्रो, तथा विविध दस्तावेजो का गद्य (ह) वशावली, पीढियावली, दफ्तर, वही, विगत, हकीगत आदि ग्रहित किए जा सकते है। अर्ध-ऐतिहासिक मे आख्यान तथा बात की गणना की जा सकती है। बात मे किसी ऐतिहासिक घटना अथवा किसी व्यक्ति या स्थान का इतिहास सक्षेप मे होता है। उसमे कल्पना और अनुश्रुति का विचित्र मेल होता है। आख्यानो में इतिहास के साथ लोककल्पना और अलौकिक चमत्कार पूर्ण घटनाओ का मिश्रण रहता है। ये निजधरी कथाओ के रूप माने जा सकते हैं। कुछ लोग इन्हें दास्तान सज्ञा से भी सम्बोधित करते है। 'बात' सज्ञा का प्रयोग कहानियों के अर्थ मे सामान्यतया किया है इस पर आगे विचार करेंगे। ख्यात मे या सलग इतिहास होता है अथवा बातो का सग्रह होता है।[2] तथ्य परक रचनाओ को 'इतिहास' कहा जा सकता है, और उसी प्रकार से किसी एक घटना-वर्णन का

१—गोवर्द्धन शर्मा राजस्थानी कवि-खड २-भूमिका पृ० १९

२—नरोत्तम स्वामी . बांकीदासरी ख्यात-भूमिका पृ० २

'प्रसंग'। 'दवावैत' और 'वचनिका' गद्य के प्रकार हैं--शिल्प की दृष्टि से दोनों प्रकार अपनी विशेषता रखते हैं। प्रवन्ध काव्यो मे भी स्थान-स्थान पर 'वारता' 'वचनिका' 'भटाउलि' के रूप मे गद्य मिलता है। वशावली और पीढियावली मे राजाओ की पीढियो का वर्णन होता है। और वीच-वीच मे आवश्यक ऐतिहासिक टिप्पण भी रहते हैं।

डा० टेस्सिटेरी ने 'इतिहास', 'प्रसग', 'वात', 'दास्तान' आदि की परिभाषा एक प्राचीन हस्तलेख के आधार पर दी है[1] —

जिण खिसा मे दराजी रहे सो खिसो 'इतिहास' कहावै ॥१॥
जिण खिसा मैं कम दराजी सो खिसो 'वात' कहावै ॥२॥
इतिहास रो अवयव 'प्रसंग' कहावै ॥३॥
जिण वात मे एक प्रसग हीज चमत्कारीक होय तिका वात 'दासतान' कहावै ॥४॥

इसी प्रकार मे 'दवावैत' और 'वचनिका' सज्ञक रचनायें सतुकान्त गद्य ही हैं। इनमे कई स्थानो पर शुद्ध पद्य भी उपलब्ध होता है, जिससे ऐसी रचनायें 'चम्पूकाव्य' वन जाती हैं। दवावैत मे पद्य के अनुकरण पर अन्त्यानुप्रास, मध्यानुप्रास व यमक आदि की 'वयण-सगाई' भी मिलती है। यह गद्य शैली की प्रौढता का प्रतीक है।[2] दवावैत दो प्रकार की मानी गई है--(१) सुद्धवध अर्थात् पदवध जिसमे अनुप्रास मिलाया जाता है (२) गद्यवध जिसमे अनुप्रास का वन्धन नही होता।[3] दवावैतो में मालीदासकृत 'नरसिंहदास री दवावैत' अधिक प्रसिद्ध है। अनेक जैन लेखकों ने भी दवावैत लिखे हैं।

पदवन्ध का उदाहरण :

"प्रथम ही अयोध्या नगर जिसका वणाव,
वारै जोजन तो चौडे, सोलै जोजन की घाव,
चोतरफ के फैलवा चोसठ जोजन के फिराव,
तिसके तलै सरिता सरिजू के घाट,
अत उतावलसू वहे, चोसर कोसो के पाट।"

गद्यवन्ध का उदाहरण :

हाथियो के हलके खंभू गणाते खोले, अरापत के साथी भद्रजाती के टोले। अत देह के दिग्गज विन्ध्याचल के सुजाव, रंग-रग चित्रे सुंडा डडके वणाव। झूलकी जलूस वीर घटू के ठणके, वादलो की जगमपा मरे मरे मोरों की भकी भंणकै। कल कदमू के लगर मारी कनक की हूंस, जवाहर के जेहर दीपमाला की रूस।

१--रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-पृ० १७०
२--डा० अचल : जनमन-वर्ष १-अक ३-४ पृ० ९२
३--मंछाराम : रघुनाथरूपक गीतारो-पृ० २३६

वचनिका के भी इस प्रकार से दो भेद है—(१) पद्यबन्ध, जिसमे मात्राओ का नियम होता है। इसके भी दो उपभेद है--(अ) जिसमे आठ-आठ मात्राओ के तुकयुक्त गद्यखण्ड हो, और (व) जिसमे बीस-बीस मात्राओ के तुकयुक्त गद्यखण्ड हो। (२) गद्यबद्ध–इसके भी दो भेद है--(स) वारता या साधारण गद्य।[1] (द) तुक-युक्त गद्य।[2]

दवावैत की तुलना मे वचनिका कुछ लम्बी और विस्तृत होती है और गद्य-वन्ध मे तो मानों कई छदो के जोटे अर्थात् युग्म वचनिका रूप मे जुडते चले जाते हैं।[3] उपलब्ध दवावैतो की भाषा राजस्थानी से प्रभावित खडी बोली हिन्दी है, जबकि वचनिकाओं की राजस्थानी[4] उदाहरण देखिये[5] —

वचनिका :

हांजी ऐसा माहाराजा रामचद्र असरण-सरण।
अनाथ नाथ विरदकू धारै।
सो ग्राहकू मार न्याय ही गजराजकूं तारै।
और भी नरसिंघ होय प्रवाडा जगजाहर किया।
हरणकुसकू मार प्रहलादकुं उवार लिया।
प्रलै का दिन जाण सत देस उवाराणकू मच्छ देह धारी।
सतव्रत की भगती जगजाहर करी।
ऐसा स्त्रीं रामचद्र करणानिध।
असरण-सरण न्याय ही वाजै।
जिसके ताई जेता विरद दीजै जेता ही छाजै ॥१९४

वारता :

रामचंद्र जिसा सिंघ रजपूत कोई वेलापुल होवै छै।
ज्याके प्रताप देव नरनाग खटव्रन सुख नीद सोवै छै।
राजनीत का निधांन सीह बकरी एक घाटै नीर पावै छै
पंछी की पर वागा वाज दहसत खावै छै।
तपके प्रभाव पाणी पर सिला तरै छै।
मुगपत सा त्रबंक ज्याका बल काढ सणकसुधा करै छै।

१—कही कही तुकान्त गद्य के लिए भी वात, वार्ता या वार्तिक नाम का प्रयोग देखा जाता है।

२—नरोत्तम स्वामी · राजस्थानी साहित्य सग्रह-ख० १, पृ० ५ प्रारम्भिक-नाहटाजी

३—मछाराम : रघुनाथ रूपक गीतारो–पृ० २४२

४—नरोत्तम स्वामी . राजस्थान साहित्य सग्रह भाग १, नाहटाजी का प्रथम लेख–पृ० ५

५—सीताराम लालस : रघुवर जसप्रकास-पृ० ८६-८७

वाल दहकंधसा अरोड़ानू रोढ जमींदोज कीजै छै।
सुग्रीव भभीखण जिसा निरपखानू केकवा लंक दीजै छै।
जांका भाग धन्य जे रामगुण गावै छै।
जामण मरण भय मेट अमैपद पावै छै। १९५

वचनिकाओ मे दो वहुत प्रसिद्ध हैं। एक शिवदास कृत अचलदास खीची री वचनिका जिसमे गागरोन गढके खीची (चौहान) वशीय राजा अचलदास के वीरता-पूर्ण युद्ध और अन्त का वर्णन है। यह पन्द्रहवी शती उत्तरार्ध की रचना है। खिडिया जगा रचित राठौड़ महेसदासौत री वचनिका' दूसरी प्रख्यात रचना है।

ख्यातकारो मे मुता नैणसी, वाकीदास और दयालदास सवसे अधिक महत्व रखते हैं। नैणीसी तो 'राजस्थान का अवुलफजल' कहा गया है जिसका वह अधिकारी है। उसकी ख्यात में समूचे राजस्थान का इतिहास आ गया है। वाकीदास की ख्यात मे २५०० से ऊपर वातो का संग्रह है। दयालदास की ख्यात मे वीकानेर के राठोड नरेशो का सलग इतिहास दिया गया हैं। प्रौढ और शक्तिशाली गद्य के नमूने के रूप में हम इन सभी रचनाओ को ले सकते हैं।

जैन लेखको के गद्य का अलग विभाग रखने का अर्थ यह नही कि उन्होने ऊपर वताए गए प्रकार के ग्रन्थ नही लिखे। वस्तुत. ऐतिहासिक गद्य के क्षेत्र मे भी जैन लेखकों का योगदान महत्व का रहा है उन्होंने वचनिका तथा दवावैत भी लिखे हैं। जिन-सुख-सूरि-दवावैत, निनाभ-सूरि दवावैत आदि ऐसी ही रचनायें हैं। अस्तु हम जैन लेखको के गद्य के अन्तर्गत ऐसी रचनाओं के अतिरिक्त उस समस्त साहित्य को लेंगे जो धार्मिक अथवा लौकिक आधार पर रचा गया है। ऐसे साहित्य मे (१) जैन सूत्र साहित्य के वालाववोध, टव्वा, चूर्णिका आदि का गद्य (२) जैन कथाओं का गद्य (३) व्याकरण तथा औक्तिको का गद्य आदि माने जायेंगे।

राजस्थानी का प्राचीनतम गद्य का उदाहरण (१३३० स०) जैन लेखक रचित ही है। यह उदाहरण हमे गुजरात के आशापल्ली नगर मे आश्विन सुदी ५, गुरुवार सं० १३३० में ताड़पत्र पर लिखी 'आराधना' नामक रचना मे मिलता है।[1] संस्कृत के वालोपयोगी व्याकरणो में कुछ लेखको ने उदाहरण वोलचाल की अथवा साहित्य की देश्यभाषा में दिये है। संग्रामसिह की 'वालशिक्षा' (१३३६) और कुल-मंडनका 'मुग्धाववोव औक्तिक' (१४५०) ऐसी ही उपयोगी रचनायें हैं। इनसे तत्कालीन भाषा पर अच्छा प्रकाश पडता है। जैन साधुओ ने अपने धर्म के गहन विचार जन साधारण तक पहुंचाने के लिए कथाओ का आश्रय लिया। ये कथायें वहुधा धार्मिक ग्रथ की व्याख्याओ के साथ उदाहरण रूप ग्रथित की गई हैं। ऐसी रचनायें 'वालाववोव' कहलाई। वालाववोध-कारों मे तरुणप्रभसूरि, सोमसुन्दर सूरि, मेरुसुन्दर और पार्श्वचन्द्र के नाम महत्व के है। धर्म कथाओ में माणिक्यचन्द्र सूरि

१—मुनि जिनविजय : प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ-पृ० २१९

रचित 'पृथ्वीचन्द्र चरित' अथवा 'वाग्विलास' कला और भाषा कौशल की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है ।

टीकाओ तथा अनुवाद ग्रथो के रूप मे भी हमे राजस्थानी गद्य का नमूना देखने को मिलता हैं (२) विविध महाकाव्यो और काव्यग्रन्थो की टीकाओ के साथ ही (३) धार्मिक ग्रन्थो के यथा रामायण, भागवत, गीत गोविन्द आदि के अनुवाद भी प्राप्य हैं । इसी प्रकार (४) लौकिक और मनोरजक ग्रन्थो जैसे पंचतन्त्र, सिंहासन वत्तीसी, शुक वहोत्तरी, कथा सरित्सागर के अनुवाद भी हुए हैं और (५) वैद्यक वास्तु, शिल्प, ज्योतिष आदि के शास्त्रीय ग्रन्थो के भी अनुवाद समय-समय पर किए गए है । अनुवाद साहित्य का परिमाण भी काफी है ।

परिमाण और लोकप्रियता मे सिरमौर राजस्थानी गद्य का, स्वरूप 'कथा' का है । इन कथाओ को 'वात' कह कर पुकारा जाता है और समूचे राजस्थान भर मे, ये रचनायें वहुत वडी सख्या मे उपलव्ध है । कथानक की दृष्टि से इन्हे ऐतिहासिक आख्यानात्मक, गद्यात्मक और मिश्रित-तीनो रूपो मे मिलती है । श्री० नरोत्तमदास-जी स्वामी के शब्दो मे 'इन कहानियो के सैकडो सग्रह मिलते हैं, जिनमे हजारो कहानियां हैं—धर्म की और नीति की, वीरता की और प्रेम की, हास्य की और करुणा की, राजाओ की और प्रजा की, देवताओ की और भूतप्रेतो की, चोरो की और डाकुओ की, आदर्शवादी और यथार्थवादी, लोक कथाए और कला कृतिया-साराश यह कि सभी प्रकार की ।'

कलात्मक गद्य का कृतियो मे 'खीची गगेव नीवावत को दोपहरो' प्रसिद्ध है । अन्य कृतियो मे 'राजान-रावत रो वात-वणाव' 'सभा शृ गार' आदि मुख्य है । वात साहित्य तो स्वय स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है ।[1]

राजस्थानी गद्य की इस परम्परा का सूत्र अपभ्रश से उपलव्ध है और वह अपभ्रंश का सब दृष्टि से उत्तराधिकारी है, इसे हम आगे चल कर देखेंगे ।



१—गोवर्द्धन शर्मा . प्राचीन राजस्थानी गीत भाग ९, भूमिका-पृ० २४

५

प्राकृत व अपभ्रंश का डिंगल साहित्य पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि अपभ्रंश-काव्यो की रचना डिंगल के प्रारम्भ-काल तक होती रही है, अथवा दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की काव्यधाराएं ही परवर्तीकाल मे आकर डिंगल के रूप मे विकसित हो गई है। राजस्थानी के प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य मे जो साहित्यिक रूप और शैलिया मिलती हैं, उनका आरम्भ हमे अपभ्रंश परम्परा मे मिल जाता है।

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यरूप संक्षेप मे इस प्रकार रहे हैं —

प्राकृत

(१) प्रबन्धकाव्य —

साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबधादि
जैनो के धार्मिक काव्य—महावीरचरित
गद्य-पद्य मिश्रित कथा-कृतिया—वसुदेवहिण्डी

(२) मुक्तक काव्य —

गाथा सप्तशती आदि मुक्तक
अन्य कृतियो मे उद्धृत छन्द
रूपको मे प्रयुक्त पद्य और सट्टक रचनाएं

अपभ्रंश

(१) प्रबन्ध काव्य

विशाल चरितकाव्य—महापुराणादि
कल्पना प्रधान-सदेशरासक
ऐतिहासिक - कीर्तिलता
व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएं—श्रुतपंचमी कहा

(२) मुक्तक काव्य

दोहाबद्ध उपदेशप्रधान धारा—सावयधम्म दोहा
दोहाबद्ध शृंगार प्रधान धारा
पद शैली के गीति-स्तवन, चर्चरी आदि

(३) गद्य

अपभ्रंश के विविध काव्यरूपो का सम्बन्ध सीधा जनता से था। इसी प्रकार प्राकृत साहित्य का विकास लोकजीवन की भित्ति पर हुआ था।[1] समयानुसार जब प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओ ने देशी आधुनिक भाषाओ के लिए जगह छोड़ दी, तब यही जनजीवन राजस्थानी तथा अन्यदेश्य भाषाओं मे मुखर हो उठा। ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश भाषा और साहित्य राजस्थानी भाषा और साहित्य के साक्षात पूर्वज हैं अतः डिंगल को जो राजस्थानी भाषा की प्रमुख और प्रतिनिधि भाषा है, यह रिक्थ मिलना आवश्यक है। वह रिक्थ उसे मिला भी है। प्राचीन राजस्थानी लम्बे समय तक जनसमाज की आदरणीय भाषा रही। इसमे काफी साहित्य रचा गया। इस साहित्य की जो भी कुछ सामग्री प्राप्य है, वह अत्यन्त उज्ज्वल है। भाषातत्व की दृष्टि से उसमे अपभ्रंश का प्राधान्य है, परन्तु राजस्थानी भाषा मे तो सदैव से अपभ्रंश की प्रधानता उसकी एक प्रमुख विशेषता है। डिंगल का आधुनिक कवि भी प्राचीन परिपाटी पर यथाशक्य चलते रहता आवश्यक समझता है। डिंगल मे प्राचीन राजस्थानी की झलक दिखाई देती है और प्राचीन राजस्थानी मे डिंगल की। दोनो का अविच्छेद्य सम्बन्ध आज तक बना हुआ है।[2] इसी लोकभाषा से लगभग सोलहवी शताब्दी मे व्रजभाषा और गुजराती ने जन्म ग्रहण किया, परन्तु उनमे अपभ्रंश की झलक कायम न रही और ये दोनो छोटी लडकिया अपनी मा से बिछुड गई। अपभ्रंश की जेठी बेटी राजस्थानी ने कभी अपनी मा का एकदम साथ न छोडा और अब भी वह आन्तरिक प्रेम को निभाये चलती है।[3] इस दृष्टि से डिंगल का अपभ्रंश से घनिष्ट सम्बन्ध है। यही कारण है कि डिंगल के अधिकाश काव्यरूपो की परम्परा अपभ्रंश से जोडी जा सकती है। भावधारा के लिए बहुत से लोगो ने संस्कृत की ओर देखा, पर बाह्य रूपो के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके।[4] जहा तक डिंगल कवियो का प्रश्न है, उनकी रचनाओ की प्राणधारा अपभ्रंश स्रोत से ही प्रवाहित हुई है।[5]

हमने अपने तीसरे अध्याय मे देखा ही है कि राजस्थानी या डिंगल मे निम्न काव्य रूप उपलब्ध है —

(१) प्रबन्धात्मक

चरितकाव्य-राजरूपक, सूरजविलास, पृथ्वीराजरासो, रणमल्ल छन्द आदि।
धार्मिक ग्रन्थ–हरिरस, नागदमण, भाषा भारथ, वलिक्रिसन रुकमणीरी।

१—भोलाशकर व्यास : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग-१-पृ० ३१०
२—मनोहर शर्मा : शोधपत्रिका-वर्ष ३, अक १, पृ० २२
३—वही–पृ० २३
४—रामसिंह तोमर : आलोचना अंक ८, पृ० ६२
५—शकुन्तला दुबे : काव्यरूपो के मूलस्रोत और उनका विकास पृ०-६०-६१

प्रेम-कथाएं-ढोलामारूरा दूहा, माधवानल-कामकदला चुपई।

गद्यपद्यमिश्रित रचनाएं-रूपग गोगादेजीरो, वचनिकाएं आदि।

(२) मुक्तक

एक विषय को लेकर लिखे पद, दोहे आदि--हाला झालारी कुण्डलिया, वीर-सतसई, कायरबावनी, मावडिया मिजाज आदि।

नीति, उपदेश, सुभाषित आदि--राजियेरा सोरठा, नीति मंजरी आदि डिंगल गीत।

(३) गद्य

वातें--निजंधरी और काल्पनिक।

वातें--अर्द्ध ऐतिहासिक।

ख्यातें--ऐतिहासिक।

टीकाएं, दवावैत, वार्ताएं और विवरणात्मक गद्य आदि।

राजस्थानी ख्यालो की परम्परा जन-नाट्य की परम्परा होने से डिंगल के शास्त्रीय रूप से मेल नही खाती अत: उसे छोड दिया गया है।

हम पिछले अध्याय मे देख ही चुके हैं कि रासोसंज्ञक रचनाओ की दो परम्पराएं हैं। पहली तो नाट्य गेय परम्परा और दूसरी परवर्ती छन्द-वैविध्य परम्परा जो चरित अथवा आख्यानक काव्य हैं। हम क्रमश: दोनो परम्पराओ का अध्ययन करेंगे।

प्राकृत मे लोकजीवन ने जिस प्रकार की अभिव्यक्ति पाई[1] वही अपभ्रंश के द्वारा राजस्थानी को मिली है। अपभ्रंश मे रासक रूप मे उपलब्ध सदेश रासक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत रचना पहली परम्परा की है। इसमे अन्य रास काव्यों की तरह किसी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है बल्कि यह प्रेमकाव्य है। राजस्थानी का वीसलदे रासो इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। लगभग सवासौ छन्दों के इस छोटे से प्रेमकाव्य मे वीसलदेव के परदेश जाने और उनकी रानी राजमती के वियोग तथा संदेशा भेजने और फिर वीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तको मे कही गई है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाय तो भी इस प्रेमकाव्य के मुक्तको की एक सूत्रता मे अन्तर नही आ सकता क्योंकि सभी छन्दो के बीच कथा की अपेक्षा भाव का सूत्र है। 'संदेश रासक' की भांति 'वीसल देव रास' भी मुख्यत: विरह काव्य है, अन्तर इतना ही है कि 'वीसल देव रास' के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं, साथ ही वीसलदेव के परदेश जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक-सा हैं अन्तर केवल व्यौरे का है। जैसे 'संदेश-रास' मे जहा षड् ऋतु-वर्णन है वहा 'वीसलदेव रास' में बारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि 'बारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना मे 'बारहमासा' मिलता है, वह विनयचन्द्र सूरिकृत 'नेमिनाथ चउपई'

१--जनकारी के लिए देखिये--प्रथम अध्याय--प्राकृत मुक्तको का अध्ययन।

तेरहवी शताब्दी ईस्वी से पहले की रचना नही है, यदि होगी तो उसके बाद की होगी। इसके अतिरिक्त 'सदेश रास' का षड् ऋतु वर्णन जहा ग्रीष्म ऋतु से शुरू होता है, वहा 'बीसलदेव रास' का 'बारहमासा' कार्तिक मास से आरम्भ होता है। कारण स्पष्ट है चौमासे मे कोई प्रवास नही करता। प्राय लोग पावस के चार महीने बिता कर ही कही बाहर निकलते हैं। बीसलदेव ने भी ऐसा ही किया। इसलिए उसकी रानी राजमती की विरह वेदना का क्वार के बाद कार्तिक से शुरू होना स्वाभाविक है।

इसी तरह 'सदेश रास' मे सदेश लेकर पथिक ज्यो ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड जाता है और काव्य वही समाप्त हो जाता है, जबकि 'बीसलदेव रास' मे पथिक सचमुच बीसलदेव के पास पहुच जाता है, और रानी की चिट्ठी पाकर वह उडीसा से अपनी राजधानी अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले रानी के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना भेजता है। 'बीसलदेव रास' की समाप्ति राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वर्णन के बाद होती है।

इसी तरह ब्यौरे की और भी कई बातें हैं जिनमे 'बीसलदेव रास' 'सदेश रास' से भिन्न है। फिर भी दोनो मूलत: विरह काव्य है और दोनो की मुख्य भावधारा एक है। इसका मतलब यह नही है कि 'बीसलदेव रास' 'सदेश रास' से प्रत्यक्षत प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य मे ऐसे प्रभाव और प्रेरणाएं परोक्ष हुआ करती हैं। इनका आधार तो लोक जीवन मे ही हुआ करता है।[1]

दोनो काव्यो का अन्त भी एक सा है --

जेम अचिंतिउ कज्जु तस सिद्धु खणद्धि महतु।
तेम पठत सुणंतयह जयउ अणाइ अणतु ॥२२३॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार उसके कार्य की अचिंतित महती सिद्धि हुई उसी प्रकार पढने सुनने वालों के भी कार्य सिद्ध हो। अनादि अनन्त की जय हो।

इसी प्रकार नरपति भी अब्दुलरहमान की तरह ही बीसलदेव रासो को पढ़ने वालो व सुनने वालों की मनोकामना पूरी होने की कामना करता है --

मनका मनोरथ पूरुया।
मणइ सूणइ तिणी पुरज्यो आस ॥ ४२ ॥[3]

नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो के विषय मे डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं--'बीसलदेव रासो' का व्याकरण अपभ्रश के नियमो का पालन कर रहा है। कारक क्रियाओ और सज्ञाओ के रूप अपभ्र श भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से

१--नामवरसिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग-पृ० २७५-७६
२--द्विवेदी व त्रिपाठी : सदेश रासक - पृ० ५५
३--सत्यजीवन वर्मा : बीसलदेव रासो - पृ० ११५

इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य: विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिए ।[1] भाषा की दृष्टि मे ही नही किन्तु भावधारा और शैली की दृष्टि से भी इस पर अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव है। अपभ्रंश की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जो पृथ्वीराज रासो मे पाई जाती हैं, और जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है, बीसलदेव रासो मे अपभ्रंश के रासो ग्रन्थों की अन्य प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं।

बीसलदेव रासो अन्य रासो ग्रन्थो से भिन्न, आकार में लघुकाय रचना है। कथावस्तु संक्षिप्त है। यह गीतात्मक काव्य है और सारे काव्य मे एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। इन विशेषताओ के कारण इस पर अपभ्रंश के 'उपदेशरसायन रास' का प्रभाव अनुमित किया जा सकता है।[2] सदेश रासक से साम्य तो हम देख ही चुके हैं।

अब हम छन्द वैविध्य परक रासो काव्यधारा पर विचार करेगे। हम देख चुके हैं[3] कि प्राय: सभी रासोकाव्य प्रार्थना से या मगलाचरण से आरम्भ हुए हैं। यह परम्परा तो हमे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो साहित्यो मे मिलती है। हा, इसका अपवाद अवश्य डिंगल रचनाओ मे उपलब्ध हैं। परन्तु ऐसी रचनाए प्रबधात्मक न होकर मुक्तकों के एक विषय से सम्बन्धित संग्रहमात्र हैं।

रासो, विलास, प्रबन्ध संज्ञक रचनाओ की परम्परा, शैली तथा वस्तुविन्यास का सम्बन्ध आसानी के साथ अपभ्रंश से जोडा जा सकता है। अब तक अपभ्रंश भाषाओ का जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि डिंगल और अपभ्रंश मे अन्तर कम और एकरूपता बहुत अधिक है और कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कहते है और डिंगल भी।[4] राजस्थानी के वीरकवियो ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पद्धतियो को चलाये रखा है। गाथा कहने से ही प्राकृत-काव्य का बोध होता है और दूहा अपभ्रंश काव्य का विशेष गुण है। इन दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से तथा वीर रसोचित नवीन पद्धतियो के प्रयोग से वीर गाथा साहित्य का निर्माण हुआ है।[5]

इन सभी रचनाओ मे प्राय कवि मगलाचरण के बाद मूल विषय पर आता है। पर कभी-कभी अपने ग्रन्थ की महत्ता मे कुछ कह देता है कभी-कभी वह विनय से अपने को सामान्य व्यक्ति ठहराता है। विषय की महानता के अनुरूप अपने को

१—रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - पृ० १४६
२—हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य - पृ० ३१०
३—अध्याय - ४ - पृ० १८
४—हरदेव बाहरी . हिन्दी की काव्यशैलियो का विकास - पृ० १८
५—वही

असमर्थ पाता है। छन्दशास्त्र मे निष्णात भाषाओ के महापण्डित, हमारे महाकवियो मे से एक प्रमुख कवि स्वयभू कहते हैं[1] --

णउ वुज्झिउ-पिंगल-पत्थारु। णउ भम्मह – दण्डि – अलकारु।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि।

अर्थात् न तो मैंने पिंगलशास्त्र के प्रस्तार को समझा है और न भामह और दण्डि की अलकार व्यवस्था को ही जाना है फिर भी मैं इस काव्यरचना के व्यवसाय को नही छोड़ पा रहा हू, प्रत्युत रड्डा छन्दोबद्धकाव्य रच रहा हू।

संदेशरासक के रचयिता द्वारा प्रदर्शित उद्गार विचारणीय हैं। वह कहता है[2] —

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ॥

अर्थात् यदि भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट भावो और छन्दो के अनुसार नवरग-चगिमा (नूतनवर्णप्रधाना ?) तरुणी नाचती है तो क्या गामगहिल्ली ताली बजा कर न नाचे ? कवि ने विनयवश अपनी कविता के औचित्य को वताने के लिए ऐसे कई छन्द लिखे हैं। उन दिनो रासक काव्यो मे इस प्रकार विनय और कवित्व-विषयक औचित्य दिखाने की प्रथा थी। समसामयिक कवि चन्दवरदाई ने भी इस प्रकार के अनेक छन्द पृथ्वीराज रासो मे लिखे है। एकाध तो सदेशरासक के छन्दो से बहुत मिलते से हैं। चद की इसी भाव की गाथा इस प्रकार है[3] —

सत्त खन आवास महिलान मद्द सद्द नूपुरया।
सतफल वज्जुन पयसा पव्वरियं नैव चालति।

अर्थात् सतखडे महलो मे मद-विह्वल नूपुरध्वनि के साथ यदि अभिजात तरुणिया नाचती हैं तो क्या पर्वतवासिनी स्त्रिया पैरो मे घुंघची बजा कर भी न चलें ?

इसी प्रकार श्रीधर ने रणमल्लछन्द मे कहा है —

श्रीधर कवित कहइ मती मद।
पूर्वछायो आर्या छदह।

अपने को मतिमद कहना ही उसकी विनयशीलता का द्योतक है।

पौराणिक शैली के काव्यो मे वक्ता और श्रोता के सम्वाद के रूप मे कथा कहने की प्रथा पहले ही से चली आ रही थी। लोककथाओ मे प्राय कोई कथा पशु-पक्षियो की बातचीत के रूप मे कही जाती थी। प्राकृत की 'लीलावई कहा' मे कवि

१—देवेन्द्रकुमार : पउमचरिउ-खण्ड १–पृ० ८
२—द्विवेदी व त्रिपाठी : सन्देश रासक–पृ० ५
३—मोहनसिंह राव : पृथ्वीराज रासो - खड १ - पृ० ३

और उसकी पत्नी की बातचीत के रूप में कथा कही गई है ।[1] अपभ्रंश के प्रायः सभी चरितकाव्यों मे किसी न किसी प्रकार के वक्ता श्रोता की योजना अवश्य हुई है । इस रूढि को आदिकाल के कुछ प्रबन्ध काव्यों मे भी अपनाया गया है और बाद में रामचरितमानस में भी यह शैली अपनाई गई । सम्वाद-शैली मे निम्नलिखित रूपों में कथा कही गई है —

१–धर्मगुरुओं-पौराणिकों तथा भक्त ऋषियो और श्रावकों-श्रोताओ के बीच प्रश्नोत्तर के रूप मे ।[2]

२–शुक-शुकी,[3] भृंग-भृंगी,[4] तोता-मैना या पक्षी और मानव की बातचीत के रूप मे । पृथ्वीराज रासो और कीर्तिलता में शुक-शुकी और भृंग-भृंगी के सम्वाद के रूप मे पूरी कथा कही गई है ।

३–कवि और कवि-पत्नी की बातचीत के रूप मे (पृथ्वीराज रासो) ।[5]

आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने इसी पर विचार करते हुए कहा है[6] —

मै इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था कि प्राचीनकाल से ही प्राकृत और संस्कृत-कथाओं मे श्रोता और वक्ता की परम्परा रखने का नियम चला आ रहा है । जैन कवियों में और सूफी कवियों में इस नियम के पालन मे थोड़ी शिथिलता दिखाई पड़ती है, परन्तु अन्यत्र श्रोता-वक्ता का रखना आवश्यक समझा जाता है । ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भी यह नियम जरूर माना जाता रहा होगा । वैतालपंचविंशति, शुकसप्तशति आदि कथाओं में भी पूर्वकथा की योजना की गई और रासा मे तो यह योजना स्पष्ट ही मिल जाती है । इस प्रसग मे ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की कीर्तिलता में उस समय के देश-भाषा-साहित्य के गुणानुवादप्रधान चारित-काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं और यह पुस्तक उस युग के गुणानुवादमूलक चरितकाव्यो में सबसे अधिक प्रामाणिक है । कवि ने उसे 'काहाणी' या 'कथानिका' कहा है जो सम्भवतः उसके आकार की छोटाई के कारण है । उसमे प्रायः उन सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है जिनका रासो मे व्यवहार मिलता है । रासो की ही भांति उसमें सस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग है और देश्यमिश्रित

१—आदिनाथ ने० उपाध्ये : लीलावती कहा - प्रारम्भ

२—प्राकृत मे विमलसूरि रचित पउमचरिय में राजा श्रेणिक की शंकाओ का समाधान करते हुए गणधर गौतम ने रामकथा सुनाई है ।

३—पृथ्वीराज रासो में पांचवें समय में शुक-शुकी द्वारा कथा कही जाती है ।

४—कीर्तिलता में भृंग-भृंगी सम्वाद मे कथा का प्रणयन किया गया है ।

५—पृथ्वीराज रासो मे प्रारम्भ मे ही कविपत्नी कुछ पूछती है । उत्तर मे चन्द पृथ्वीराज की कथा कहता है । प्रथम समय - छन्द ग्यारह व आगे ।

६—हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल - पृ० ५९

अपभ्रश तो वह है ही। ऐसा जान पडता है कि उन दिनो ऐतिहासिक व्यक्ति के गुणानुवाद-मूलक चरित-काव्य इसी ढग से लिखे जाते थे। विद्यापति के सामने ऐसा ही कोई ग्रन्थ आदर्शरूप मे उपस्थित था। मैं यह नही कहता कि वह ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' ही था, क्योकि गद्यपद्यमयी रचना को संस्कृत में 'चम्पू' कहते हैं। किन्तु प्राकृत की पद्यवद्ध कथाओ मे थोडा-थोडा गद्य भी रहा करता था। लीलावती मे गद्य है, पर वह नाममात्र का ही है। कीर्तिलता मे गद्य और पद्य दोनो हैं। रासो मे भी गद्य अवश्य रहा होगा। वस्तुतः रासो मे वीच-वीच मे जो वचनिकाएं आती हैं वे गद्य ही हैं। निस्सदेह इन वचनिकाओं की भाषा मे भी परिवर्तन हुआ होगा, परन्तु वे इस वात के सवूत के रूप में आज भी वर्तमान है कि उन दिनो की प्राकृत और अपभ्रंश कथाओ के सम्पूर्ण लक्षण रासो मे मिलते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृत से ही गद्य-पद्यमय रचनाओ की शुरुआत हो चुकी थी।[1] अपभ्रश मे वह परम्परा वनी रही।[2] डिंगल मे आकर तो उसका चरम विकास जान पडता है।[3] डिंगल की अधिकाश काव्य रचनाओ मे वारता, भटाउलि व वचनिका आदि के रूप मे गद्य का प्रयोग होता रहा है। इन वचनिकाओ, वारता आदि गद्याशो के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि रासो आदि डिंगल ग्रन्थ उन दिनो की प्राकृत और अपभ्रश कथाओ के सम्पूर्ण लक्षणो से सयुक्त उन्ही की परम्परा की कडी है।[4] वचनिकाओ की इस तुकात्मकता का कारण मुसलमानो के आक्रमण से उद्भूत तथा उनकी फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली का प्रभाव नही, वरन् यह प्राकृत की कथा और आख्यायिका मे प्रयुक्त होने वाली गद्यशैली का परवर्ती विकसित रूप है। यह पूर्णतया भारतीय है।[5]

डिंगल काव्यग्रन्थो मे मात्र गद्य-पद्य मिश्रित रचनापद्धति ही काम मे नही ली गई अपितु अनेक भाषाओ का एक साथ एक ही रचना मे प्रयोग किया गया है। यह परिपाटी भी वहुत पुरानी है। प्राकृत मे हमे धर्मवर्धन कृत पार्श्वजिनस्तवन और जिनपद्म रचित शान्तिनाथस्तवन नामक रचनायें मिलती हैं, जिनमे छः भाषाओ का एक साथ प्रयोग है।[6] अपभ्रश की अनेक रचनाओ मे षट्भाषा प्रयोग की सूचना और उदाहरण मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिवोध से लेकर कथाकोष तक मिश्रित भाषा-प्रयोग की परम्परा मिल जाती है। पृथ्वीराज रासो, वंशभास्कर, राजरूपक, लावा-

१—प्राकृत मे कालकाचार्य कथानक, सिरिसिरिवाल कहा, धूचरिख्यान, रयणसेहर कहा आदि।
२—अपभ्रंश मे कुवलयमाला कहा, कीर्तिलता आदि।
३—डिंगल मे राजरूपक, रूपग गोगादेजीरो, कान्हडदे चरित, वीरवाण आदि।
४—हरिमोहन श्रीवास्तव : मध्यकालीन हिन्दी गद्य - पृ० ३१
५—वही
६—हरदेव वाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य - पृ० ५०

रासा सभी रचनाओ मे यह प्रणालिका दीख पडती है। गद्यपद्य मिश्रित रचनायें तो चल ही रही थी।[1]

विद्यापति की कीर्तिलता मे पद्य के बीच-बीच मे गद्य की योजना की गई है।[2] डिंगलकाव्य ग्रन्थो मे भी वारता, वचनिका, दवावैत आदि के रूप में गद्य की योजना की गई है। यह पद्धति डिंगल कवियो को अत्यधिक प्रिय थी। डिंगल के अधिकाश कवि षट्भाषा-प्रवीण हुआ करते थे। चन्द बारदायी, ईसरदास, पद्मनाभ, पृथ्वीराज, बाकीदास, सूर्यमल्ल आदि कवि बहुपठित थे। उनकी रचनाओ मे भाषा प्रयोगो की विविधता दर्शनीय है।[3] सूर्यमल्ल मिश्रण का वशभास्कर सबसे बडा और प्रसिद्ध ग्रथ है। यह बूंदीराज्य का पद्यात्मक इतिहास है और दो बार प्रकाशित भी हो चुका है। भाषा इसकी पिंगल है। अपने पाडित्य तथा शब्दभडार-प्रदर्शन के हेतु सूरजमल ने इसमे कई नए शब्द गढ कर रख दिए हैं और अनेक स्थानों पर सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओं के अप्रचलित एव कर्णकटु शब्दो का प्रयोग किया है, जिससे भाषा मे कृत्रिमता और दुरूहता आ

१--पुराने समय के चारण जो इस प्रकार की रचनाए करते थे, बड़े विद्वान होते थे। कारण यह था कि प्राय: सभी राजपूत उस समय युद्ध मे व्यस्त रहते थे। और उन्हे सैनिको के प्रोत्साहन के लिये चारणो और वीर-रसपूर्ण कविता सुनाने के लिए भाटो की बड़ी आवश्यकता होती थी। इस प्रकार राज-दरबारो मे सम्मान उन्ही चारणो और भाटो को मिल सकता था जो अपनी कला मे बहुत प्रवीण होते थे। अत. इस जाति के लोग काव्य-कला-कौशल की प्राप्ति के लिए शिक्षा और अभ्यास मे बहुत समय बिताते थे, और सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश आदि भाषाओ के पूरे विद्वान हुआ करते थे (गणेशप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट-पृ० २१)। वर्णरत्नाकर मे भी 'भाट वर्णना' के अन्तर्गत भाट को छह भाषाओ के तत्वज्ञ होने की आवश्यकता बताई है (पुनु कइसन भाट सस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची सौरसेनी मागधी छह भाषाक तत्वज्ञ)। कर्नल टाड कहते हैं कि उस समय कवीश्वर की पदवी उन्हीं को दी जाती थी जो कम से कम छह भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि विषयो मे भी प्रवीण होते थे (टाड : राजस्थान-दसवा अध्याय)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन कवियों के आश्रयदाता राजपूत लोग भी काव्य-मर्मज्ञ होते थे। चन्द के अनुसार पृथ्वीराज छह भाषाओ के जानकार थे —

सस्कृतं प्राकृत चैव अपभ्रंश पिशाचिका।
मागधी सूरसेनीच, षट् भाषाश्चैव ज्ञायते ॥

(कविराव-पृथ्वीराज रासो-भाग १, पृ० २९)

२--शिवप्रसाद सिंह : कीर्तिलता और अवहट्टभाषा - पृ० ३२, ३३, ३५, ३८, ३९, ४०, ४४, ४८, ५१, ५४, ५५, ५६, ६०, ६५।

३--देखिये लेखक की पुस्तक--'राजस्थानी कवि' दोनो खड

गई है ।[1] इसी मे डिंगल का भी काफी प्रयोग है । राजविलास की भाषा राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है ।[2] डिंगल के प्रसिद्ध ग्रन्थ बादर रचित वीरवाण मे भी पजाबी प्रभाव दर्शनीय है ।[3] उसमे ही अपभ्र श के अनेक रूप प्रयुक्त दीख पडते हैं । यह मिश्रित काव्यरूप परम्परा और मिली जुली भाषाओ का प्रयोग ठेठ प्राकृत से चला आ रहा है जिसका अपभ्रश और डिंगल मे भी निर्वाह किया गया ।[4]

१—मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य–पृ० २३९

२—मोतीलाल मेनारिया : राजविलास–भू० पृ० २२

३—लक्ष्मी कुमारी चूडावत : वीरवाण–भूमिका–पृ० १५

४—मिश्रित भाषा के उदाहरण देखिए—

(१) लावा रासा मे प्राकृत प्रभाव

छन्द पादाकुल पराकृत भाषा

सो रीति क्वं भीम गेहा, तत्थे पुत दिग्घ सनेहा ।
अप्पे गढ्ढा गढ्ढा घोरा, थप्पे पुत्र घूम भमोरा ।

महताबचन्द्र सं०—लावारासा–पृ० ४०

(२) राजरूपक मे गद्य

वार्ता

वारहट केसरी भीम का भीम, सूरा तै सिरकल कविराजा की सीम । मूंछ पर हाथ दिया, मन मे उछाह किया । सूरां के प्रमाण बोले, सभा सुणत वचन तोले । सुणो ठाकुरा सिरदारा, आय वणी महासूरा की वारा । औ तौ अप्रबल थल पायो, वंस के धमल ताकौ समय आयो । वौहल के प्राण छीजै, तद धमल के कध वौझ दीजै । ऐसी अनेक वात कही, और ही कवेसर बोल वाह वाह कही ।

—रामकर्ण स०–राजरूपक–पृ० १४९-५०

(३) रणमल्ल छन्द मे संस्कृत

आर्या

शंकरगुरुगणनाथान् नत्वा वरवीरछन्दआरभे ।
कवयेऽह रणमल्लं प्रतिमल्लं यवनभूपस्य ।।१।।
छत्राधिपमदहर्ता कर्ता कदनस्य समरकर्तुणाम् ।
वीरजयश्रीधर्ता रणमल्लो जयति भूभर्ता ।।२।।

के० ह० ध्रुव सं०–प्राचीन गुर्जर काव्य–पृ० १

(४) वश भास्कर की प्रमुख भाषा–प्रायो व्रजदेशीया प्राकृत-मिश्रित भाषा-हीं है परन्तु उसमे शुद्ध प्राकृत, सस्कृत, शुद्ध व्रजभाषा अपभ्र श मिश्रित मरुभाषा आदि भी है ।

(५) डिंगलकोश के निर्माता कविराजा मुरारीदान–बूंदी की रचनाएं भी प्राकृत, अपभ्रश और राजस्थानी, व्रज मिश्रित हैं ।

प्राकृत अपभ्रश के अनेक कवियो ने अपने द्वारा प्रयुक्त छंदो का उल्लेख किया है। स्वयं भू ने पउमचरिउ मे स्वय कहा है कि मैं रड्डा छदोवद्ध काव्य को निबद्ध कर रहा हू ।[1] बादर भी वीरवाण मे अपने द्वारा प्रयुक्त किए गए छदो की सख्या तक दे देता है ।[2] चन्द भी कहता है—[3]

छद प्रवध कवित्त जति, साटक, गाह, दुहत्थ ।
लहु गुरु मडित खडि यहि, पिंगल अमर भरत्थ ।

छदो के उल्लेख की परम्परा के बाद हमारा ध्यान ग्रन्थ की महत्ता प्रदर्शन की ओर जाता है। अपभ्रश के महाकाव्यो मे, उसी प्रकार डिंगल के प्रवध काव्यों मे रचना के महत्व को प्रदर्शित करने वाले अनेक उल्लेख मिलते है। पुष्पदन्त अपने महापुराण में कह उठते हैं—इस रचना मे प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छद, अलंकार, रस, तत्वार्थ निर्णय सब कुछ आ गया है। यहाँ तक कि इस जैन चरित मे जो कुछ है, वह अन्यत्र नही मिलेगा।

अत्र प्राकृत लक्षणा निसकला नीति. स्थितिच्छन्दसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतय. ।

किं त्वान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्प दशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

—महापुराण-५९ वी सधि-प्रारम्भिक प्रशस्ति

इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो मे भी घोषणा की गई है—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नव रस ।
षटभाषा पुराण च कुराण कथित मया ।

—पृथ्वीराजरासो–१-८३

वेलि क्रिसन रुकमणीरी मे कवि पृथ्वीराज ने पाठकों के विशद ज्ञान की आवश्यकता की ओर सकेत किया है। उसे ठीक से समझने के लिए ज्योतिषी, वैद्य, पुराणों का विद्वान, योगी, सगीतज्ञ, तार्किक, न्यायशास्त्री, कवि, भाषाविद् और चारण-भाट आदि सभी को एकत्र होकर विचार करना पड़ेगा ।[4]

जोतिखी, वयद, पउराणिक, जोगी,
सगीती, तारकिक सहि ।
चारण, भाट, सुकवि, भाखा-चत्र,
करि एकठा त अरथ कहि ।

१—देवेन्द्रकुमार : पउमचरिउ–खड १–पृ० ९
२—लक्ष्मीकुमारी चूडावत· वीरवाण–पृ० ६१
३—मोहनसिंह : पृथ्वीराज रासो–सम्पादकीय–पृ० १
४—नरोत्तम स्वामी: क्रिसन रुकमणीरी वेलि—पृ० १५५

हम पिछले अध्याय मे देख ही चुके हैं कि डिंगल के काव्यग्रन्थो मे कवि का ध्यान प्राकृतिक वस्तुओ तथा अन्य वस्तु व्यापारो की गणना कराने की ओर जितना अधिक दिखलाई पड़ता है, उतना सश्लिष्ट चित्रण की ओर नही। यह प्रवृत्ति सस्कृत के पूर्ववर्ती महाकाव्यो मे नही मिलती किन्तु अपभ्रंश के काव्यग्रन्थो मे वहुत मिलती है।[1] पृथ्वीराज रासो, वेलि क्रिसन रुकमणीरी, कान्हडदे प्रवन्ध, राजरूपक, राजविलास, सूरजप्रकाश, वंशभास्कर, रामरासो, रघुनाथरूपक, रघुवरजस प्रकाश सभी डिंगल एव डिंगल मिश्रित पिंगल ग्रन्थो मे यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी हमे मिल जाता है। वह यह कि कवि नाम परिगणना के साथ ही संख्यात्मक अत्युक्ति का आश्रय लेता है। इस प्रकार की परिपाटी की परम्परा भी हमे अपभ्रंश से दीख पड़ती है। पुष्पदन्त के महापुराण मे ऐसे अनेक स्थल हैं जहां संख्यात्मक अत्युक्ति का सहारा लिया गया है। एक उदाहरण देखिये –

चउरासी लक्खइं कुंजराहं। तेत्तिय सहसइं रहवराहं।
छण्णवइ सहासइ राणियाहं। वत्तीस णिवहं संताणियहं।
सोलह सहसई सिद्धहं सुरहं। आणायराहं पजलियराहं।
– महापुराण - छत्तीसमो संधि

इन्द्र के दरवार का वर्णन करते हुए पुष्पदन्त पउमचरिउ में कह उठते हैं, 'सत्तावीस करोड अप्सरायें चमर डुला रही थी।'

विज्जिज्जुन्तु चमर - परिवाडि हिं। सत्तावीसहिं अच्छर-कोडिहिं।
– पउमचरिउ - तइओ संधि, क० ६

वीसलदेव रासो मे इसी परम्परा का निर्वाह देखिये। वीसलदेव की वारात का वर्णन है –

आठ सेहस नेजा घणी। पालखी वइठा सहस पचास।
हाथी चाल्या दोढसो। असीय सेहस चाल्या केकाण।
– वीसलदेव रासो पृ० १२

डिंगल काव्यो मे इस प्रवृत्ति का पालन दीख पडता है, इसे विस्तारपूर्वक हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं। यहां तो मात्र इस प्रवृत्ति का अपभ्रंश से सम्बन्ध दिखाना ही अभिप्रेत है। अत विस्तारभय से और पुनरुक्तिभय से यहा एक ही उदाहरण दिया गया है। जहा तक नाम या वस्तु परिगणना का प्रश्न है, इस परम्परा का निर्वाह अपभ्रंश से होकर डिंगलकाव्यो तक मे व्यापकता से मिलता है। जो भी विषय शुरू होता है, चाहे सामन्तो और दरवार का प्रसग हो या भोजन का, उद्यान का हो या पशु-पक्षियो का, सवमें सम्बद्ध वस्तुओ का नाम बहुत व्योरे के साथ गिनाया गया है। इसमे काव्य-कला की दृष्टि से भले ही दोष दिखलाई पड़े किन्तु अनेक स्थलो मे इस पद्धति के कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन और सभ्यता पर अच्छा

१ शम्भुनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास - पृ० २९६

रणमल्ल छन्द की निम्न पक्तियो मे भी ऐसी ही अनुगूंज है ।

ढम ढमइ ढमढमकार ट्रकर ढोल ढोली जगिया ।

डिंगल के अनेक काव्यो मे विवाहो का वर्णन भी विस्तार से मिलता है । ये विवाह दो प्रकार के मिलते हैं —

प्रेमाख्यान ढंग के विवाह, जिनमे नायक-नायिका मे चित्रदर्शन गुणश्रवण आदि द्वारा पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, सन्देशे भेजे जाते हैं और शिवमन्दिर मे या सरिता सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है, फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है । इस तरह के दो तीन गन्धर्व विवाहो का वर्णन रासा में हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रंश और परवर्ती सस्कृत के पौराणिक रोमाचक चरित काव्यो का प्रभाव व्यक्त करता है । ऐसे विवाहों में कथानक सम्बन्धी पूर्वप्रचलित रूढियो का खूब प्रयोग हुआ है । दूसरे ढग के वे विवाह है जिनमे कन्या-पक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है, पुरोहित लग्न लेकर जाते हैं, तिलक चढ़ता है और बारात जाती है । उन वर्णनो मे बारात की अगवानी, जनवासा, मगलाचार, ज्योनार, विवाहमण्डप मे भावरी, सिन्दूरदान, दानदहेज, विदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है । अपभ्रंश के पूर्ववर्ती चरित काव्यो मे विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमे नही दिया गया है । दसवी शताब्दी मे रचित दिव्यदृष्टि वाहिले के 'पउमसिरिचरिउ' नामक लघु प्रबन्ध काव्य मे अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कडवको मे हुआ है । जिनमें विवाह का लग्न-शोधन, विवाह की तैयारी, मडप-रचना, निमन्त्रण भेजना, चौक पूरना, स्त्रियो के गीत, द्वारचार और विवाह आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक वर्णन हुआ है ।[1]

विवाहो की पहली परम्परा का उदाहरण पृथ्वीराज कृत वेलि क्रिसन रुक-मणीरी तथा मायाभूला रचित रुक्मणी हरण में मिल जाता है । दूसरे प्रकार के वर्णन पृथ्वीराज रासो से लेकर रघुनाथरूपक तक में मिल जाते हैं ।

इन सब प्रकार के वर्णनो में सबसे प्रमुख वर्णन युद्ध सम्बन्धी है । ध्वन्यात्मक अथवा अनुरणनात्मक शब्दावली का चयन अपभ्रंश में बहुत प्रचलित था । धवल कवि के हरिवंश पुराण का उदाहरण देखिये —

रहवउ रहहु गयहुगउ धाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्कु परायउ ।
तुरउ तुरग कुखगा विहत्थउ, असिक्खरहु लग्गु भय चत्तउ ।
वज्जहिं गहिर तूर हय हिंसहिं, गुलुगुलु त गयवर बहु दीसहिं ।
० ० ० ०
हणु हणु मारु मारु पभणतिहिं ।
दलिय धरति रेणु णहि धायउ, लहु पिसलुद्धउ लुद्धउ आयउ ।
फिक्कारउ करंति सिवदारुण, घुम्मइ सुहड भमति रुहिरारुणु ।

---

१ मोदी व भायाणी : पउमसिरिचरिउ - दूसरी सन्धि - कडवक १६ से २२

भलहल सेल कुंतसर भिण्णा, गय वर हय करवालहिं छिण्णा ।
णर वर णाह पडिय दो खडिय, धर तक्खणि णक्कर कहि मडिय ।।
विंघहिं तडातडा, मुच्छिहिं भडा भडा ।
कुंत धाय दारिया, खग्गहिं वियारिया ।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया ।

० ० ०

खग्ग हत्थ ढुक्कही, सीहणाइं बुक्कहिं । ८९-१०

अर्थात् रथिक रथ की ओर, गज गज की ओर दौडा । धानुष्क धानुष्क की ओर भागा । घोडा घोडे से, निश्शस्त्र निश्शस्त्र से, और असि निर्भय हो कवच से जा भिडी । वाद्य जोर जोर से वज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाडते हुए दिखाई दे रहे हैं ।

'मारो मारो' सैनिक चिल्ला रहे हैं ? पद दलित धूलि आकाश मे फैल रही है । शीघ्र ही पिशाच घिर जाते है । शृगाल भयकर शब्द कर रहे हैं । रक्तरंजित योद्धा इतस्तत· घूम रहे हैं, शस्त्र भिन्न हो रहे है, हाथी और घोडे तलवारो से छिन्न हो रहे हैं, राजा द्विधा विभक्त हो गिर रहे है ।

योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्छित हो रहे हैं, कोई भालो के प्रहार से विदीर्ण हो रहे है, कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं, जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे है" ।

इसी परम्परा मे श्रीधर द्वारा रणमल्ल के युद्ध कौशल का चित्र देखिये --

गोरीदल गाहवि दिट्ठ दहुद्दिसि गढि मढि गिरिगह्वरि गडिय ।
हणहणि हवक्कन्तउ हु हु हय हयहुड्कारवि हयमरि चडिय ।
घडहडतउ धडि कमधज्ज धरातलि धसि धगडायण घूस धरइ ।
इढरवइ पण्डर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ ।।५८।।
रोमश्चिय रणसिर, राढि डरावण, रहि रहि वल बोल्लन्त बलि ।
पक्खर वर पुट्ठि पवगम पठिट्ठय, पुहुतउ पट्ट पतसाहदलि ।
असि मारवि रूम्ब रणायरि रगडिअ भज्जइ धगड महा भडया ।
रणमल रणगि मोडि मिलन्ता मेच्छायण मूंगल मिडिया ।।५९।।

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, किन्तु स्थानाभाव से ऐसा नही किया जा रहा है ।

डिंगल मे राम काव्य की विशेष रचना नही हुई है । प्रबन्धकाव्य के रूप मे माधोदास दधवाडिया कृत रामरासो उपलब्ध होता है । छन्दो के शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप मे रघुनाथरूपक गीतारो प्रसिद्ध रचना है । किसना जी आढा का रघुवरजस-प्रकास प्रबन्धकाव्य न होकर मात्र राम सम्बन्धी कुछ मुक्तको के सहारे रचा हुआ लक्षण ग्रन्थ हैं । इन सब रचनाओ पर अपभ्रंश के राम-साहित्य का कोई प्रभाव नही पड़ा

है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि डिंगल के रामकाव्य रचयिता हिन्दू थे—जैन रामकथा से प्रभावित होने का प्रश्न ही नही उठता। दूसरा यह कि वे भक्त भी थे। कहने का तो अपभ्रंश के जैन कवियो ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' लिखे जिनमें क्रमश: राम और कृष्ण का चरित गाया गया है। लेकिन उनमे राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नही है। उनके यहा यह हो भी कैसे सकता था ? हर विचार-धारा का उद्गम सुदूर अतीत मे ढूँढ निकालने वालो के लिए तो अवतारवाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग मे उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरम्भ चाहे जितना पहले हुआ हो लेकिन अवतार में लोक जीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग मे प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था। अवतारवाद की यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। संत और भक्त कवियो का यह सामान्य विश्वास था। पिंड मे ब्रह्माण्ड को देखना, ब्रह्मरन्ध्र मे अन-हद नाद को सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और वसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा को निहारना यह सब प्रकारान्तर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं। विविध धर्मों और सम्प्रदायो के अनुरूप भक्तियुग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन जो नही होते तो उसका यह कारण नही है कि उसके अधिकांश कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिन्दू धर्म की अपनी सम्पत्ति नही है। यह एक युग विशेष की लोकव्यापी सामान्य प्रेरणाशक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम मे भी दिखाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है, बीज नही, आकार है, वस्तु नही, देह है, आत्मा नही। भक्ति का बीज, और उसकी आत्मा सामान्य लोक जीवन की मुक्तिकामना मे है। यह एक विशेष सामाजिक परिस्थिति की उपज है।

अपभ्रंश के उत्थान युग मे यह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमे यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।[1] यही कारण है कि डिंगल रामकाव्य पर अपभ्रंश या प्राकृत साहित्य का कोई प्रभाव नही है। वह पौराणिक हिन्दू परम्परा को लेकर चला है।

राजस्थानी के दो प्रेमाख्यानक काव्य उल्लेखनीय हैं। एक है ढोलामारूरी दूहा और दूसरा है माधवानल कामकन्दला। दोनो की रचना मारवाडी या राजस्थानी के बोलचाल के रूप को लेकर हुई है। दोनो मे अनेक लोक तत्व मिल जाते हैं।[2] इन दोनो कृतियो पर भी अपभ्रंश के कथासाहित्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन रचनाओ से बिल्कुल जुदा किस्म की रचना वेलि क्रिसन रुकमणीरी है। वह शास्त्रीय परम्परा अधिक निकट है और संस्कृत से भी काफी प्रभावित है। दूसरी तरफ ढोला-

---

१ नामवरसिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग-पृ० २९४-९५
२ विवरण के लिए देखिए—वरदा—वर्ष ४, अंक २, इसी लेखक का लेख

मारूरी चउपई, दूहा या माधवानल कामकन्दला काव्य लोक परम्परा के निकट हैं। शिष्ट और ग्राम्य, रूढ और नवीन काव्य की दो विरोधी प्रवृतिया अपभ्रंश साहित्य मे भी मिलती हैं। लेकिन विद्वानो ने इस भेद को अपने अपने ढग से समझा है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे लक्षित करते हुए कहा है कि 'हिन्दी मे दो प्रकार की भिन्न जातियो की दो चीजे अपभ्रंश से विकसित हुई है। (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राज-स्तुति, ऐहिकता मूलक शृगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनाएं और लोक प्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सन्तो की शास्त्र निरपेक्ष उग्र-विचारधारा, झाड-फटकार, अक्खडपना, सहज-शून्य की साधना योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनाए।[1] इनमे से उन्होने पहली प्रवृत्ति को रूढिवादी तथा दूसरी को रूढि-विरोधी कहा है। परन्तु तथ्य इस स्थापना के विपरीत जाते है। रूढियो का विरोध करने मे पश्चिमी प्रदेशो के अपभ्रश कवि जोइन्दु और रामसिह उतने ही तत्पर हैं जितने पूर्वी प्रदेशो के सरहपा और काण्हपा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश मे रचना करने वाले मलखेड के स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे प्रबन्ध कवियो को रूढियो का पोषक किसी भी मामले मे नही माना जा सकता। उन दोनो महाकवियो की रचनाएं धर्मविशेष के विचारो से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित काव्यो मे अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक रूढियो का विरोध किया गया। रामकथा सम्बन्धी ब्राह्मणधर्म द्वारा प्रवर्तित रूढियो का साहसपूर्वक खण्डन स्वयभू और पुष्पदन्त ने ही किया। राजदरबारो के अशुभ प्रभाव का उल्लेख भी उन्होने ही किया। भौतिक सुख-विलास के आसक्तिपूर्ण जीवन की असारता बतलाकर एक उच्च-तर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने मे उनके काव्य अग्रणी रहे हैं। पुरुष के अत्याचारो के विरुद्ध नारी के आत्मगौरव को उस युग मे स्वयभू ने जितने साहस के साथ प्रतिष्ठित किया, उतना साहस और किसी ने नही दिखाया। इस हद तक रूढियो का विरोध पश्चिमी और पूर्वी दोनो ही अपभ्रंश के कवियो ने किया। इसके अति-रिक्त जहा तक उस युग निर्मित आदर्शों और मर्यादाओ के पालन का प्रश्न है, उसमे भी जैन और सिद्ध दोनो कवि एक से दिखाई पडते हैं। कर्म-फल का बन्धन तोडने मे इनमे से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन-मत मे कर्मों का बन्धन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूर्व जन्म के कर्मो के कारण नाना जन्म-जन्मान्तरो मे भटकने की कथाएँ किसी न किसी रूप मे स्वयभू, पुष्पदन्त, धवपाल, कनकामर आदि सभी जैन कवियो के चरित काव्यो मे मिलती है। जोइन्दु और रामसिह जैसे स्वतन्त्र-चेता जैन-मुनि भी कर्म सिद्धान्त से मुक्त नही है। उधर सरहपा और काण्हपा जैसे उग्र सिद्ध भी इस सस्कार से ऊपर उठने मे असमर्थ दिखाई पडते हैं।

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओ मे कोई आधारभूत अन्तर नही दिखाई पडता।[2]

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० २६

२ नामवरसिंह . हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग—पृ० २६८-७०

कुछ भी हो, हमारे इन प्रेमाख्यानो मे व्यक्त भावनाओ की तीव्रता, सादगी और सरलता उन्हें अत्यन्त प्रभावमय बना देती है। इन रचनाओ के मुक्तक पदो पर आगे चल कर हम विस्तृत विचार करेंगे। अस्तु —

लोकभाषा राजस्थानी मे रचित तत्कालीन जैन प्रबन्ध काव्यो मे जैन महापुरुषो और धार्मिक गुरुओ की जीवनी ही प्रधान रूप मे निबद्ध है। उनमे भरतेश्वर बाहुबलि रास, सुभद्रा रास, स्थूलिभद्र रास, चन्दनबाला रास, शालिभद्र रास, पच पाडव फाग, जम्बूसामि रासा, मलयरेहारासा, शालि भद्रमुनिका रासा, नेमिनाथ रास, जिनचन्द्र सूरि वर्णना रास आदि प्रधान है। ये सभी लघु प्रबन्ध या लघु चरित काव्य हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के निबन्ध 'वीरगाथा काल का जैन भाषा साहित्य' और श्री कामताप्रसाद जैन के 'हिन्दी जैन साहित्य के सक्षिप्त इतिहास' में इन ग्रंथो की सूचना और परिचय दिया गया है, और प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह और भारतीय विद्यामे उनमें से कुछ ग्रथ पूरे प्रकाशित भी हुए हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस काल में लोकभाषा मे लम्बे पौराणिक धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा नही आरम्भ हुई थी। ये सभी बीस से लेकर सौ-सवा सौ छन्दो के भीतर के काव्य हैं। अत प्रबन्ध काव्य के सभी गुणो को उनमे खोजना व्यर्थ है। हिन्दी साहित्य के आदि काल मे रचे जाने के कारण ये काव्य परवर्ती प्रौढ एव बृहत् प्रबन्ध काव्यो के अग्रदूत के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और यहा वे इसी कारण विवेच्य भी समझे गये।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि लोकभाषा–साहित्य मे प्रबध काव्यो की अधिकता नही है। जो हैं भी वे प्राय लघु प्रबन्ध काव्य हैं। उनमे ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक, इन तीनो शैलियों के काव्य हैं। वे सभी कथानक की दृष्टि से प्रारम्भिक अवस्था मे हैं अर्थात उनमे प्रबन्ध कौशल का अभाव है। इसका कारण यह था कि कभी पुण्य लाभ और धर्म प्रचार, कभी जीविकोपार्जन और यश-लाभ और कभी कोरा मनोरजन उन कवियो का उद्देश्य होता था। अलकृत पद-योजना, भाव-लालित्य, वर्णन—सौन्दर्य और प्रबन्धकौशल द्वारा अपने काव्य को कल्पान्तर स्थायी बनाने की ओर उनका ध्यान कम था। उनके प्रबन्ध काव्यो मे कथानक का क्रमिक विकास नही दिखाई पडता अर्थात कथानक में आदि, मध्य और अन्त की यत्नसाध्य सतुलित योजना कम हुई है। प्रबन्धकौशल की कमी के कारण कथानक का कोई अ ग अति स्फीत हो गया है तो कोई अति अपेक्षित। वस्तुत. प्रबन्ध-पटुता अलंकृत प्रबन्ध काव्यो मे ही अधिक होती है। इस काल के काव्य या तो विकसनशील प्रेमाख्यानक और वीरकाव्य हैं या प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य या इतिवृत्तात्मक पौराणिक लघु काव्य अथवा भावात्मक लघु प्रबन्ध काव्य। अत उनमे इन काव्य शैलियो के पूर्ववर्ती प्रबन्ध काव्यो की बहुत सी रूढियाँ अपनाई गई हैं। परन्तु साथ ही उनमे अनेक नई काव्यरूढियाँ भी आविष्कृत की गई है, उदाहरणार्थ इस काल में लोकभाषा परवर्ती अपभ्र श, राजस्थानी, गुजराती, आदि मे निम्नलिखित काव्य-रूपों और उनके नामो का प्रारम्भ हुआ.—

१–लोकप्रचलित छन्दो के नाम पर आधारित:– चउपई, दूहा, आदि, जैसे नेमिनाथ चउपई, ढोलामारू रा दूहा।

२–लोकप्रचलित नृत्यगीतो के नाम पर आधारित– चर्च्चरी (चाचर), रासक या रास आदि।

३–लोकप्रचलित ऋतुकाव्य—वारहमासा, फाग, धमाल, चौमासा, आदि।

४–स्तुति और मगल वाचक—स्तुति, मगल, विनती या विनय आदि।

५–प्रशस्ति व्यंजक नाम—वेलि, विजय, चन्द्रिका, पताका, लता, विलास, विनोद आदि।

६–संख्यावाचक नाम—दशक, बीसी, पच्चीसी, वत्तीसी, चालीसा, आदि।

७–वारहखडी या वर्णमाला काव्य—कक्क (शालिभद्र कक्क) मातृका (दूहा—मातृका) आदि ;

इन काव्य रूपो का डिंगल प्रबधकाव्य के रूप-विकास मे महत्वपूर्ण योग रहा है क्योकि उनकी शैलियो और काव्य रूढियो को परवर्ती काल के प्रवन्ध काव्यो मे बहुत कुछ अपना लिया गया।[1]

सस्कृत परम्परा से विपरीत अपभ्र श रचनाओ मे अति प्राकृत प्रसगो की भरमार रहती है। कथानक के सघटन मे अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियो तथा अतिमानव कार्यों का बहुत सहारा लिया गया है। यद्यपि ये तत्व पौराणिक काव्यो मे भी है, पर अपभ्रश और परवर्ती डिंगल रचनाओ मे ये रूढसे हो गये है। अपभ्र श कृतियो मे देवता, राक्षस, गधर्व, यक्ष, विद्याधर, नाग आदि मानव के सहायक और विरोधी दोनो रूपो मे दीख पडते हैं। मुनि का शाप या वरदान, किसी गुह्य विद्या की सहायता से दूर देशो मे पहुंच जाना, मत्त गज को परास्त करना, समूची सेना को युद्ध मे वात की वात मे परास्त कर देना आदि अति मानव कार्यों की योजना प्राय मिलती है। जब आगे चलकर जैनो ने देश्य भाषा मे राम,चरित आदि रचनायें लिखनी शुरू की, तो यथावसर ये विशेषतायें भी उनकी रचनाओ मे आ गई। लोक भाषा मारवाडी या राजस्थानी डिंगल का स्वरूप ग्रहण कर उठी तो उसकी रचनाओ मे भी ये विशेषताए थोडी बहुत प्रवेश पाने लगी। कालातर मे लिखे चरितकाव्यो या ऐतिहासिक रचनाओ मे भी ऐसे प्रसग बहुतायत से आने लगे। रचनाओ के आकार के साथ ही ऐसी रूढियो तथा आवातर प्रसगो की तादाद बढने लगी। हजारी प्रसाद जी ने इस विषय मे विस्तार पूर्वक चर्चा करते हुए कहा है कि ऐतिहासिक चरित का लेखक सभावनाओ पर अधिक बल देता है। सभावनाओ पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशके साहित्य मे कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आयेहै जो बहुत थोडीदूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढि मे बदल गये हैं। इस

---

१ शभुनाथसिंह. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास–पृ० २३०–२३१

विषय मे ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओ में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल ऐसी बात का ध्यान रखा गया है कि संभावना क्या है। चित्तौर के राजा से सिंघल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नही है, हुआ हो तो बहुत अच्छी बात है, न हुआ हो तो होने की सभावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किससे होगा ? शुक नामक पक्षी थोड़ा-बहुत मानव वाणी का अनुकरण कर लेता है, और भी तो कर सकता था। जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उससे अधिक की सम्भावना तो है ही। ऋषि के वरदान मे वह शक्ति बढ़ सकती है, ऋषि के शाप से पतित गंधर्व यदि सुआ हो गया हो तो पूर्वजन्म के संस्कार उसको कलाममंज्ञ बना सकते है। जब ये सम्भावनायें हैं तो क्यो न उसे सकल शास्त्र-विलक्षण सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार सम्भावनापक्ष पर जोर देने के कारण कुछ कथानक-रूढ़िया इस देश में चल पड़ी हैं। कुछ रूढ़िया ये हैं :—

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा।

(२) १-स्वप्न मे प्रिया का दर्शन।

२-चित्र में देख कर किसी पर मोहित हो जाना।

३-भिक्षुको या वन्दियों के मुख मे कीर्ति-वर्णन सुन कर प्रेमासक्त होना, इत्यादि।

(३) मुनि का शाप।

(४) रूप-परिवर्तन।

(५) लिंग-परिवर्तन।

(६) परकाय-प्रवेश।

(७) आकाशवाणी।

(८) अभिज्ञान या सहिदानी।

(९) परिचारिका का राजा मे प्रेम और अन्त मे उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप मे अभिज्ञान।

(१०) नायक का औदार्य।

(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम मे विरह-वेदना।

(१२) हंस-कपोत आदि से संदेश भेजना।

(१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन मे पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुन्दरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न।

(१४) विजन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार।

(१५) युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुन्दरी स्त्री का उद्धार और प्रेम।

(१६) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता का तिरस्कार।

(१७) भरण्ड और गरुड आदि के द्वारा प्रिय-युगलो का स्थानान्तरकरण।

(१८) पिपासा और जल की खोज मे जाते समय असुरदर्शन और प्रिया-वियोग।

(१९) ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड हो गया हो।

(२०) प्रिया की दोहदकामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्यसाधन का सकल्प।

(२१) शत्रु-सन्तापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना, और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि।[1]

जैसा कि हम ऊपर देख चुके है स्फीत कलेवरवाली रचनाओ मे कथानक रूढिया अधिक सख्या मे मिलती है। पृथ्वीराज रासो मे अनेक कथानक रूढियो का समावेश है।[2] पिंगल रचना हम्मीररासो तक इन रूढियो का बोलबाला चला आया है।[3] डिंगल रचनायें भी इनसे युक्त है। पद्मनाभ के कान्हडदे प्रबन्ध मे अलाउद्दीन की पुत्री फिरोजा के कान्हडदेव के प्रति प्रेम को शाश्वत सिद्ध करने के लिए कवि ने लोककथाओ से पूर्वभव सम्बन्ध का तत्व उठाया है और फिरोजा के प्रेम को जन्म-जन्मान्तर से माना है।[4] भीमकवि द्वारा रचित सदयवत्स चरित तो एक पद्यमय लोक-कथा ही है।[5] उज्जयिनी के राजा प्रभुवत्स और शालिवाहन की राजकुमारी सावलिंगा को इस प्रेम-कहानी को कवि ने अपूर्व कौशल से साकार कर दिया है। लोक-मानस मे क्रीड़ाशील इस उपाख्यान को साहित्य की कोटि मे रख दिया है। जाच करने से पता चला कि यह कथानक काफी पुराना है। वैसे सदयवत्स की अवस्थिति का समय निश्चित नही। पर सस्कृत कथानक मे जैनाचार्य कालक के साथ उसका सम्बन्ध जोडा जाता है एवं कथा मे उज्जयिनि हरिसिद्ध माता, प्रतिष्ठान नगर व शालीवाहन राजा, बावन वीर, खापरा चोर आदि का उल्लेख है। तदनुसार विक्रम के समकालीन सिद्ध होता है, अत: विक्रम कथाओ जितनी ही इस कथा की प्राचीनता समझी जा सकती है।[6] प्रो० मजमुदार की इस मान्यता मे आश्चर्य की कोई बात नही। यह भारतीय साहित्य की विशेपता है। विंटरनित्ज ने रामायण और महाभारत के काल पर विचार

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ० ७४-७५

२ विवरण के लिए देखिए : पृथ्वीराजरासो मे कथानक रूढिया–ब्रजविलास श्रीवास्तव।

३ हम्मीररासो के अलौकिक तत्वो व कथानक रूढियो के लिए देखिए — लेखक का निबन्ध 'हम्मीररासो मे लोकतत्व'–राष्ट्रभाषा, वर्ष ४, अ क-३

४ गोवर्द्धन शर्मा . राजस्थानी कवि-खण्ड १–पृ० १०२

५ वही–पृ० ५५

६ म०र० मजुमदार : गुजराती साहित्यना स्वरूपो

करते हुए लिखा है—'भारतीय साहित्य के इतिहास मे यह अद्भुत विरोधाभास है कि रामायण-महाभारत से अधिक प्राचीन है और महाभारत रामायण से अधिक प्राचीन, यही विशेषता हमे इस काव्य मे जान पड़ती है।'[1] सदयवत्स की द्यूत कला-कुशलता को देख हमें राजा नल की याद आ जाती है। अस्तु —

करणीदान का सूरजप्रकाश एक महाकाव्य ग्रन्थ है। कवि ने उसमे लगभग ७५०० छन्दो मे अपने आश्रयदाता महाराजा अभयसिंह जी के जीवन और पराक्रम को लेकर रचना की है। कवि ने परम्परागत शैली को अपनाते हुए पहले पौराणिक पृष्ठभूमि मे राजवंश का इतिहास लिखा है। इस वंश की उत्पत्ति कवि ने ठेठ ब्रह्मा से स्थापित की है। प्रारम्भिक अंश मे कथानक रूढ़ियो का प्रभाव साफ दिखाई पडता है। बाद मे चल कर कवि अधिक विस्तार मे चला जाता है। महाराजा जसवन्तसिंह, अजीतसिंह और अभयसिंह के जीवन की घटनाओ को इन्होने जमकर लिखा है। अपने नायको को अलौकिक अथवा विशेषगुणो से भूषित प्रदर्शित करने के लिए कुछ रूढियो का आश्रय लिया गया है। अनेक आवान्तर कथायें उसमे आ गई हैं।

डिंगल मुक्तक काव्य सभी दृष्टि से राजस्थान की प्रतिनिधि रचना है, इसे हम चौथे अध्याय मे देख ही चुके हैं। डिंगल मुक्तको की परम्परा के सक्रिय तत्व हमे अपभ्रंश मुक्तको मे मिल जाते है। जैसा कि हम तीसरे अध्याय मे देख चुके हैं कि डिंगल भाषा मे तो सदैव अपभ्रंश की प्रधानता उसकी एक विशेषता है। डिंगल का आधुनिक कवि भी प्राचीन परिपाटी पर यथा शक्य चलते रहना आवश्यक समझता है। डिंगल मे प्राचीन राजस्थानी की झलक दिखाई देती है और प्राचीन राजस्थानी मे डिंगल की। दोनो का अविच्छेद्य सम्बन्ध आज तक बना हुआ है। इसी लोकभाषा मे लगभग सोलहवी शताब्दि मे ब्रजभाषा एवं गुजराती ने जन्म ग्रहण किया, परन्तु उनमें यह अपभ्रंश की झलक कायम न रही और ये दोनो छोटी लडकियां अपनी मां से बिछुड गई। अपभ्रंश की जेठी बेटी राजस्थानी ने कभी अपनी मां का एकदम साथ न छोडा और अब भी वह आन्तरिक प्रेम को निभाए चलती है।[2]

सिद्धराज जयसिंह के आदेश से कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के अपभ्रंश विभाग मे मुनिवर ने तत्कालीन लोक प्रचलित कविता को उदाहरण के रूप में रक्खा। उनकी इस प्रवृत्ति से लोकभाषा का बडा उपकार हुआ और वे साहित्य प्रेमियो को सदा के लिए ऋणी बना गए। इसी तरह सोमप्रभाचार्य ने सं० १२४१ मे कुमारपाल प्रतिबोध की रचना समाप्त की। यह ग्रन्थ मुख्यतया प्राकृत मे है और इसमे विविध कथायें वर्णित है। बीच बीच मे आचार्य ने लोक प्रचलित कविता भी दी है। जैन आचार्य मेरुतुंग ने सं० १३६१ में संस्कृत ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि की रचना की। इस ग्रन्थ की कथाओं में भी प्रसंगानुसार लोक प्रचलित भाषा की कविता रक्खी गई है।

---

१ विंटरनित्ज : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर–भाग २

२ मनोहर शर्मा : प्राचीन राजस्थानी–शोधपत्रिका–वर्ष ३, अंक-१२४

इस लोक प्रचलित काव्य का बड़ा महत्व है। इससे उस समय की लोकभाषा का तो पता चलता ही है, परन्तु साथ ही साथ विचारधारा का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। इन ग्रन्थकारो ने असाधारण काव्य सौन्दर्य सम्पन्न दोहों की एक अच्छी सी संख्या साहित्य-जगत को भेंट की। कई दोहे ऐसे हैं, जो सभी ग्रन्थो में पाये जाते है। इन दोहो की खूबी देखिये कि कथाओ के बीच बीच मे हीरो के समान इनकी जडाई हुई। कितने लोक-प्रिय रहे होगे ये दोहे ! इनका अधिकार भी लोक हृदय पर कितने लम्बे समय तक रहा। आज भी इन दोहों की रमणीयता ने राजस्थान के हृदय पर अधिकार कर रक्खा है। यद्यपि हजारो वर्ष बीत गए परन्तु कुछ अदल-बदल कर आज भी राजस्थान का हृदय इन्हे गाता है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

अपभ्रंश —

वायसु उड्डवन्ति अए पिउ दिठ्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महि हिगय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥

राजस्थानी —

काग उडावण घण खडी, आयो पीव भडक्क।
आधी चूडी कागगल, आधी गई तडक्क ॥

अपभ्रंश —

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु भुएन।
जा वप्पी की मुहडी, चम्पिज्जई अवरेण ॥

राजस्थानी —

बेटा जाया कवण गुण, अवगुण कवण घियेण।
जो ऊभा धर आपणी, गजीजे अवरेण ॥

अपभ्रंश —

एऊ जम्मु नग्गह गिउ, भडसिरि खग्गुन भग्गु।
तिक्खा तिरिया न भाणिया, गोरी गलि न लग्गु ॥

राजस्थानी —

तीखा तुरी न भाणिया, भड सिर खग्खन भग्ग।
जलम अकारथ ही गयो, गोरी गले न लग्ग ॥

अपभ्रंश —

जइ भग्गा पारक्कड़ा, तो सहि मज्झु पिएण।
अहभग्गा अम्हहतणा तो ते मारि अडेण ॥

राजस्थानी —

अह भागा पारक्कडा, तो सखि भूझ पियेण।
अह भग्गा अम्हेतणा, तो लिह जूझ पड़ेण ॥

अपभ्रंश —

गा यह रावणु जाईयउ, दहमुह इक्क सरीरु ।
जणणि वियम्मि चिन्तवई कवणु पियावउ खीरु ।

राजस्थानी —

राजा रावण जलमियो, दसमुख एक सरीर ।
जननी ने सामो भयो, किण मुख घालू खीर ।।

राजस्थान स्वय दोहो का देश है । दोहा यहां के छन्दो का राजा है । दोहा निर्माता कवियो की राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे बडी भारी संख्या है । दोहे लिखे भी गए हैं सभी विषयो पर । बहुत से कवि तो सिर्फ दोहा कवि हैं । इसी तरह ग्रन्थ भी बडी भारी सख्या मे दोहा ग्रन्थ ही है । राजस्थानी काव्य की यह दोहा परम्परा अति प्राचीन है । निश्चय ही ऊपर लिखे ग्रन्थो के सकलित दोहे दसवी शताब्दी के आसपास के तो जरुर ही है । आज भी राजस्थानी कवियो मे दोहे लिखने-वालो की एक बड़ी संख्या है । प्राचीन राजस्थानी दोहे की तरह आधुनिक युग मे भी यहा लोक प्रचलित दोहे इतने हैं कि उनकी सख्या का अन्दाज लगाना भी कठिन है । ऐसा कोई प्रसंग नही कि जिसका कोई उपयुक्त दोहा कहावत के रूप में तैयार न हो । सदा से यह भूखण्ड लोकप्रचलित दोहो की लीला भूमि रहा है । प्राचीन काल मे भी था, और अब भी है।

इनके अतिरिक्त इन दोहो मे बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी छाया राजस्थान के लोक प्रचलित दोहो मे चली आती है । प्राचीन और अर्वाचीन का यह भाव साम्य भी देखने लायक है ।

गएउ सु केसरी पिअहुजलु निश्चितइ हरिणई ।
जसु केरए हुकारउएं मुहहु, पडन्ति तृणाइं ।।
(जिण मारणकै हरि वुवी रज लागी तिरणाह ।
ते खड ऊभा सूखसी नहिं चरसी हरिणाह ।।)
जे मह्यु दिएणणा दिअहड़ा दइए पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेन ।।
(पाऊ आऊ कर गया, कर गया कोल अनेक ।
गिणता गिणता घस गई, आगलियारी रेख ।।)

—मीरा

मह्यु कन्त हो गुट्ठट्ठिअहो कऊ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउरूहिरे उल्हवई अहअप्पणे न भन्ति ।।
(धीरा धीरा ठाकुरां गुमर किया मजाह ।
मोहंगा देसी झूमडा, जो घर होसी नाह ।।)

—ईसरदास

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर आई।
विहलिय अण अब्भुद्धरणु कन्तु कडीरइ जोई ॥
(टोटै सरका' भीतडा घातै ऊपर घास।
वोरीजै भड झूपडा, अघपतिया आवास ॥)

—सूर्यमल

गुणहि न सपइ कित्ति पर फल लिहिआ मुञ्जन्ति।
केसरिन लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहि घेप्पन्ति ॥
(एक्कइ बन्न वसतड़ा एव्वड अन्तर का वई।
सिंह कवड्डी ना लहर, गयवर लक्ख बिकाई ॥)

—शिवदास

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरू पिक्खेवि।
हउ कि न जुत्तउं दुहु दिसि हिं खण्डइ दोण्णि करेवि ॥
(क्यूं न ह धवली जो तियो तैं सागड़ौ गिवार।
काढे जीभ किलोहड़ा खध न झालै भार। ।)

—बांकीदास

इन दोहो मे राजस्थानी अनुश्रुतिया व्याप्त हैं। इन अनुश्रुतियो की परम्परा ने इनको राजस्थानी धारा प्रवाह के साथ जोड रक्खा है। इनको पढते ही पहली धारणा यही होती है कि यह कविता राजस्थानी है। इसके साथ ही इनमें राजस्थान का वातावरण है। राजस्थानी वातावरण की रचना राजस्थान के हृदय पर तत्काल अपना आधिपत्य जमा लेती है। राजस्थान के रीति-रिवाज राजस्थान की प्रकृति, राजस्थान की अनुश्रुतिया, सबने मिलकर इन दोहो को राजस्थानी साहित्य के इतिहास का एक उज्वल अध्याय बना दिया है।

ढोल्ला महं तु हु वारिया, मा कुरू दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥

(ढोला ! मैं तुमको मना करती हूं। दीघ मान मत कर। नीद से रात चली जाएगी और झटपट सवेरा हो जायगा।)

इस दोहे का ढोला राजस्थानी काव्य का प्राण है। पूगलगढ की पद्मिनी मरवण और नरवलगढका राजकुमार ढोला राजस्थानी साहित्य मे अत्यधिक व्याप्त है। राधा-कृष्ण के समान इस जोडी ने राजस्थान मे नायक-नायिका का स्थान ले लिया है। यहा अब भी ढोले का अर्थ नायक समझा जाता है, मरवण का मतलब नायिका है, इसके अतिरिक्त अन्य भी कई प्राचीन दोहो में नायक के रूप मे ढोला ही लिया गया है।

ते मुग्गडा हराविया जे परिविट्ठा ताह।
अवरोप्परू जो अन्ताहं सामिउ गंजिउ जाह ॥

(उन लोगो को परोसे गए मूंग व्यर्थ गये जिनके ऊपर नीचे देखते हुए स्वामी नष्ट हो गया ।)

राजस्थान मे मूंग चावल परोसना एक मांगलिक प्रथा है। जब जवाई आता है या बहू आती है तो मूंग चावल परोसे जाते हैं । मूंग चावल बडे भारी सम्मान की वस्तु है । यह दोहा इस प्रथा की प्राचीनता का परिचायक है ।

राणा सव्वे वाणिया जेसुल वड्डउ सेठि ।
काहू वणिजहु मा।ण्डीपउ अम्भीणागढहेठि ।।

(अन्य सव राणा तो छोटे वाणिए हैं और जयसिंह वडा भारी सेठ है । हमारे गढके नीचे कैसा व्यापार फैलाया है ।)

इस दोहे मे प्रयुक्त गढ और सेठ शब्दो से राजस्थानी जीवन का एक चित्र सा नजरो के सामने खिंच जाता है । राजस्थान सदा मे गढों का देश है । यहा सेठो की अपार महिमा है । और वाणिज्य की सर्वत्र माया है ।

लोणु विलिज्जई पाणिएण अरिखल मेहम राज्जु ।
वालिउ गलइसु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ।।

(अरे खल मेघ, गरज मत । पानी पडने से लावण्य विलीन होता है, झोपडा गलता है और गोरी भीगती है ।)

इस दोहे का मु झुम्पडा राजस्थान का झूपा है । इस शब्द से झोपडी या झापडा नही समझना चाहिए । राजस्थान के गाव-गाव मे देखिये, घर-घर झूपो की शोभा है । झूपा गोलाकृति होता है । और वर्षा, धूप, आधी सवमे परम उपयोगी है ।

सा मिपसाह सलज्जु पिगु सीमा मधिहि वासु ।
पेक्खिवी वाहु वलुल्लडा घण मेल्लइ नीसासु ।।

(स्वामी की कृपा, प्रियतम लज्जाशील सीमा सधि मे निवास, इनके अतिरिक्त प्रियतम वाहुवल से गर्वीला भी, इन वातो को देखकर नायिका नि.श्वास छोडती है।)

इस दोहे का घण शब्द विचारणीय है । अन्य भी कई स्थानो पर इसका प्रयोग हुआ है इसके पीछे एक चित्र है ।

प्रियतमा नायिका, कुलवधू, सुन्दरी आदि कई शब्दों का भाव इस एक घण शब्द मे समाया है । यह शब्द राजस्थानी लोकगीतो का केन्द्र-विन्दु है ।

मुंज ,वडल्ला दोरडी पेक्खेसिन गम्भारी ।
आसाढि घण गज्जीइ चिक्खिलि होसे वारी ।

(हे मुन्ज, प्रेम की डोरी ढीली पड गई है । गंवार, तू नहीं देखता कि आषाढ मे वादल गर्जने पर धरती फिसलनी हो जायगी ।)

नायक अपनी प्रेमिका के पास ऊंट पर सवार होकर आया करता था । जव उसने किसी कारणवश जाना वन्द कर दिया तो उसने यह दोहा लिखकर भेजा ।

(कथा का ओठी - ऊट सवार), और रपटने वाली धरती दोनो ही राजस्थानी जीवन के मार्मिक पहलू है ।[1]

अभी तक हमने इन प्राचीन अपभ्रंश के दोहो का राजस्थानी वातावरण और डिंगल काव्य के परिपार्श्व मे परिचय प्राप्त किया । हम देख चुके हैं कि विषयवस्तु, शैली और अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये अपभ्रंश मुक्तक राजस्थानी जनजीवन और डिंगल काव्य के अत्यधिक निकट है। ऊपर उद्धरित दोहो मे प्रयुक्त शब्दो पर विचार करने से तो साफ जाहिर होता है कि वे डिंगल के अत्यधिक निकट है । यथा—

इन दोहो के शब्द भण्डार पर ध्यान देने से इनका राजस्थान से एकात्म निश्चित होता है । इनका शब्द चयन, ध्वनि–विचार एव व्याकरण सभी चीजें राजस्थानी तत्व की ओर निर्देश करती है । बहुत समय तक इनकी विशेषताओ को राजस्थानी ने परिलक्षित किया । डिंगल से तो इनकी काफी समरसता है । यहा कुछ एक मोटी-मोटी बातो पर विचार किया जाता है ।

[१] सदेसडओ, दीहडा, देसडा, दोरडी, निद्दडी पायक्कडा, बत्तडी, भागडा रचडी, माणुसड़ा, मणिअडा, वंभिजडु, हियडा, गोरडी, मुहडी आदि शब्दो मे ड का प्रयोग एक दम राजस्थानी है। राजस्थान मे इसका जितना प्रचार है और कही नहीं है । राजस्थानी साहित्य के सभी कालो मे इसके प्रयोग की प्रचुरता रही है।

[२] दोसु, मेहु, सरीऊ, सुहु, रवीऊ, जलु, सयलु, भाणु, वायसु, गुणु, अतरु भयरहरू, कतु आदि शब्दो का प्रयोगभी राजस्थानी की अपनी विशेषताओ मे से एकहै। प्राचीन राजस्थानी की अन्य रचनाओ मे भी इसका अत्यधिक प्रयोग है ।

[३] मकरि म सोसउ, भरुणु झुणि मजाउ, म सचि, म रोईं म झाख हि, म मग्गहु, म मेल्लि, म गज्जु आदि मे म का प्रयोग मना करने के अर्थमे राजस्थानी मे अति व्याप्त है ।

[४] सय, गय, तुरय, सायर, लोय, तारय, मयण, आदि मे त, ज, ग्र, क, द के स्थान पर य का परिवर्तन लिए हुए शब्दो का प्रयोग अब भी डिंगल काव्य मे होता है ।

[५] अहवा, रह, उम्मुह, लकहले, सिहर, मुह, रेह, सणाह, दुल्लह, मयरहरू, मनोहर, महुं महण आदि मे थ, ख, फ, म, ध, के स्थान पर ह धारण करने वाले शब्दो का प्रयोग राजस्थानी काव्य मे लम्बे समय तक चला आया है ।

[६] करत, किलत, चिंतति, करन्ति, मुज्जन्ति भणन्ति, गलन्ति, होन्ति, लेहन्ति, गणन्ति, पडन्ति, भमन्ति, पिअन्ति, आदि प्रयोग डिंगल काव्य मे प्रचुर हैं ।

[७] रूसेसु, पावीसु, करीसु, परसीसु, ऐसी, फुट्टिसु, बुड्डीसु, आदि भविष्यत काल के प्रयोग राजस्थानी हैं। अब भी बोल चाल में इनका 'स' धारा प्रवाह के समान चला आता है ।

---

१ मनोहर शर्मा. प्राचीन राजस्थानी-शोधपत्रिका- वर्ष ३, अंक २८

[८] जुव्वन, गव्वु, मज्जि, कज्जु, इक्कु, जम्मु, वड्डड, भम्मिज्ज, मग्गु, पवित्त, अज्जु, भग्गा, अप्पाणु, आदि का द्वित राजस्थानी भाषा की एक विशेषता है। वीर काव्य में इससे बडा ओज पैदा होता है ।

[९] प्रसिद्ध, भमर, पवाह, पहु, पेम्मु, पम्भण, पयासह, पयोरेहि, आदि मे जो र का लोप है यह भी राजस्थानी का विशेष लक्षण है ।

[१०]छइल्ल, वइल्ल, अखइ, निरामइ, भावइ, पच्छइ आदिमे अइ का प्रयोग राजस्थानी मे मध्यकाल तक चला आया है ।

[११] कण्डु लड, चुउड, हत्थड्ड, रुअड्डे, लेखड्ड, दुअड्ड, का अड भी राजस्थानी मे मध्यकाल तक चला आया हैं ।

[१२] चिन्तवइ, वीसरइ, आराहर, पसरह, गोवइ, विसूरइ, पणट्ठइ, घल्लइ, आदि का इ राजस्थानी में मध्यकाल तक चला आया है ।

[१३] हुअड, जाणड, जाईयड, पियावड, उड्ड, वियड घडिजड, निलिमड, आदि का अड राजस्थानी भूतकाल का लक्षण है ।

[१४] सिरि, वइसानरि, सग्गि, कमलि, विरहग्गि, घरि, उरि, आदि मे जो अधिकरण का इ है वह प्राचीन राजस्थानी का प्रचुर प्रयोग है ।

[१५] मुणालवइ, गढवइ, चक्कवइ, चरवइ, महासर, सपइ, मालइ, आदि मे ति के स्थान पर इ का प्रयोग डिंगल मे प्रचुर है ।

[१६] नारायणह, वलि वघणह, कन्तह, पियह, झुल्लह, जिनवरह, तियह, तथा रामह, गामह, सउणाह, तरु अरह, पओहरह, नवन्ताह, पवामुअहं, आदि का ह प्राचीन राजस्थानी की अपनी विशेपता है ।

[१७] वलि [फिर] इक्कज, [एक ही] करणउन्तु, [करणोत] साटो [लिए] रेसि [लिए] विहूणह [विना] वीजड [वींजो] आदि राजस्थानी के विशिष्ट प्रयोग हैं ।

[१८] पसाउ [प्रसाद] विसाउ [विपाद] उज्जोड [उद्योत] रहिउ [रहित] सुरउ [सुरत], जीविउ [जीवित] आदि राजस्थानी प्रयोग हैं ।

[१९] झूरि [झूरणी] कम्पिजइ [कापणी] जोइ [ओणी] हिंडइ [हाडणी] माणिया [माणओ] माण्डीअउ [माडणो] अत्यमणु [आथणो] रूसिज्जइ [रुसणे] आवट्टइ [आवटाणो] आदि क्रियापद राजस्थानी के जन साधारण मे प्रचलित है ।

[२०] कुड्ड [कोड] चूडल्लड [चुडलो] तिसहे [तिस] डुंगरहि [डुंगर] पहिउ [पही] गोरी । गोरी वाडी । [वाडी] रुक्ख [रु ख] [आण] । आण, दुहाई आदि सज्ञाएं राजस्थान मे लोक प्रचलित है ।

[२१] अम्मीणा, मरट्ठ, भडघड, मञ्मी सडी, सुहच्छडी, बपीहा, महुमहण आदि शब्द डिंगल को बडे प्रिय हैं ।

इन दोहो मे प्रवाहित विचारधारा राजस्थानी से एकात्म है, जो प्राण राजस्थानी काव्य मे समाया है, वही इन दोहो को सजीव किए हुए है। राजस्थानी साहित्य के प्रकाश का आदि स्रोत इनमे स्पष्ट है। राजस्थानी काव्य का अर्थ हैं वीर काव्य। उसमे शौर्य, त्याग, ओज, वलिदान, स्वाभिमान, स्वामीभक्ति, दीनोद्धार, आदि आदि गुणो का भंडार है। पुरुषो के समान ही महिलाओ की वीरता का वर्णन है। वहा वीर से वीरपत्नि घट कर नही। ईसरदास, वाकीदास, सूरजमल, आदि कवियो ने वीर पत्नि का जो विशद वर्णन किया है, वह डिंगल कवि के लिए ही उपयुक्त है। जौहर की सतियो के मरण को महोत्सव के रूप मे चित्रित करके राजस्थानी कवि अमर हो गये हैं। इन्ही वीर वालाओ का उज्ज्वल रूप इन दोहो मे देखिए जो राजस्थानी चित्रो के साथ एक रग हैं। राजस्थानी काव्य मे एक ही धारा ऐसी है, जो आदि से अत तक एक ही वेग से प्रवाहित है। इसी वेग ने आर्यजाति, आर्यधर्म एव आर्य सस्कृति को विलीन होने से वचाया हैं। इन प्राचीन दोहो मे वीर पत्नि का ओज स्थान-स्थान पर वर्णित है। राजस्थानी महिलाओ के लिए वीर पत्नी होना सवसे आनन्द की बात है। पति का भयंकर युद्ध मे घस पडना आनन्द है, लड़ते लडते मारा जाना उसके लिए त्योहार है, वह कायर की पत्नी कहलाकर सखियो मे हसी का पात्र वनना नही चाहती। यह उसके लिए सवसे वड़ा अपमान है।

भल्ला हुआ जु मारिया वहिणि महारा कंतु।
लज्जे ज्जुत वंयसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु॥

वहिन अच्छा हुआ मेरा पति युद्ध मे मारा गया यदि वह भाग कर घर आ जाता तो मुझे सखियो मे लज्जित होना पडता।

इसी भावना को सूरजमल के शब्दो मे देखिये—

सहणी सवरी हू सखी, दो उर उलटी दाह।
दूध लजीणै पूत सम, वलय लजीणै नाह॥

[हे सखी! और सब वातें मुझे सहन हो सकती हैं किन्तु यदि प्राणनाथ मेरे वलय अर्थात चूडियो को लजा दें और पुत्र मेरे दूध को—तो ये दोनो वातें मेरे लिए समान रूप से दाहकारी एव हृदय उलट देने वाली हैं— असह्य है।

हेमचन्द्राचार्य के दिये एक अन्य उदाहरण को देखिये[1] :—

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हह तणा तो तें मारि अडेण॥

[अर्थात हे सखी! यदि शत्रु भागे है तो मेरे प्रिय से, और यदि हमारे लोग भागे है तो उसके मारे जाने से।] इसी भाव को डिंगल कवि ने अधिक चमत्कारपूर्ण ढंग से इस प्रकार से कहा है[2] –

---

१ नामवर सिंह · हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग -पृ० ३४३ से
२ सहल, गौड आसिया . वीरसतसई -पृ० १०

जे खल् भग्गा तो सखी, मोताहल् सज थाल् ।
निज भग्गा तो नाह रो, साथ न सूनो टाल् ।।

सेना को आश्वस्त रखने वाले वीर पति के शौर्य की व्यंजना करते हुए वीर नारी कह उठती है— हे सखी ! यदि शत्रु भाग गये हो तो मोतियो का थाल सजा, जिससे प्राणनाथ की आरती उतारूगी और यदि अपने ही लोग भाग चले हो तो पतिदेव का साथ मत बिछुडने दें, अर्थात मेरे शीघ्र सती होने की तैयारी कर। मेरे पति के जीते जी हमारे लोग नही भाग सकते। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण देखिये[1] –

खग्ग— विसाहिउ जहिं लहहु पिय तहिं देसहिं जाहु ।
रण— दुब्भिक्खें भग्गाइ विणु जुज्झे न वलाहु ।।

हे प्रिय, जहा खग का व्यवसाय मिले, उसी देश मे चलें। रणदुर्भिक्ष मे हम भग्न-क्षीण हो गये है, विना युद्ध के नही सभलेंगे। इसी के समानातर एक वीर भार्या की कामना देखिए[2] –

नह पडोस कायर नरा, हेली वास सुहाय ।
वलिहारी जिण देसड़े, माथा मोल विकाय ।।

हे सखी ! मुझे तो कायर पुरुषो के पड़ोस मे वसना नही सुहाता। मै तो उस देश पर वलिहारी हूं, जहां सिर मोल विका करते हैं।

मतवाला घूमे नही, नहं घायल घरणाय ।
वाल् सखी ऊ देसडो, भड वापड़ा कहाय ।।

हे सखी ! जहा युद्ध के मतवाले नही घूमते, जहा घायलो का अर्तनाद नही सुनाई देता, जहा योद्धागण वेचारे माने जाते हैं, ऐसे देश को आग लगा दो।

हेमचन्द्राचार्य से ही एक उदाहरण लें।

पुत्ते जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा वप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ।।

इसी का राजस्थानी रूपान्तर हम इसी अध्याय मे पहले दे चुके हैं। यहा महज यह दिखाना चाहते है कि अपभ्रंश की सूक्तियों ने परवर्ती डिंगल कवियो को इस सीमा तक प्रभावित किया है कि अनजाने ही वे उक्तिया उनकी अन्य रचनाओ मे आ गई हैं —यथा

पूतां जाया कवण गुण, अवगुण कवण वियांह ।
जावा न दिया प्रगट जण, सिंघल सिंह जियाह ।।[3]

---

१ नामवर सिंह : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग – पृ० ३४४ से
२ सूरजमल : वीर सतसई—पृ० ६८
३ वाकीदास ग्रंथावली—तीसरा भाग—पृ० ७२

यहां अपभ्रंश के दोहे की पहली पक्ति बांकीदास के दोहे की पहली पक्ति से मिलती जुलती है। मात्र 'मुएण' के स्थान पर 'धियाहे' है अन्यथा कही कोई अन्तर नही है।

अपभ्रंश मे वीरो को सिंह तथा स्वामिभक्त सेवको को धवल अर्थात् वृषभ कह कर पुकारा गया है। अपभ्रंश के कवियो ने प्रतीको के रूप मे इन दोनो शब्दो का विपुल प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिये—

जाम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह –चवेड – चडक्क।
ताम समतह मयगलह पइ पइ वज्जइ ढक्क।

अर्थात् जब तक कुंभ पर सिंह के चपेट की आघात नही पडती, तभी तक समस्त मतवाले गजो के पग-पग पर ढक्का बजता है।

गयउसु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु कोए हुंकारडए मुहहु पडन्ति तृणाइं॥

वह केसरी गया, हे हरिणो, निश्चिन्त होकर जल पियो, जिसकी हुंकार मात्र से मुंहो से तृण गिर पड़ते है। अब धवल संबधी कुछ उदाहरण देखिये–

मइ वुत्तउ तुहु धरहि कसरे हिं निगुत्ताइं।
पइ विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउकाइं॥

मैंने कहा – तू धूरी धर, कसर – बैलो से हम तग है। तुम्हारे बिना हे धवल, भार नही चढता, अब उदास क्यो हो?

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भर पिक्खेवि।
हउ कि न जुत्तउ दुहु दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि॥

अर्थात् स्वामी के गुरु भार को देखकर धवल विसूरता है कि मैं ही दो खण्ड करके दोनो ओर क्यो नही जोत दिया जाता!

डिंगल कवियो ने भी सिंह तथा सूअर को वीर योद्धा का स्वीकार किया है। उसी प्रकार धवल या वृषभ ज्यो का त्यो एक स्वाभिभक्त सेवक के रूप मे लिया गया है। कतिपय उदाहरण देखिये—

सादूलो आपा समो बियो न कोय गिणत।
हाक बिडाणी किम सहे घण गाजियै मरत॥

—ईसरदास–हालाझालारा कुंडलिया —९

शार्दूल अपने सामने किसी दूसरे को कुछ नही गिनता। वह दूसरो की हुंकार तो सहे ही क्या? घन – गर्जन से ही मरता है।

केहरि छोटो बहुत गुण मोडै गयदा माण।
लोहड बडाई की करै नरा नरवत परमाण॥

—ईसरदास —हालाझालारा कुंडलिया —३४

सिंह छोटा होने पर भी बहुत गुणी होता है । वह हाथियों का मान-मर्दन करता है। इसी तरह नक्षत्रो के समान तेजस्वी पुरुषों के आगे हथियार की बड़ाई ही क्या हो सकती है ।

हिरण लावी सीगड़ी भाजण तणो सभाव ।
सूरा छोटी दातली दे थण थट्टा घाव ॥
—ईसरदास हालाझालारा कुडलिया–४०

अर्थात् हरिणो के सीग लम्बे होते हैं, पर उनका स्वभाव कायरो के समान भागने का होता है । सूअरो के छोटी दाती होती है, पर वे शत्रु-समूह को घायल कर देते हैं । अब सूर्यमल की वीर सतसई के कुछ नमूने लीजिए—

निधडक सुता केहरी, तो भी विमुहा पाव ।
गज गैंड़ा धीर न धरैं, वज्र पड़ै वधवाव ॥४८॥

भावार्थ. सिंह गहरी नीद मे सोया हुआ है तो भी हाथी और गैंडे धैर्य धारण नही करते, उनके पाव पीछे ही पड़ते है । उन्हे व्याघ्र गन्ध क्या जाती है मानो उन पर वज्र पड रहा है ॥ ४८ ॥

तुंडा गज फेटा तुरी, डाढां भड ओझाड ।
हेकण कैलि घू दिया, फौजा पाथर पाड ॥५७॥

भावार्थ शूकरने अकेले ही अपने तुंडो से हाथियो को, आघातो से घोडो को दाढो से योद्धाओ को चीर कर तथा फौजो का विस्तर सा बिछा कर उन्हे रौद डाला ॥ ५७ ॥

अब कविराजा वाकीदास का एक उदाहरण लीजिए—

अवर री उपग्राज सू, केहर खीज करत ।
हाक धरा ऊपर हुई, केम सहै वलवत ॥७॥
—वाकीदास –सिंह छतीसी

आकाश मे वादलो के गर्जन से सिंह खीज उठता है, उसी तरह शक्तिशाली धरती पर युद्ध का आह्वान होने पर कैसे रुक सकता है । ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्हे विस्तार भय से नही दिया जा रहा है । अब वृषभ या धवल संबधी उदाहरण देखें । कविराजा वाकीदासने तो धवल-पचीसी नामक एक छोटी रचना ही लिख दी है, जिसमे वृषभ को लेकर चौंतीस दोहे है [1] । वीर सतसई कारने भी धवल के इस प्रतीक का उपयोग किया है यथा—

धुर सूती रियाँ धवल, सकट हचक्का खाय ।
तिण रो वालो वाछड़ो, तडै खध लगाय ॥ ५६ ॥

भावार्थ. हा! बली वृषभ मर गया, अब धुरी जमीन पर गिर गई । शकट हिचके खा रहा है । किन्तु अहा ! उसी का यह जवान बछड़ा धुरी के कधा लगा कर टाढन लगा है ॥ ५६ ॥

---

१ देखिये—वाकीदास ग्रन्थावली–पहला भाग –पृ०३७–४५

'धवल पयंप रे थणी, की दुमना घण मार ।
ओडे घर रो आवगा, करू पहाड़ां पार ।। २६७ ।।

भावार्थ : श्वेत वृषभ कहता है कि हे स्वामी ! भार की अधिकता से उदास क्यों हो रहे हो ? मैं तुम्हारे घर का सारा भार अकेला ही वहन कर पर्वतो के पार कर दूंगा ।। २६७ ।।

हमने ऊपर देखा कि अपभ्रंश और डिंगल दोनों मे मुक्तक काव्य परम्पराओ का विकास एक सा ही हुआ है। कम से कम दोनो के विकास के पीछे कामकरने वाली वृत्ति एक सी है । इसी से भावसाम्य, शैली साम्य और अभिव्यक्ति साम्य है ।

अपभ्रंश कवियो मे एक ही पंक्ति को बार-बार प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति दीख पडती है। सभवत: इस पक्ति को बार बार प्रयुक्त करके पुनरावृत्ति सेप्रभावमयता मे वृद्धि हो जाती है । पुष्पदन्त के महापुराण मे से निम्न उदाहरण देखिये-

श्रोत्रिय कौन ?

वणि वाणि ज्जारउ जाणियउं किसियरु हलधारउ भाणियउ
सो सोत्तिउ जो गुणवरु महइ सो सोत्तिउ जो सुतच्चु कहइ
सो सोत्तिउ जो ण दुट्ठ भणइ सो सोत्तिउ जो णउ हसु हणई
सो सोत्तिउ जो हियएण सुइ सो सोत्तिउ जो परमत्थ रुइ
सो सोत्तिउ जो ण मासु गसइ सो सोत्तिउ जो ण सुयणि भसइ
सो सोत्तिउ जो जणु पहि थवइ सो सोत्तिउ जो सुतवें तवइ
सो सोत्तिउ जो सतहु णावइ सो सोत्तिउ जोण मिच्छु चवइ
सो सोत्तिउ जो ण मज्जु पियइ सो सोत्तिउ जो वारइ कुगइ

घत्ता— जो तिलकप्पासइं दव्वविसेसइं हुणिवि देवगह पीणइ
पसु जीव णि मारइ भारय वारइ परु जप्पु वि समुजाणइ'

अर्थात वाणिज्य मे जो रत हो उसे वैश्य समझो और जो खेती करते हैं उसे कृषक कहा जाता है। श्रोत्रिय वह है जो जिनवर को पूजता है, श्रोत्रिय वह है जो सम्यक तत्व का कथन करता है । श्रोत्रिय वह है जो दुष्ट वचन नही बोलता । श्रोत्रिय वह है जो पशुओ को नही मारता । श्रोत्रिय वह है जो हृदय से स्वच्छ है, श्रोत्रिय वह है जिसकी परमार्थ मे रुचि है, श्रोत्रिय वह है जो मास भक्षण नही करता । श्रोत्रिय वह है जो सुजन से बकवाद नही करता, श्रोत्रिय वह है जो मनुष्यो को रास्ते से लगाता है, श्रोत्रिय वह है जो सुतप का आचरण करता है, श्रोत्रिय वह है जो सतो को नमन करता है, श्रोत्रिय वह है जो झूठ नही बोलता, श्रोत्रिय वह है जो मद्य नही पीता, श्रोत्रिय वह है जो कुगति का वारण करता है, जो तिल कपास आदि द्रव्य विशेष का होम करके देवग्रह को प्रसन्न करता है, जो पशुओं और जीवो को नहीं मारता, मारने वालो को रोकता है और पर को अपने समान समझता है, वह श्रोत्रिय है ।

इस प्रवृत्ति का उपयोग डिंगल कवियो द्वारा बहुधा किया जाता रहा है। डिंगल गीतो की तो एक बडी विशेषता है[1]। पर अन्यत्र भी इस पद्धति का उपयोग देख पडता है। उदाहरण के लिए बांकीदास के ग्रंथ सूरच्छत्तीसी को देखिये।

सखी अमीणो साहिबा, बोहजूझो बलवंड।
मो थांम भुजदंड सूं, खड़हडतो ब्रहमंड ॥२७॥
सखी अमीणां साहिबो, सुणे नगारां त्रीह।
जावै पर दल सामुहो, ज्यूं सादूलो सीह ॥२८॥
सखी अमीणो साहिबो, वदन मनोहर गात।
महाकाल मूरत वणै, करण गयदा घात॥२९॥
सखी अमीणो साहिबो, बाकम सूं भरियोह।
रण विकसै रितुराज मे, ज्यूं तरवर हरियोह ॥३०॥
सखी अमीणो साहिबो, जम सूं मांडे जंग।
ओलै अ ग न राख ही, रणरसिया दे रंग ॥३१॥
सखी अमीणो साहिबो, गिणै पराई देह।
सर वरसै पर चक्र सिर, ज्यूं भादवड मेह ॥३२॥

अर्थात हे सखि! मेरा पति महायोद्धा है। वह अपने भुजाओं के बल लडखड़ाते हुए ब्रह्माण्ड को थाम लेता है। हे सखि मेरा पति नगारे की ध्वनि सुनते ही शत्रु सेना पर इस तरह टूट पडता है जैसे सिंह। हे सखी! मेरा पति कामदेव के समान मनोहर शरीर वाला है, परन्तु वह हाथियो पर आक्रमण करते हुए महाकाल सा भयकर बन जाता है। हे सखी! मेरा स्वामी पराक्रम से पूरित है। वह युद्ध में इस प्रकार शोभा पाता है, जैसे वसन्त मे वृक्ष। हे सखी! मेरा स्वामी युद्ध में यमका भी सामना कर लेता है। वह रणरसिक अपने शरीर को आड में नही छिपाता। वह धन्य है। हे सखी! मेरा पति अपने शरीर को भी पराई देह समझता है। पराई सेना पर उसके बाण इस तरह बरसते हैं, जैसे भाद्रपद मे वर्षा।

अपभ्रंश के अन्य गेय काव्यरूपो में से चाचरिका केवल एक नमूना मिलता है—जिनदत्त सूरिकी 'चाचरि' अथवा 'चच्चरी।' इस 'चाचर' मे भी 'रासा' छन्द का ही व्यवहार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चाचरि' कोई लोकगीत था और शायद उस गीत मे विशेष लय का छन्द व्यवहृत होता था, लेकिन लिखित साहित्य मे वह काव्यरूप की तरह मान लिया गया। हिन्दी मे कबीरदास के नाम से चलने वाले कुछ गीत 'चाचरि' के नाम से मिलते हैं। जिनदत्त सूरि की 'चाचरि' मे जैन धर्म के उपदेश हैं। जैसे —

जहि सावय तं बोलु न भक्खहि, लिति नय।
जहि पाण-हिय धरति, त सावय-सुद्ध-नय ॥

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिये —चौथा अध्याय

जहि भोयणु न सयणु, न अणुचिउ बइसणउ ।
सह पहरणि न पवेसु, न दुट्ठउ बुल्लणउ ।।

फाग भी इसी प्रकार का एक लोक गीत है जो वसन्त मे गाया जाता है। इसका विषय वसन्त के ही अनुसार होता है। यह परम्परा निश्चय ही काफी पुरानी होगी। अपभ्रंश के समय भी इसका प्रचलन था लेकिन इसका विषय ठीक-ठीक क्या था, यह जानने का साधन हमारे पास कोई नही है। जैन कवियो ने जिस विषय पर फाग लिखा है, उसमे उनकी अपनी धार्मिक विचारधारा का समावेश स्वाभाविक है। जिनपद्म सूरि का लिखा हुआ एक फाग 'थूलिभद्द' के चरित पर अब भी उपलब्ध है। इसमे प्राय: काव्य या रोला छन्द का व्यवहार किया गया है और तीन रोला के बाद दोहा का घत्ता दिया गया है। जैसे 'पावस वर्णन' के प्रसंग मे तीसरा रोला और दोहे का घत्ता इस प्रकार है —

सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते ।
माण-मड्फ्फर माणणिय तिम तिम नाचते ।।
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणंगणि मलिया ।
तिमतिम कामीतण नयण नीरहि झलहलिया ।।
मेहारव भर रूलटिय, जिमि जिमि नाचइ मोर ।
तिमतिम माणिणि खलभलइ, साहीता जिमि चोर ।।

राजस्थानी मे भी फाग संज्ञक अनेक रचनायें मिल जाती हैं। जैन लेखको द्वारा रचित जबुस्वामीफाग, जीरापल्ली पार्श्वनाथ फाग, पुरुषोत्तम पाच पाडव फाग, नेमिनाथ फाग आदि प्रमुख है। वैष्णव कवियो मे गुणवन्त रचित 'वसन्त विलास फागु' उल्लेखनीय है। यह रचना पूर्णत फाग कहलाने की अधिकारी है।[1]

कोई आवश्यक नही है कि अपभ्रश के जैन कवियो ने जिन जिन लोकगीतो को साहित्यिक रूप दिया था, उन्ही उन्ही लोकगीतो को डिंगल कवि भी अपनाएं। डिंगल काव्य-रूपो पर अपभ्रंश काव्यरूपो के प्रभाव का निर्णय इतने स्थूल ढंग से नही होना चाहिए। मुख्य प्रश्न है, उन काव्य-रूपो को अपनाने के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति का और वहा यह मनोवृत्ति है लोक प्रचलित गीतो का सामान्य रूप से साहित्यिक बनाने की, अपने आदर्शों के प्रचार के लिए अपनाने की। अपभ्रश के कवि इस दिशा मे डिंगल कवियो के पथ-प्रदर्शक हैं।

इस तरह अपभ्रश और डिंगल के कुछ काव्यरूपो के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुचते हैं कि इस क्षेत्र में अपभ्रंश की देन डिंगल को अधिक है।[2] स्थानाभाव से अधिक उदाहरण नही दिये जा रहे हैं।

---

१ गोवर्द्धन शर्मा : राजस्थानी कवि–खण्ड १-पृ० २६-३८
२ हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदिकाल - पंचम व्याख्यान

राजस्थानी साहित्य में कहानी के रूप मे रचित वातें बहुत संख्या मे उपलब्ध होती हैं। इन वातो में तुकान्त गद्य का प्रयोग बहुधा होता है। बीच बीच मे दोहे या अन्य छोटे मुक्तक छन्दो का प्रयोग होता है। जिसमे कथानक में एक विशेष मोड और भगिमा आ जाती है। कथाओ की यह शैली डिंगल की अपनी निजी शैली होने पर भी अपभ्रंशकथाओ का क्रमगत विकास है। प्रवन्ध चिन्तामणि एवं कुमारपाल प्रतिबोध की कथाओ मे भी यही परम्परा है। इसी प्रणाली का तर्कसगत विकास डिंगल की वात संज्ञक रचनाओ मे हुआ। अब भी जब कोई कथा कहने वाला अपनी कहानी सुनाता है, तो बीच बीच मे वह लोकप्रचलित दोहों की जड़ाई सी करता जाता है। जैसा प्रसग होगा, वैसा दोहा वह सुनाता चलेगा। पुरानी वातो में[1] व ख्यातों में यही चीज है।[2] जो वातें लिखी मिलती है, उनमे प्रसंगानुकूल पद्य अवश्य है। ख्यातो में भी ऐतिहासिक दोहे, गीत, कवित्त आदि प्रयुक्त किये गये हैं। विस्तारभय से अधिक उदाहरण नही दिये जा रहे हैं। हम पहले इसी अध्याय में सप्रमाण देख चुके हैं कि यह प्रवृत्ति प्राकृत अपभ्रंश से डिंगल मे अवतरित हुई है। अस्तु —

प्राकृत और अपभ्रंश का सबसे अधिक प्रभाव छन्दो के क्षेत्र मे पड़ा। प्राकृत साहित्य ने अपनी अलग से छन्दपरम्परा का उदय किया। हम देख चुके हैं कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य की छन्दःपरम्परा वर्णिक छन्दो की परम्परा है। संस्कृत

---

१ (अ) मेनारिया : राजस्थानी साहित्य सग्रह - भाग २
वात देवजी वगडावतारी - पृ० ११
प्रतापसिंघ म्होकमसिंहरीवात - पृ० १८, १९, आदि
वीरमदे सोनीगरारी वात - पृ० ८१, ९१ आदि
(ब) नरोत्तम स्वामी : राजस्थानी साहित्य सग्रह - भाग १
राजान राउतरो वात - वणाव - पृ० २६, ३०, ३२ आदि
(स) नरोत्तम स्वामी : राजस्थानी वाता भाग-१
वात सयंणी चारणीरी - पृ० १६-१७
वात जसमा ओडणीरी - पृ० २४, २५
वात वींझरे अहीर री - पृ० ८०, ८१
(द) सौभाग्य सिंह शेखावत: राजस्थानी वार्ता - भाग ५
राजा सुथीलरी वारता - पृ० २६
वीरचद मेहतारी वारता - पृ० ५७
भलै-भलो, वुरे वुरोरीवात - पृ० ७७, ७९
(ह) सौभाग्य सिंह शेखावत: राजस्थानी वार्ता - भाग ७
वात वाढेल कल्याणसिंघ नगराजोतरी - पृ० १५
रावत मोहकमसिंघ हरिसिन्घोतरी वात - पृ० ७९

२ बद्रीप्रसाद साकरिया : मुंहता नैणसीरी ख्यात - भाग १, पृ० १८, ५४, ५८ १८६, १९२

छन्दो की परम्परा मूलत: मात्रिक छन्दो की नही है। प्राकृत साहित्य अपना विकास लोकजीवन की भित्ति पर कर रहा था, फलत. उसने नृत्य तथा सगीत के आधार पर छन्दोविधान का आरम्भ किया। प्राकृत मे ही सर्वप्रथम मात्राछन्दो या तालच्छन्दो (ध्रुवाओं) का विवरण उपन्यस्त किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वैदिक छन्द या सस्कृत वर्णिक छन्द प्राकृत मे सर्वथा लुप्त हो गये थे। भरत के नाट्यशास्त्र में हमे प्राकृत भाषा मे निबद्ध गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती के उदाहरण मिलते हैं। इतना होने पर भी यह तो निश्चित है कि धीरे धीरे इनका प्रयोग कम हो चला है। प्राकृत की छन्द:परम्परा के लिये हमे 'स्वयम्भूछन्द', हेमचद्र का 'छन्दानुशासन', तथा 'प्राकृतपैंगलम्' से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ताल-छन्दो या मात्राछन्दो मे गणो या वर्णों का उतना ध्यान नही रखा जाता जितना प्रत्येक चरण, अर्धाली, या समग्र छन्द की मात्रात्मक सख्या का। प्राकृत मे इस प्रकार के छन्दो का अधिक प्रचार है, ये छन्द सस्कृत वर्णिक छन्दो की ही भांति अतुकान्त होते हैं। छन्दो के चरणो के अन्त मे तुक मिलाने की शैली का प्रचलन अपभ्रश काल मे चला है तथा तुकान्त छन्द अपभ्रंश छन्द. परम्परा के प्रतीक है। जिस प्रकार संस्कृत की छन्द:परम्परा का प्रतीक अनुष्टुप् है तथा अपभ्रंश छन्द:परम्परा का प्रतीक दोहा, वसे ही प्राकृत के अधिकाश मात्रिक छन्दो का मूलस्त्रोत है। प्राकृत के प्रमुख छन्दो में गाहा, गाहू, विगाथा, उद्गाथा, गाहिनी, सिहिनी, तथा स्कधक छन्द हैं। इनमे से 'गाहा' छन्द अपने भेदोपभेदो के साथ आर्या के रूप मे संस्कृत छन्दो मे संगीतात्मकता का अधिक समावेश हो गया, फलत: आगे चल कर शुद्ध प्राकृत छन्दो का प्रचलन कम हो गया, अपभ्रश कवियो ने प्राय: तुकान्त अपभ्रंश छन्दो को ही अपनाया है। किन्तु प्राकृत का गाथा छन्द फिर भी प्रयुक्त होता रहा और 'रासो' मे चन्दवरदाई तक ने इसका प्रयोग किया।[1]

गाथा की भाति अपभ्रश के ये दोहे अपने-आप में परिपूर्ण मुक्तक काव्यो के वाहन स्वीकार किये गये थे और सच पूछिये तो दोहा मुक्तक-काव्य का ही सफल-वाहन है। यह प्रबन्ध या कथानक के लिये उपयुक्त छन्द नही मालूम होता। ढोला-मारू के दोहे यद्यपि कथानकरूप में लिखे गये हैं, परन्तु वे वस्तुत: मुक्तक ही हैं। इसी कथानकसूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवी शताब्दी में दोहो के बीच-बीच में चौपाई जोड कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था। चौपाई छोटा छन्द है, वह कथानक को सहज ही जोड़ देता है। अपभ्रंशकाल के आरम्भ से ही इस छन्द के इस गुण को समझा जाने लगा था, परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति जानने मे कुछ समय लगा।[2]

शुरू-शुरू मे चौपाई की अपेक्षा अपभ्रंश मे पद्धड़िया का ज्यादा प्रचार था। जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने मे तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया

१ भोलाशकर व्यास : हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, खण्ड १, पृ० ३१०-३११

२ हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदिकाल - पृ० ९४

करते हैं उसी प्रकार स्वयभू ने चउम्मुह या चतुर्मुख को पद्धडिया का राजा बताया था। हरिवंशपुराण मे उन्होने कहा है कि पिंगल ने छन्द प्रस्तार, भामह और दण्डी ने अलकार, बाण ने अक्षराडम्बर, श्रीहर्ष ने निपुणत्व और चतुर्मुख ने छद्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धडिया दिया—

छद्दणिय दुवइ धुवएहि जडिय। चउमुहेण समप्पिअ पद्धडिय।[1]

यह तो हुई चौपाई की बात, घत्ता दोहे से भिन्न छन्द है। यह ६२ मात्राओ का छन्द होता है। प्रथम पक्ति मे १०, ८, १३ पर यति होती है और दूसरे चरण मे भी यही क्रम रहता है —

पढम दह वीसामो वीए मत्ताइं अट्ठाहं।
तीए तेरह विरई, घत्त मत्ताइं बासट्ठि॥

उदाहरण यह है –

रण दक्ख दक्ख हणु, जिणणु कुसुमधणु
अंधअ गंव विलास करु।
सो रक्खउ संकरु, असुर भयंकरु
गिरिणयरि अद्धंग धरु॥

परन्तु व्यवहार में घत्ता शब्द का व्यवहार छेदन के अर्थ मे ही होता रहा और कई बार काव्यो मे अरिल्ल या पज्झटिका के बाद उल्लाला या और कोई इसी तरह का 'द्विपक्तिलेख्य छन्द' दे दिया जाता था। अपभ्रंश के काव्यो में भी घत्ता के स्थान पर अन्य छन्दो का व्यवहार हुआ है।[2]

१–उदाहरणार्थ 'पउमसिरिचरिउ' में प्रथम संधि के घत्ते 'घत्ता' छन्द मे हैं। एक उदाहरण यह है –

पणमिवि जय सामिणि नय सुर कामिणि वागेसरि सिय कमल कर।
पणयहं सब्भावि जीए पभावि कविहि पयदइ वाणि वर॥१४॥

किन्तु द्वितीय संधि में दूसरा छन्द 'घत्ता' के लिये व्यवहृत हुआ है –

अवयरिउ गइंदह, कुमरु लोय लोयण सुहउ।
सहु वंधव लोएहि, संखु वि विसरिउ समुहउ॥३८॥

---

१ नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास - पृ० ३७१-७२

२ उदाहरणार्थ पुष्पदंतके 'णायकुमारचरिउ' की सातवी सन्धि के प्रथम कडवक का घत्ता यह है –

कुडिलंकुस वस एहि णिच्चमेव पडिवण्णउ।
हत्थियहि सोहइ दाणु जेहि संवंधणु दिण्णउ॥

फिर पउमसिरिचरिउ की बिईयसंधि के घत्ते इस छंद में हैं –

वंधव जण वल्लह गुरुयणि विणिय मयंद गइ।
लंघिय रयणयर राहव लक्खण दोवि नइं॥

२–कई अपभ्रंश काव्यो मे घत्ता को घत्ता छद मे ही लिखने का नियम कठोरता के साथ अपनाया गया है, पर सबमे उतनी कडाई नही दिखाई गई। कभी-कभी शुरू मे दुवई (द्विपदी) देकर अन्त मे किसी दूसरे छद मे घत्ता दिया गया है। णयकुमार चरिउ मे इस नियम का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। कभी छोटे-छोटे छदो मे भी कडवक लिखे गए है। इन सब नियमो का परवर्ती काल मे अनुसरण हुआ है। अनेक छन्दो मे कथा कहने की प्रथा केशवदास की अपनी चलाई हुई नही है। करकडु-चरिउ, णयकुमारचरिउ आदि मे छद बदलने की प्रवृत्ति मिलती है। वस्तुत: छन्दो के मामले मे अपभ्रंश बहुत समृद्ध भाषा कही जा सकती है। अस्तु –

दोहा का घत्ता अपभ्रश के कवियो मे एकदम अपरिचित तो नही था, जिन-पद्म सूरि के थूलभद्दफागु मे इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु प्रबन्धकाव्य मे चौपाई दोहा का क्रम बहुत लोकप्रिय नही हुआ। सम्भवत. पूर्वी प्रदेश के कवियो ने प्रबन्धकाव्य मे चौपाई और दोहा से बने कडवको का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियो ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था, परन्तु बीजरूप मे यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओ मे मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है —

अइसें विसन सधिको पइखइ। जो जइ अत्थि णउ जावन दीसइ।
पढिअ सअल सत्य वक्खाणइ। देहदि बुद्ध वसन्त ण जाणइ॥
गमणागमण न तेन विखणिडअ। तो वि णिलज्ज भणहि हउ पण्डिअ॥

जीवन्तह जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसे विमल मई,
सो पर धण्ण कोई।

चौपाई दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धो ने ही इस शैली मे लिखना शुरू किया था। पश्चिम मे पद्धड़िया-बध अधिक प्रचलित था और पद्धड़िया से कभी-कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था। जैसा ही जिनदत्त सूरि की चर्चरी के वृत्तिकार जिनपाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। किन्तु सब मिला कर चौपाई दोहा की पद्धति उधर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नही हुई।[1]

यही कारण है कि डिंगल मे भी जो अनेक दृष्टियो से अपभ्रंश की विशेषताओ को आत्मसात करके चली है—दोहा चौपाईवाली शैली का विशेष प्रचलन नही हुआ। डिंगल के प्रबन्ध काव्यो ने इस पद्धति को नही अपनाया। अपवाद के रूप मे पद्मनाभ रचित कान्हडदे प्रबन्ध को लिया जा सकता है जिसमे चउपई-दूहा पद्धति का अन्य छन्दो के साथ प्रयोग किया गया है। अन्य डिंगल ग्रन्थो मे यह प्रणाली नही मिलती। यद्यपि अपभ्रंश के आरम्भिक काव्यो मे चौपाई-जैसे कथानकसूत्र योजक

१ - हजारीप्रसाद . हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ० ९५-९६

छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपभ्रंश के लाड़िले छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था, पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्व बाद मे समझा गया।

धीरे-धीरे अपभ्रंश मे भी बड़े-बड़े छद लिखे जाने लगे। रोला, उल्लाला, वीर, कव्व, छप्पय और कुण्डलिया अपभ्रंश के अपने छन्द हैं। धीरे-धीरे अपभ्रंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गई। छप्पय और कुण्डलिया जैसे छन्दों को सभालकर वीरदर्प की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रौढता का सबूत है।

इस प्रकार हमने देखा कि छदो के क्षेत्र मे डिंगल अपभ्रंश की सर्वाधिक ऋणी है। सक्षेप मे अपभ्रंश मे छदो की दो विशेषताएं प्रमुख है। प्राय: अपभ्रंश कवियों ने अपने छदो का नाम भी यथास्थान दिया है। डिंगल कवि भी इसी प्रवृत्ति का पालन करते हैं। वैसे संस्कृत के महाकाव्यो मे छदो का नाम नही दिया रहता है। किन्तु अपभ्रंश काव्यो मे छदो का नाम बहुधा दिया रहता है। उनमे छन्द-नाम या तो छन्द के बाहर लिखा रहता है या छन्द के भीतर ही उसका उल्लेख किया जाता है, जैसे —

दुवई-चउविह गोउराइं चउदारइ णयरइं भूमि भूसणे।

—महापुराण–५–२१–१

रासो मे भी इसी तरह छन्दो के नाम उनके पहले दिये हुए हैं। शायद ही ऐसा कोई पद्य उसमें हो जिसके पहले छन्द का नाम न हो। अपभ्रंश मे छन्द के भीतर उसका नाम देने के उदाहरण ये हैं —

भुजगो वुहारंजणो णाम छन्दो चिर नन्दओ गिहवरो दाणइंदो।

—भविसयत्त कहा–१२–३

दिवायर चन्दणिवारियवामु। सुछन्दइं गंथिउ मोत्तियदामु।

—करकण्डु चरिउ -१-९-९

डिंगल की सभी रचनाओ मे प्रयुक्त छंदो का नाम छंद से पहले लिख दिया जाता है। उदाहरण के लिए देखिये—राजरूपक—पृ० ५१—जहां छंद चौसर, दूहा और छद वेअक्खरी प्रयुक्त हुए है, सभी का नाम दे दिया गया है। रघुनाथरूपक गीतारों, रघुवरजसप्रकाश, रामभरासो, सूरजप्रकाश, रणमल्लछंद, वीरवाण आदि सभी डिंगल ग्रंथो मे प्रत्येक छन्द पर उसका नाम अथवा शीर्षक दिया हुआ है।

अपभ्रंश छन्दो की दूसरी विशेपता यह है कि इनमें अन्त्यानुप्रास का प्रयोग मिलता है। इस प्रवृत्ति का संस्कृत मे भी प्राय: अभाव था और प्राकृत मे भी। यह अपभ्रंश कवियो की अपनी सूझ थी। हिन्दी छन्दो मे यह प्रवृत्ति अपभ्रंश छन्दो से ही आई।

अपभ्रंश कवियो ने जहां प्राचीन वर्णवृत्तो का प्रयोग किया वहा उनमे एक नवीनता भी उत्पन्न कर दी। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मालिनी छन्द देखिये—

खलयण सिरसूलं, सज्जणाणंद मूलं ।
पसरइ अविरोलं, मागहाण सुरोलं ।।
सिरि णविय जिणिदो, देइ वाय वीणदो ।
वसु हय जुइ जुत्तो, मालिणी छन्दु वुत्तो ।। सुद०च०३४

संस्कृत के पिंगल शास्त्र के नियमो के अनुसार जहा यति होनी चाहिए वहा पर भी कवि ने अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर मालिनी के एक चरण के दो चरण बना डाले। इस प्रकार सम चतुष्पद मालिनी अर्धसम अष्टपद मालिनी वन गई। प्राचीन रूढि को उसी रूप में स्वीकार न कर उसमे परिवर्तन लाकर नवीनता उत्पन्न करने की प्रकृति अपभ्रंश कवियो मे स्वभाव से ही थी।

अपभ्रंश कवियो की इसी प्रवृत्ति के निम्नलिखित दोहे मे भी दर्शन होते हैं।

सीत रयणु वय किंति घरु, सव्व गुणे हिं सउण्णु ।
सो धणवंतउ होइ णरु, सो तिहुयण कय पुण्णु ।।

-सुलोचना चरिउ १८-११

वर्णवृत्तो मे भी इन कवियो ने नियमो का कठोरता से पालन नही किया। एक दीर्घकाल अक्षर के स्थान पर दो लघु अक्षरो का प्रयोग करके भी वर्णवृत्तो का निर्वाह कर लिया गया है। जैसे –

अस्सथामो मुऊ तेहि ता उत्तऊ ।
मुच्छिऊ दोणु धणु बाणु हत्थह चुऊ ।।
चेयणा लहिवि कस्सा वि णउ पत्तिउ ।
सच्च वई य तउ धम्म सुउ पुच्छिउ ।।
सच्चु कहि पुत्त किं मज्झ पुत्तो मुऊ ।
कण्ह सिक्खाइ णरणाहु ता जंपिउ ।।
मुउ ण तुह णदणो किं तु गउ दिट्ठऊ ।
अस्सथामुक्ति णामेण रणि णिट्ठिउ ।।

-यशः कीर्ति कृत हरि० पु० ११-९

इस चार रगण स्त्रग्विणी या कामिनी मोहन छन्द मे रेखाकित अक्षर एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर प्रयुक्त किये गये है।

अपभ्रंश कवियो ने अपनी उपरिनिर्दिष्ट प्रकृति के अनुसार अनेक नवीन छन्दो की सृष्टि की। इसके लिए उन्होने नए-नए छन्दो का निर्माण किया। दो छन्दो के मेल से बने अनेक सकीर्ण–वृत्तो का उल्लेख छन्दकोषो मे मिलता है। अपभ्रंश में सकिर्ण-वृत्त उल्लाला, दोहा, गाथा, आभाणक मात्रा, काव्य (रोला)

और कामिनी मोहन के मिश्रण से बनाये गये है। कुण्डलिक (दोहा काव्य) चन्द्रायन (दोहा कामिनी मोहन), रासाकुल (आभाणक या प्लवगम उल्लाला), रड्डया वस्तु(मात्रा दोहा).छप्पय(काव्य उल्लाला) इत्यादि इसी प्रकार के छन्द है।'[1]

डिंगल के कवियो मे भी इसी प्रकार नये नये छंद गढ़ने की प्रवृत्ति मौजूद है। एक दोहा और एक चद्रायणा छद को मिलाने से नया डिंगल छन्द झमाल बन गया। इस मेल में दोहे और चंद्रायणा में सिंहावलोकन है, अर्थात दोहे का अंतिम शब्द चद्रायणे के आदि में आता है।[2]

उदाहरण देखिये[3] —

अति ऊंचा तियरे उरज, वणिया विसवा वीस।
जोड़े लागे जनत मे, गिर गज कुम्भ गिरीस॥
गिर गज कुभ गिरीस प्रवीणा गाविया।
सुवरण वरण मुढंग कठोर सुहाविया॥
सोहै अ गिया ओट हरी रंग साज मे।
दुटिया चकवा दोय सिवाल समाज मे॥१७॥

डिंगल के अनेक गीत इसी प्रकार रचे गये हैं। विपद विवेचन के लिए कृपया परिशिष्ट १- डिंगल गीतो का छन्दशास्त्रीय अध्ययनदेखिये। इसी प्रकार डिंगल मे अनुप्रास तथा उसके स्थान के आधार पर दोहे के तेवीस भेद कर दिये गये है[4]। इसी प्रकार बावीस छप्पय[5] चार कुन्डलिया[6] और २६ प्रकार के गाथा छन्द माने गए हैं[7]। यह भेदोपभेदो की वृत्ति और नवीन छन्दो के निर्वाह की प्रवृत्ति डिंगल काव्य की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार हमने देखा कि डिंगल के काव्यरूप, छदपद्धति, वस्तुविन्यास और भावव्यन्जना सभी अपभ्रंश के निकट है। अपभ्रंश की परम्पराए ही कालांतर मे डिंगल के रूप मे विकास पा गई है। यह बात सही है कि डिंगल के कवियो को अपने आश्रयदाताओं की गुणगाथा गाने मे संस्कृत परम्परा मे, विशेषकर पौराणिक परम्परा से बड़ी प्रेरणा मिली है, फिर भी प्राकृत अपभ्रंश की परम्पराओ ने डिंगल साहित्य के अन्तरग और बहिरग दोनो का निर्माण किया है।

---

१ वेलणकर : अपभ्रंश मीटर्स — जर्नल आफ युनिवर्सिटी आफ बाम्बे—नवम्बर १९३३-पृ० ३२ - ६९
२ अयाचक व खारेड : बांकीदास ग्रथावली—भाग ३, पृ० ४३
३ बांकीदास : जमाल राविका सिखनख वर्णन - पद सं० १७
४ सीताराम लालस : रघुवर जसप्रकास - पृ० ६२ - ७०
५ वही - पृ० ९३ - ११०
६ वही - पृ० १११ - ११३
७ वही - पृ० ७६ - ८४

६

उपसंहार

प्राकृत और अपभ्रंश दोनो भाषाओका अध्ययन तो भाषागत आधारोपर अनेक देशी-विदेशी विद्वानो ने किया है किन्तु उनके साहित्यो का विस्तृत अध्ययन प्रायः नही हो पाया। प्राकृत साहित्य का वैज्ञानिक सलग इतिहास अभी भी लिखा जाना बाकी है। अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन डा० हरवशलाल कोछड़ ने किया है, जो 'अपभ्रंश साहित्य' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन दोनो भाषाओ की साहित्यिक परम्पराओ का विधिवत अध्ययन आधुनिक आर्यभाषाओ की साहित्य-परम्पराओ को समझने के लिये अनिवार्य है। इस प्रकार का प्रयत्न डा० रामसिंह तोमर व डा० नामवरसिंह द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया गया है। डा० तोमर का प्रबन्ध तो अभी भी अप्रकाशित है। इन पक्तियो के लेखक ने उसे भी मंगा कर देखा है। नामवरसिंह ने 'अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य के विकास मे योग' नामक निबन्ध द्वारा प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डाला है। परन्तु डिंगल साहित्य जो कि अपभ्रंश साहित्य का सबसे प्रमुख उत्तराधिकारी है, इस दृष्टि से उपेक्षित रहा। यहा हमने प्राकृत और अपभ्रंश की साहित्यिक परम्पराओ के सन्दर्भ मे डिंगल साहित्य की प्रवृत्तियो को परखने की चेष्टा की है, और इस प्रकार से प्राकृत, अपभ्रंश और डिंगल से राजस्थानी तक की साहित्यिक शृंखला की कडिया व्यवस्थित करने का प्रयास किया है।

पहला अध्याय प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास को लेकर है। जिसमे प्राचीन और आधुनिक व्याकरणो, भाषाविदो और शोधकर्ताओ द्वारा अब तक किये गये कार्य के आधार पर सक्षिप्त विकासरेखा प्रस्तुत की गई है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक परिवेश मे प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास को सविस्तार समझा गया। प्राकृत का आद्यावधि उपलब्ध साहित्य ६०० ई० पूर्व से आरम्भ होकर १८०० ई० तक आता है। परन्तु मूलत उसका काल ६०० ई० पूर्व से ६०० ई० तक रहा है। शिलालेखी प्राकृत, बाहिर्भारतीय प्राकृत, धार्मिक प्राकृत, वैयाकरणो की प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत, नाटकीय प्राकृत, मिश्र सस्कृत या गाथा डायलेक्ट, सभी पर सक्षेप मे सप्रमाण विचार किया गया। विशेषत प्राकृत साहित्य की प्रमुख कृतियो—यथा समराइच्च कहा, धूतरिख्यान, कथाकोष-प्रकरण, कथा महोदधि, ज्ञानपचमी कहा, तरगवती कथा, सिरिसिरिवाल कहा, पउम चरिउ,

सेतुबन्ध, गौडवहो, गाथा सप्तशती, वज्जालग, लीलावई कहा आदि का विषय की अनुकूलता के आधार पर अध्ययन किया गया। नाटकीय प्राकृत और प्राकृत मुक्तकों की परम्परा को ठीक से समझने की चेष्टा की गई।

दूसरे अध्याय में अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास को समझने की चेष्टा है। इस अध्याय मे 'अपभ्रंश' सम्बन्धी विचार-विमर्श व्यापकता से किया गया है, क्योंकि हमारे डिंगल साहित्य की अधिकाश प्रवृत्तियो के सूत्र हमे यही पर दीख पड़ते हैं। अपभ्रंश, अवहट्ट और देशी सज्ञाओ को लेकर सप्रमाण व्याख्या की गई है और विकासपरम्परा निश्चित की गई। चरिउ, कहा, रासक, रास, चर्चरी, फागु, लता, वेलि, रसायन, प्रकाश, कौमुदी, संकीर्तन, विलास, विजय रूपक आदि नाम देकर प्रशस्तिमूलक प्रवन्धकाव्य लिखने की परम्परा का प्रादुर्भाव इसी युग मे हो गया था। अपभ्रंश और अवहट्ट की प्रमुख कृतियो यथा पउम चरिउ, महापुराण, भविसयत्त कहा, हरिवशपुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, जवुसामि चरिउ, सुदंसण चरिउ, करकडु चरिउ, पउमसिरि चरिउ, सुकुमाल चरिउ, सदेशरासक, कीर्तिलता, पाहुडदोहा, सावयधम्म दोहा आदि पर विस्तार से काव्यरूपो के आधार पर प्रकाश डाला गया। इसी प्रकार अपभ्रंश के मुक्तक काव्यपरम्परा का विकासात्मक व गुणात्मक अध्ययन किया गया। अपभ्रंशगद्य की विशेषताओ को भी परखा गया।

तीसरे अध्याय मे डिंगल और उसके साहित्य का विवेचन है। डिंगल सम्बन्धी समस्त समस्याओ पर सप्रमाण विचार किया गया है और निर्णय लिया गया है। साथ मे तत्कालीन परिस्थितियो के परिवेश मे डिंगल साहित्य का विकासात्मक अध्ययन किया गया है। प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनो प्रकार के ग्रथो की समीक्षा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से की गई। चारण-भाटो के साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख प्रवन्ध-काव्यो पर विचार किया गया। रासो, प्रकाश, विलास, रूपक, वेलि आदि सज्ञावाली रचनाओ के विभिन्न आधारो का अध्ययन कर इस नामकरण की विशेषताओं को परखा गया। डिंगल के इस काव्यरूप का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया। साथ ही मुक्तक के रूप में दोहे तथा अन्य छदो को लिया गया। डिंगल गीतो के रूप-विन्यास को लेकर भी चर्चा की गई। अपने इस अध्ययन मे उन रचनाओ पर भी विचार किया गया जो भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से पिंगल की रचनाए हैं, किन्तु जो डिंगल काव्यरूपो के अध्ययन के लिए उपयोगी है। ऐसी रचनाओं मे पृथ्वीराज-रासो और वशभास्कर है जिनकी भाषा और शैली अनेक स्थलो पर डिंगल से अभिन्न हो जाती है। श्रीधर का रणमल्ल छद, कल्लोलकृत ढोलामारूरादूहा, बीठू सूजाजी रचित राव जैतसीरो छद, केशवदासकृत गुण रूपक, पृथ्वीराज की वेलि क्रिसन रुकमणीरी, साया झूला रचित नागदमण और रुक्मणी हरण, माधोदास का रामरासो, किशोरदास प्रणीत राजप्रकाश, जग्गाजी रचित रतन रासो, जोगीदास का हरिपिंगल प्रवन्ध, वादर का वीरमायण, करणीदानकृत सूरज-प्रकाश, किसनाजीआढा रचित रघुवर जस प्रकाश, पद्मनाभ लिखित कान्हडदे प्रवन्ध, खेतसी का भाषा भारत, वीरभाण

कृत राजरूपक, मंछाराम का रघुनाथरूपक आदि ग्रंथो पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया। राजस्थानी गद्य का विकास भी पूरी तरह समझा गया। ख्यात, वात, प्रसग, वचनिका, दवावैत, दासतान, इतिहास, भट्टाउलि आदि रूपो का विस्तृत अध्ययन किया गया।

चौथा अध्याय डिंगल की प्रधान प्रवृत्तियो और काव्यरूपो को लेकर चलता है। 'रासो' काव्यरूप का विकासात्मक अध्ययन किया गया। प्रबन्ध, प्रकाश, विलास, रूपक, छंद, वेलि आदि विभिन्न नामो से पुकारी जाने वाली रचनाओ का अध्ययन कर डिंगल प्रबन्धकाव्यो के स्वरूप के बारे मे कुछ निष्कर्ष निकाले गये। पवाडा नामक काव्यरूप की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि उसे भी वीरचरितात्मक खण्डकाव्य के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। ब्यावलो, आख्यान, मगल आदि नाम भी प्रबन्ध काव्यो के ही है। प्रबन्धकाव्यो से सर्वथा भिन्न किन्तु एक विशेष प्रयोजन को लेकर चलने वाले भी अनेक काव्य ग्रन्थ डिंगल मे उपलब्ध हैं। इनमे से कुछ तो ऋतुकाव्य हैं यथा फाग, बारामासी व सदेसो और कुछ एक ही विषय पर लिखित मुक्तको के संग्रह हैं—जैसे बाकीदासजीके अनेक ग्रन्थ। डिंगल मुक्तको के दोनो प्रकारो—यथा दोहो, कवित्त, कुण्डलिया आदि तथा डिंगल गीतो का सागोपाग अध्ययन प्रस्तुत किया गया। डिंगल गीत डिंगल साहित्य की अपनी विशेषता है जो अन्यत्र उपलब्ध नही है। डिंगल के विभिन्न गद्यरूपो ख्यात, वात, दवावैत, वचनिका, संवाद, आख्यान आदि विधाओ का विस्तृत अध्ययन किया है और डिंगल की प्रमुख विशेषता 'वयण-सगाई' पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

पाचवां अध्याय प्राकृत व अपभ्रंश के डिंगल साहित्य पर पडे हुये प्रभाव का मूल्याकन करता है। प्राकृत और विशेषकर अपभ्रंश के विभिन्न काव्यरूपो और कृतियो के आधार पर डिंगल रचनाओ की परीक्षा की गई। अपभ्रंश के विविध-काव्यरूपो मे से कुछ का सम्बन्ध सीधी जनता से रहा, इसलिए जब समयानुसार भाषा मे विकास हुआ तो ये काव्यरूप परवर्ती भाषा मे भी प्रयुक्त होने लगे। यही कारण है कि डिंगल के अधिकाश काव्यरूपो की परम्परा अपभ्रंश से जोडी जा सकती है। दोनो प्रकार की रास परम्परायें, प्रेमाख्यानक पद्धति, लोकजीवन से सम्बन्धित मुक्तक, तुकान्त-गद्य ये सभी डिंगल को अपभ्रंश के द्वारा दाय मे मिले है। ऋतु वर्णन, ध्वन्यात्मक भाषा का प्रयोग, दीर्घसूचिया देने का रिवाज और युद्ध वर्णन करने की पद्धति की परम्परा अपभ्रंश के द्वारा ही आई है। अपभ्रंश की पुराने छदो को मिला कर नवीन छंद गढने की प्रवृत्ति का डिंगल में खूब प्रचलन हुआ। समानताओ और असमानताओ दोनो पर विस्तृत विचार किया गया है।

इस समूचे अध्ययन से भारतीय साहित्य परम्परा की अखण्डता का बोध होता है। वस्तुत: डिंगल साहित्य का विकास ही प्राकृत: अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा

से हुआ। वह केवल प्रभावित है, ऐसा कहना उचित नही। हम पीछे देख चुके हैं कि अपभ्रंश भाषाएं ही आधुनिक आर्यभाषाओ मे विकसित हो गई, उसी प्रकार अपभ्रंश की साहित्यिक धाराओ से ही डिंगल काव्य धाराओ का विकास हुआ। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अपने ढग का पहला प्रयत्न है और विद्वानो के ध्यान और सहृदयता की अपेक्षा करता है।



परिशिष्ट (क)

डिंगल गीतों का छन्द शास्त्रीय अध्ययन

डिगल छन्द

यहा डिगल के पिगल अथवा डिगल भाषा के स्वरूप की चर्चा करने का इरादा नही है। इस प्रकरण के सम्बन्ध मे इतना कहना ही काफी होगा कि हिन्दी से भिन्न एक डिगल भाषा है, जिसमे भाट चारण कविता करते थे। और इस डिगल के पिगल को भी डिगल कहा जाता रहा है। रणपिगल भाग तीसरे मे डिगल के छंद दिए हुए है जिनके उदाहरण गुजराती और डिगल मे है। ये गुजराती उदाहरण मुझे इतने उपयुक्त नही लगे अत. प्रस्तुत निबन्ध मे अधिकाश स्थानो पर डिगल के प्रामाणिक छद-ग्रथ रघुनाथ-रूपक गीतारो से उदाहरण दिये गये हैं। ऐसा करने मे मैंने जाति-छदो के विवेचन की पद्धति का ही अनुकरण किया है। यहा विवेचित छदो के नाम डिगल के विशेष नाम है, ये नाम कही कही जाति-छदो मे भी प्रयुक्त होते है, किन्तु वहा उनसे नितान्त भिन्न अर्थ लिया गया है। उन्ही नामो से डिगल मे दूसरा अर्थ द्योतित होता है। पहले षोडशी रचनाएं लेता हूं।

प्रथम दुमेल

दशरथ नृप भवण हुआ रघुनन्दण,
कवसल्या उर दुष्ट निकन्दण।
रूप चतुरभुज प्रकटत रीधो,
दरसण निज मातानै दीधो।।

—रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० ६०

डिंगल की एक विशेषता यही ध्यान मे ले लेनी चाहिए। वह यह कि उसमे अधिकाश छदो मे आरम्भिक द्वाले अथवा चरण मे दो या तीन मात्राए अधिक आती हैं। ये अधिक मात्राए मात्र आरम्भिक चरण मे ही आती है, पीछे के चरणो मे नही आती। गीत की ललकार प्रारम्भ करते समय ये अधिक मात्राएं गद्य मे बोली जाती होगी, ऐसा मैं मानता हूँ।

ऊपर के दुमेल मे पहले चरण मे दो मात्राएं अधिक है, उन्हे छोड़ कर सभी चरण सोलह मात्राओ और चार चतुष्कल के है और उनके अन्त का कोई एक ही प्रकार का लगात्मक रूप निश्चित नही। पहले की दो पक्तियो मे अन्त्य-सधि गा ल ल है, दूसरी दो पक्तियो मे गा गा है। आगे ल ल गा भी आता है। प्रास या तुक दो दो पक्तियो मे है, इस तथ्य को लक्ष्य मे रखना आवश्यक है क्योकि मात्र प्रास के अन्तर के कारण डिगल के कवियो ने छदो को नई संज्ञाए दी हैं। इसकी उत्थापनिका है—

दादा दादा दादा दादा[1]
दादा दादा दादा दादा[2]

एक और दो चतुष्कलो का प्रास । इसके बाद पालवणी पर विचार करेंगे ।

पालवणी

पुलियो नंह चाप कंथ तोपाणी,
धाम जनक मिलिया रजधाणी ।
हतो कठै पोरस कुल हाणी,
अब तैं सिया दगैकर आणी ।।

—वही पृ० १६६

दुमेल और पालवणी मे मात्र इतना ही अन्तर है कि जहा दुमेल में दो-दो पंक्तियो का प्रास होता है, वहा पालवणी मे चारो चरणो मे एक ही प्रास होता है । इसी प्रास के आधार पर दुमेल को अर्धपालवणी के नाम से भी पुकारा जाता है । इसमे भी प्रथम पक्ति मे दो मात्राएँ अधिक आती हैं । इसी पालवणी के तीसरे चरण को प्रासमुक्त रख, पहले, दूसरे और चौथे चरण का एक ही प्रास रखने से झडलुपत गीत हो जाता है । झड का अर्थ डिंगल मे पद होता है । इसमे एक पद मे अर्थात् तीसरे चरण मे प्रास लुप्त होता है, इसी से इसका नाम झडलुपत हुआ ।

झडलुपत

डेरा रोपया उत्तर दिस डारण,
मन वहचै लंकेसुर मारण ।
वले विचार करे लिषमीवर,
धरे जनम मरजादा धारण ।।

—वहीं पृ० १७८

इसमें भी प्रथम पक्ति मे तीन मात्राएँ अधिक होती हैं, ऐसा रूपक मे उल्लेख है । किन्तु तीन मात्राएँ इस उदाहरण मे अधिक नही हैं, अत: या तो प्रस्तुत उदाहरण ठीक नही है अथवा नियम में अन्तर होना चाहिए । रणपिंगलकार पहली पक्ति मे दो ही मात्राएँ अधिक हो, ऐसा निर्देश करता है और उदाहरण 'डेरा रोपिया उतर दघ टारण' देता है । इसे प्रामाणिक माना जाना चाहिए ।

ईलोल

मन्दोदर ! भोलै भूलमती,
जल आसी वारध लाधजती ।
जल आयर वारध लाघजती,
मुंह मढै भोलै भूलमती ।।

—वही पृ० १६६

इसका लक्षण है—प्रत्येक पक्ति मे चार चतुष्कल, अन्तिम चतुष्कल सगण अर्थात् ल ल गा, चारो ही पक्तियो का एक ही प्रास, और दूसरी पक्ति के शब्दो की तीसरी पक्ति मे पुनरावृत्ति । उत्थापनिका नीचे अनुसार होगी —

। । । ।
दा] दादा दादा गालल गा

अन्त मे गुरु, पीछे की पंक्ति के साथ मिल कर चतुष्कल का निर्माण करता है । उल्लि-खित पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति डिंगल के अनेक छन्दो मे मिल जाती है ।

उमंग

कटिया श्रुतनाक लिया कर मे,
रचना कह सूपनखा घर मे ।
नारी इक वीर उभै नर मे,
तिसडी न लखी सुपनन्तर मे ।।

—वही पृ० १३३

रघुनाथ-रूपककार के अनुसार सोलह मात्रा, अन्त मे गुरु और चारो ही पंक्तियो मे एक ही प्रास उमंग का लक्षण है । परन्तु पाठ करके देखने पर इसमे भी ईलोल के समान ही पहले निस्ताल दा आता है । अन्तर मात्र इतना है कि ईलोल के अन्त मे गालल गा आता है, इसमे अन्त मे दादा गा होता है । उत्थापनिका —

। । । ।
दा] दादा दादा दादा गा

साथक अडल

दासरथी लिखमण सुत दशरथ,
दोऊ सुणे सिधारे दसरथ ।
दीह उचाटी कीधे दशरथ,
दीधो प्राण पछाडी दशरथ ।।

—वही पृ० ११२

यह चार चतुष्कलो की सोलह मात्राओ की सादी रचना है । इसकी एकमात्र विशेषता यही है कि एक ही चतुष्कल शब्द हर पक्ति के अन्त मे आता है । इसका एक दूसरा रूप भी है । यथा —

निरखे अवासा भर निजर,
नह देखै दशरथ नृप निजर ।
निज देखे नह बंधव निजर,
नर दीठा विलख्या सह निजर ।।

—वही पृ० ११३

पहले उदाहरण और इसमे फर्क इतना ही है कि यहां अन्त्य चतुष्कल की एक मात्रा खंडित है और वह त्रिकल नगण बन जाता है जो चारो पंक्तियो मे प्रयुक्त होता है। अब सेलारछन्द पर विचार किया जाय।

सेलार

तपसीरो रूप धरे अतताई,
अडंग कुटी गइ सीत उठाई।
सियल पुकारी साद सुणीजैं,
कीजैं हो हरि ! बाहर कीजैं॥

—वही पृ० १३५

यह भी एक चतुष्कल, सोलह मात्रा की रचना है। दुमेल के सदृश्य इसकी पहली पंक्ति में दो मात्रा अधिक होती हैं। अंतिम अर्थात् चौथे चरण मे विधि नाम का शब्दालंकार प्रयुक्त होता है। विधि नामक इस शब्दालंकार के सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी नही मिलती। रणपिंगल मे विधि शब्द का प्रयोग न कर मात्र शब्दालंकार का उल्लेख है। (पृ० ७४) रघुनाथरूपककार ने जो गीत उदाहरण-स्वरूप दिया है, उसमे प्रत्येक पद के अंतिम चरण में 'कीजैं हो हरि ! बाहर कीजैं', 'धीरो रे आयो हूँ धीरो', 'भागो रे नभ मारग भागो', 'दीजो रे प्रभुनूं सुद दीजो', 'छोडे रे तन सील न छोडे' इस प्रकार आता है। इसके सहारे विधि अलंकार की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार सामान्य द्विरुक्ति से उत्पन्न प्रभाव के आधार पर डिंगल ने नये छन्द बनाये हैं। अब डिंगल का सवैया छन्द लिया जाय जो हिन्दी के बहुप्रचलित सवैया मे भिन्न है। नीचे डिंगल के सवैये का उदाहरण देखिये।

सवैयो

परहस्त पटे, कर झूंझ कटै।
मिदवाण भटे, हदमाण हटे।
रतकुंभ जगावण राण रटे।

—वही पृ० १९८

रघुनाथरूपककार के अनुसार इसमे दो दो सगण के चार पद आते हैं और पांचवा पद सोलह मात्राओ का मिलता है तथा पाचो पदो के प्रास मिलाये जाते हैं। किन्तु अंतिम पंक्ति के स्वरूप को देखते हुए इसे सोलह मात्राओ की त्रिपदी मानना उचित जान पडता है। इसकी उत्थापनिका निम्न होगी —

ललगा ललगा' ललगा ललगा।
ललगा ललगा' ललगा ललगा।
ललगा ललगा ललगा ललगा।

इस प्रकार की अन्तर-प्रासयुक्त त्रिपदी अन्यत्र विरल है। इसके बाद त्र्यंबको छन्द पर विचार करेंगे। उसे मैं अपने ढंग से इस प्रकार लिखना चाहूँगा।

त्र्यवको

पूछी मा आगल् आय प्रभा।
पितु वधु न दिसे अंग प्रभा।
सज-राज न रंग न रंग नरा, गन राज न रगन राज सभा।

पुत्तर वर माग्यो नृप पास।
यह सो सुत ओ लिय तिण पासं।
श्रीराघव लिखमण लिखमण रघव, राघव लिखमण वनवासं।

रघुनाथरूपक के अनुसार त्रवका गीत मे प्रत्येक चरण मे सोलह मात्राएँ होती हैं। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण मे प्रास होता है। तीसरे चरण मे आदि मे दो मात्राएं, मध्य मे दो चतुष्कल और अत मे एक षटकल रहता है। तीसरे चरण मे जो चतुष्कल हो वही पलट कर चौथे चरण मे आये। इस प्रकार इसे चतुष्पाद रचना गिना गया है। किन्तु मैं इसकी गणना त्रिपाद मे करता हू। तीनो चरणो में एक ही प्रास आता है, पहली दो पक्तिया चार चतुष्कल, सोलह मात्राए लिये होती है, तीसरा चरण आठकल की वत्तीस मात्राओ की ऐसी पक्ति होती है जिसमे शब्दो का पुनरावर्तन होता है। पुनरावृत्ति की यह पद्धति डिंगल मे वहुत प्रचलित है। डिंगल के अधिकाश छन्द ललकार के साथ पढे जाते है अत· उनमे नाद-सौन्दर्य और प्रभावशीलता उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार शब्दो अथवा ध्वनियो की आवृति की जाती है। त्रंवको की उत्थापनिका निम्न होगी —

```
       ।    ।    ।    ।
दा ]  दादा दादा दादा गा
       ।    ।    ।    ।
दा ]  दादा दादा दादा गा
       ।    ।    ।    ।    ।    ।    ।    ।
दा ]  दादा दादा दादा दादा दादा दादा दादा गा
```

तीनो ही पक्तियो के अन्त मे एक ही प्रास।

डिंगल छन्दशास्त्र मे षोडशी से भी अधिक लम्बी रचनाओ को सोलह मात्राओ के आधार पर ही निरूपित किया गया है किन्तु मैं अपने तरीके से उनका अध्ययन करूगा। सवसे पहले हम त्रवकडो पर विचार करेंगे।

त्रवकडो

अंगद मेलियो सद दूत अपपर, वल अकला मजवूत वडालो।
वप सिणगार धूत खल वैठो, रचे सभा अदभूत रढालो।।

—वही पृ० १७९

दुमेल मे जिस प्रकार गीत के प्रथम चरण मे तीन मात्राएं अधिक आती हैं, ।
उसी तरह यहा भी तीन मात्राए अधिक होती हैं। उसके वाद दादा के आठ आवर्तन

होते है। सोलह मात्राओ पर यति आती है। 'अ ग' जतना अंश गद्य मे बोल कर चतुष्कल पाठ करने से ठीक बत्तीसा सवैया ज्ञात होता है। यद्यपि डिंगल छन्द-शास्त्रियो ने इसे सोलह मात्रा का चतुष्पाद छन्द माना है, मैं इसे बत्तीस मात्राओ का छन्द गिनता हू अत: मेरे निरूपण के अनुसार यह छन्द द्विपाद बन गया है। अन्य बत्तीस मात्राओ वाले गीतो के निरूपण की मेरी पद्धति यही है, अत: उनमे भी चतुष्पाद छन्द द्विपाद के रूप मे ही ग्रहीत है। अब छोटो साणोर पर विचार किया जाय —

छोटो साणोर

एकण दिन अमर सकल मिल आया, करी अरज सांभल् करतार।
राज बिना मारै कुण रावण, भू रो कवण उतारै भार॥ १॥
इला सखत मडियो असुराणो, सकट जी रो अकथ सहां।
दीनानाथ! तुझ बिन दुखरी, किणने जाय पुकार इ कहा॥ २॥

—वही पृ० ९८

इस गीत के प्रथम चरण मे दो मात्राए अधिक हैं। रघुनाथरूपककार के अनुसार तीन मात्राएं अधिक होनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा नही है। छोटो साणोर गीत के चरण विकल्प से इकतीस और तीस मात्राओ के होते है। इकतीस मात्राओ का चरण होने पर आठवी सधि गाल आता है व तीस मात्राओ का चरण होने पर आठवी संधि गा आता है। साणोर के चार प्रकार हैं। पहला वेलिया गीत हैं जो इकतीस मात्राओ का गा लान्त छन्द है और दूसरा है सोहणो जो तीस मात्राओ का गान्त छन्द है। इन दोनो के उदाहरण देने की आवश्यकता नही जान पडती। तीसरा प्रकार जागडो साणोर है, जो अट्ठाईस मात्राओ का छन्द है। उदाहरण देखिए —

जागडो साणोर

पड़ियो मुरझाय सेस इल ऊपर सकत राण सुत सांझी।
थरके भाल बन चरा धाणा, मुख कुमलाणा माझी॥

—वही पृ० १९१

प्रथम पक्ति में दो मात्राए अधिक हैं, उसके बाद चतुष्कल चलते हैं। सोलह मात्राओ पर यति होती है। अन्त्य चतुष्कल मे दो गुरु इष्ट हैं, यद्यपि रघुनाथरूपक इसे कोई लक्षण नही मानता है। उसने एक लक्षण बताया है कि इस छन्द मे कही-कहीं नगण ललल अवश्य आना चाहिए। साणोर का चौथा प्रकार खुडद साणोर है।

खुड़द साणोर

व्याकुल लख सेस बिभीषण बोले, कमलापतसूं जोर कर।
धनुपधरण धीरज उर धरजै, हिव कीजै उपचार हर॥

—वही पृ० १९३

प्रथम चरण के द्वाले मे दो मात्राएं अधिक है, अन्यत्र उनतीस मात्राओ का प्रयोग हुआ है। सोलह मात्राओ पर यति है और आठवी सधि की तीन मात्राएं जहाँ खण्डित हो वहा मात्र एक ही लघु रहता है। उत्थापनिका देखिए —

दादा दादा दादा दादा' दादा दादा दालल ल

रघुनाथरूपककार खुडद साणोर का स्वरूप निर्देशित करते हुए अन्त मे दो लघु मात्राओ का विधान करता है परन्तु दिये गये उदाहरण मे सर्वत्र दालल ल आता है। जो उसका वास्तविक स्वरूप जान पड़ता है।

पंखालो

धरियो पण जनक इसी मन धारे धनक पिनाक चढाय धरैं।
महपत आय सयवर माहे वसुदा कुमरी तिको वरैं ॥१॥
तात हूत इधकी परतिग्या, साभल वात कहू सरसाल।
तनमन धार भाल दसरथ तण, मैं गल राल दई वरमाल ॥२॥
—वही पृ० ७४

इसमे भी छोटो साणोर के समान ही तीस और इकतीस मात्राओ का विकल्प चलता है। तीस मात्राओ वाले छन्द की पक्ति गान्त होती है और इकतीस मात्राओ वाले छन्द की पक्ति गालान्त होती है। रघुनाथरूपक के अनुसार साणोर मे गुरु-लघु का भेद है जो इसमे नही है। वस्तुत. यह कथन ठीक नही। यह भेद नाममात्र का ज्ञात होता है।

सिहचलो

परगत इम भ्रात चहूं परणीजै, भाण कितावा मारिया।
डाणा हूत सजोडा डेरा पाछा वीद पधारिया ॥१॥
—वही पृ० ८६

पहली पक्ति में दो मात्राए अधिक है, उन्हें छोड कर इसका गठन विचारना होगा। इस गीत के विषम चरणो मे छोटे साणोर गीत की विषम चरण की मात्राए आती हैं। इसके सम पद तेरह मात्राओ के होते हैं और अन्त्य प्रास मे रगण होता है। उत्थापनिका यो होगी —

दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गालगा

इसके वाद इसी से मिलती जुलती रचना लहचाल पर विचार करें।

लहचाल

सुत भ्रात कटे सक धीट वधे धक,
वीस भुजाण विचारियो जी।
निरवीजा वानर नेम गमुन्नर,
वेख इसो मन धारियो जी ॥१॥
—वही पृ० २१३

पहली दो मात्राए निस्ताल मान लेने पर शेष गालल के छह आवर्तन आते है । अन्त मे गालगा जी आता है गालगा के आवर्तनो मे कही-कही गागा भी आ जाता है। रघुनाथरूपककार के अनुसार विषम चरणो मे दस मात्राओ और आठ मात्राओ पर विश्राम होता है। सम चरणो मे आठ मात्राए रख कर एक रगण के वाद 'जी' शब्द होता है। इसके वाद अमेल नामक छन्द-पर विचार किया जायेगा। अमेल अर्थात् जहा मेल नही हो। समूचे डिंगल गीतों मे यही एक मात्र अतुकान्त रचना है। रघुनाथरूपककार ने इसका कोई लक्षण नही दिया है किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि अमेल साणोर और पखाला जैसा तीस और इकतीस मात्राओ का छन्द है जो प्रास विहीन है।

अमेल

सवरी वन माहि प्रीत सू साचो, उवर जठै दरसण अभिलाख ।
आश्रम उभै सहोदर आया, त्रिभवण नायक सेस तठै ॥१॥

—वही पृ० १४१

अब अरटियो गीत को परखें —

अरटियो

एकण दिहाडे मुनिराज अजोध्या, कोसक आवण कीधो ।
राजाहूत मिले रिपराजा, दो मझ आसण दीधो ॥१॥

—वही पृ० ६४

यह गीत अट्ठाईस मात्राओ वाला चतुष्पाद है। अन्त मे दो गुरु होते है। रघुनाथरूपक के अनुसार नगण का प्रयोग वर्जित है। प्रथम पक्ति मे तीन मात्राए अधिक हैं। जागडो साणोर और अरटियो मे इतना ही फर्क है कि जहा अरटियो मे नगण अर्थात् ललल वर्जित है वहां जागडा साणोर मे उसका होना आवश्यक है। अब अरट लिया जाय —

अरट

हम राज करे अजनद अयोध्या नेत वधी निपतैत ।
जगा जीत तवोवल जालम ओप वडै अखडैत ॥१॥

—वही पृ० ६२

यह सत्तावीस मात्राओ वाला चतुष्पाद छन्द है जिसके अन्त मे गाल आता है। पहली पक्ति में दो मात्राए अधिक होती हैं। इसकी उत्थापनिका निम्न होगी —

| | | | | | |
दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गाल

अब झडमुगट गीत का विवेचन किया जायेगा।

झडमुगट

तरवर वन सिखर जोवता सरतर, कर सारग तुन्नीर कर।
वर लोहा दीठो अग रघुवर, पर घर पडियो धरण पर ॥१॥

—वही पृ० १४०

इस रचना का निर्माण खुडद-साणोर मे प्रास की भिन्नता के आधार पर हुआ है। इसकी वनावट समझने के पहले उत्थापनिका पर गौर करना सरल और व्यावहारिक होगा।

लल ललदा दादा दादा दालल' ललदा दादा दालल ल
ललदा दादा दादा दालल' ललदा दादा दालल ल

पहली दो मात्राए चरण मे अधिक हैं। खुडद साणोर के अनुरूप ही इसमें भी चार यतिया है। अन्त मे रघुनाथरूपककार के मत मे दो लल—किन्तु मेरे मत मे तीन ललल आवश्यक हैं। इसकी एक अन्यतम विशेषता यह है कि प्रत्येक चरण का आरम्भ और अन्त लल से होना चाहिए, यही नही प्रत्येक यतिखण्ड के शुरू के दो लघु अक्षर ही उसके अन्त मे आते हैं। इन चारो यतिखण्डो का प्रास भी मिलता है।

हसावली

पयधररा मथण जगतरा पालग, सररा अचल सतरा साथ।
वररा दियण जगतरा वच्छल, नररा रूप नमो रघुनाथ ॥१॥

—वही पृ० १४८

पहली दो पक्तियो मे दो मात्राए अधिक है। यदि उन्हे वाद कर दिया जाय तो शेष इकतीस मात्राओं का छन्द रह जाता है। इसमे रा की—जो डिंगल मे षष्ठी का प्रत्यय है, वार-वार आवृत्ति होती है। साथ मे उल्लेखालकार का प्रयोग रहता है। यह गीत हसावली कहलाता है। उल्लेखालकार मे किसी एक व्यक्ति के अनेक गुणो का वहुविध उल्लेख होता है। रघुनाथरूपककार ने लक्षण और दृष्टान्त इस प्रकार दिया है।

वहु विधि वरनै एक को, वहुगुन सो उल्लेख।
तू रन अर्जुन तेज रवि, सुरगुर वचन विशेष ॥

अव इसी मे मिलते-जुलते पाडगत गीत पर विचार किया जाय। इसमें हर पक्ति के पहले शव्द के आगे 'आगडदी' शव्द आता है। सम्भवत नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए ही इस पद्धति का उपयोग किया गया है। उदाहरण देखिए —

पाडगत

गगाग्डदि दुहुओडा दल गाजै, ताग्डदि तवल वाजै रिणातूर।
राग्डदि राम रावण जुध रोपे, साग्डदि समाम अडे सजसूर ॥१॥
भाग्डदि भूत जोगण गण भैरव, आग्डदि अमर अपछर गण आण।
पाग्डदि प्रवल परचर दुर पेखत, वाग्डदि व्योम सुर छया विमाण ॥२॥

—वही पृ० २१६

डिंगल की पद्धति के अनुकूल ही इसमे भी अधिक मात्राएं हैं; अत स्वरूप-निर्धारण के लिए मैं दूसरी कडी लूंगा। पठन से ज्ञात होता है कि यह चतुष्कल रचना है। रवानुकारी शब्दो को अलग रख यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि उनसे तीन लघु बनते हैं। इन तीन लघुओ मे कही सर्व लघु चतुष्कल बनते हैं और कही ललगालदा अष्टकल बनते हैं। उदाहरण देखिए —

पाग्डदि प्र, बल पर, चर दुर, पेखत,
वाग्डदि व्योम सुरं, छ्या वि, माण

पहले यतिखण्ड मे लललल, लललल, लललल, गालल इस प्रकार चार चतुष्कल पड़ते है और दूसरे मे ललगालललल, ऐसा पहला अष्टकल आता है और इसके बाद लगाल, गाल सधियां आती हैं।

सतखणो

आया मृग मार सेसनू आखे, बबब ! सुणो सबीता।
दारुण कुटी विड्गी दीसैं, सही गमाई सीता।
रे मन मीता रे मन मीता किण विध कीजिये ॥१॥

—वही पृ० १३८

पहली पक्ति मे दो मात्राए अधिक हैं। पहले दो द्वाले जागड़ा साणोर के हैं। तीसरी पक्ति के अन्त मे गालगा है। तीसरी पक्ति मे अष्टकल का उपयोग सम्बोधन-सूचक शब्द के साथ सबसे पहले किया जाता है, जिसे पुन: दुहराया जाता है। इसके बाद नौ मात्राओ का पद रचा जाता है, जो टेक की तरह हर द्वाले के अन्त मे प्रयुक्त होता है। उपर्युक्त गीत के अन्य द्वालो का गठन इस प्रकार है—रे रंग खोटे रे रग खोटे, किण विध कीजिये। रे सुध आवै रे सुध आवैं, किण विध कीजिये। रे वृतधारी रे वृतधारी, किण विध कीजिये, आदि आदि। अब हम दीपक गीत लेंगे। इसके स्वरूप को आसानी से समझा जा सके, इसलिए मैं उदाहरण को नये ढंग से लिख रहा हू —

दीपक

इसवर सीय सेस चढे रथ ऊपर, तहक सारथी खड़े तुरग।
नगर हलक हालै नरनारी,
घर वधो छोडे घरवारी।
मिल तानू दी सीख उमंग ॥१॥

—वही पृ० १०९–११०

तीन अधिक मात्राओ को यदि नही गिना जाय तो पहली पक्ति इकतीस मात्राओं की गालान्त है। बाद की दोनो पंक्तिया सोलह मात्राओ की चौपाई सी तुकान्त हैं। चौथी पक्ति पन्द्रह मात्राओ का पद है जिसका प्रास पहली पंक्ति से है। यह एक अति सुन्दर छन्द है। तीन अधिक मात्राओ को छोड कर उत्थापनिका यो होगी —

दादा दादा दादा दादा, दादा दादा दादा गाल''
दादा दादा दादा दादा'
दादा दादा दादा दादा'
दादा दादा दादा गाल''

गाल के साथ गाल का और बीच की दो पंक्तियो मे दादा के साथ दादा का प्रास मिलता है।

चोटियो

वारै आवरै रिण रोपण वंका, बघु सुग्रीव बकारै।
ऊठै सुण घ्रमजघडमघायो, धीग क्रोध उर धारै।।
हू हिव अवियो पगमाड हकारै ।।१।।
मोने आय अनाहक मारचो, साम खूंन विण लेसा।
जादव वश देवकी जामण, घर अवतार धरेसा।।
दाखै दसरथ सुत वदलो जद देसा ।।४।।

—वही पृ० १५३–१५४

पहली कडी मे तीन मात्राए अधिक है अत. हम स्वरूप-निर्देश के लिए दूसरी कडी ही लेंगे। पहली दोनो पक्तिया अट्ठाईस मात्राओ की गागान्त हैं। अतिम चरण मे रघुनाथरूपक के अनुसार उन्नीस मात्राएं गागान्त होनी चाहिए। जिसका प्रास भी अन्य दोनो पक्तियो मे मिलना चाहिए। अब चित्तविलास नामक विचित्र गीत लेंगे।

चित्तविलास

धनुधारे ! रे धनुधारे !
सर एका बाल सिधारे।
महाराजधिराज सुग्रीव मनांरा सारा कारज सारे।
कीधो भूप पुरी केकंधा दोवण दूर विदारे।

रे धनुधारे।

रघुराजा ! रे रघुराजा !
रिष मूक गिडद दराजा।
चौमास रहे वे भ्रात सुचंगा ताम घटे जस ताजा।
देखे राम पयोधर दामण सीत विरह तन साजा।

रे रघुराजा !

—वही पृ० १५५–१५६

यह जरा अटपटी रचना है, गेय है और चतुष्कलो से निर्मित है। नीचे उसे चतुष्कलो मे—दादा सधियो मे पृथक्कृत प्रदर्शित किया गया है।

घनु] । धा रे । रे घनु । धारे ।
दा । दादा । दादा । दादा । दा
सर । ए का । वार्लासि। धारे । रे घनु । धारे ।
दा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दा
महा । राजवि । राजसु। ग्रीव म। नारा । सारा ।कारज। सारे
दा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा
। कीधो । भूप पु । रीके । कवा ।दीवण । दूरवि । दारे ।रे घनु । धारे
। दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दादा । दा

रघु । राजा । रे रघु । राजा । —
दा । दादा । दादा । दादा । दा
रिप । मूकगि । ढद द । राजा ।रे रघु । राजा । —
चो ।मास र । आदि, आदि
दा । दादा ।

इस प्रकार से प्रस्तुत छंद की चतुष्कल व्यवस्था हो सकती है। रघुनाथरूपक के अनुमारपटकल दो वार प्रयुक्त हो। उसके मध्य मे एक गुरु अक्षर का संवोधन रखना चाहिए। इसके वाद चौदह मात्राओ का सप्रास पद होता है। तत्पश्चात अरटिया गीत का एक द्वाला आता है, जिसका अन्त प्रारम्भ के प्रथम पद के शुरू के शब्द से ही होता है। अब निसाणी संज्ञक गीतो पर विचार किया जाय —

शुद्ध निमाणी

सिंघ अजा सामल सलल पीवै इक थाळा,
तसकर दवे उलूक ज्यूं ऊंगा किरणाला।
पडी न छेडे पारको चिहु वरण विचाला,
ऐसा राज करे अवध दशरथ नृप-वाला ॥

--वही पृ० २७०

उत्थापनिका निम्न होगी —

दादा दादा दालदा' दादा दादा गा

यहा प्रत्येक चरण मे तेरह और दस कुल तेईस मात्राएं हैं। तुकात मे दो गुरु हैं।

गरवत निसाणी

दृढ प्रताप आठूं दिसा पसरै अवनी पर।
हितू कमल फूलै विहद भात चक्र हरभर ॥
निस अनीत कहुं लेस नह तह के दुख तीमर।
सूरजकुल सूरज तपै वढ तेत सियावर ॥

—वही पृ० २७०

उत्थापनिका —

दादा दादा दालदा' दादा दादा लल

शुद्ध निसाणी के सदृश्य ही इसमे दोहे की अर्द्धालि और दस मात्राए हैं। शुद्ध निसाणी के अन्त मे गा था, इसमे उसके स्थान पर लल होते हैं।

निसाणी गव्घर

जिण पुर नुपराजै अवरन गाजै केवल मेघ घुरायंदा।
सब रहे ठिकाणे हुकम प्रमाणें, मारुत मते चलाइंदा ॥
कालाद अराणें भय नहीं आणें भय दुज दीना लायदा।
राघव राजिन्दा अवधति नदा, ऐसा राज दिया यदा ॥

—वही पृ० २७१

इसकी उत्थापनिका निम्न हैं—

दा दादा दादा' दादा दादा' दादा दादा दादा गा

यही छद गुजराती मे कुछ अन्तर के साथ पद्मावती के नाम से प्रचलित है। दस और आठ मात्राओ मे प्रास, फिर चौदह मात्राएं, तुकात पद। कुल ३८ मात्राए। गुजराती के कवि दलपत राम द्वारा दिया गया लक्षण उदाहरण है—

दश आठे खासा, घरि अनुप्रासा, उपर कला चौदे आवे,
पद्मावती नामे, छद सुकामे, गुणवन्ता कविजन गावे।

—दलपत,पिंगल, पृ० २१

गव्घर निसाणी मे और पद्मावती छद मे मात्र इतना ही अन्तर है कि निसाणी मे चरणान्त मे तीन गुरु होने का विधान है, ऐसा कोई बन्धन पद्मावती के लिए नही है।

निसाणी पैंडी

जिण रइयत सात सुखा सरसाई, सातू ईत भीत नहकाई,
निजदल गवण अनम कर दीरघ घेरत नगर अरदा है।
पट रित ही सफल कुसुम वन दरखत, षट ही साख उपावैं हरषत,
बारह मास सदा मन भाया पावस पूर झरदा है।

—रघुनाथ रूपक गीतारो पृ० २७२

इसकी उत्थापनिका इस प्रकार होगी—

दा] दादा दादा दादा दादा' दादा दादा दादा गागा
दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गागा गा

इसके प्रत्येक पद मे अठारह, सोलह और सोलह मात्राए सजाकर प्रास मिलाया जाता है और फिर अन्त मे मगण सहित चौदह मात्राए कही जाती है।

निसाणी सिर खुली

नाचे मोर निहारे अहिफण ऊपरे,
मूषक सीस न धारै घात मजारिया ।
माहोमाह न मारे वैर बुन्यादरा,
ऐसे तेज अकारै राजे रघुपति ॥

—वही पृ० २७३

वारह मात्राओ पर यति और प्रास, फिर नौ मात्राओ का पद और रचा जाता है । उत्थापनिका होगी —

दादा दादा दादा' दादा गालगा

निसाणी सोहणी

फिरै नचीता ग्वालिया गाया सिंघ करै रखवाली ।
निघडक एण पिलंग सूं दावालेण लगाकर आली ॥
चिडिया आद विहंग वन वाजा हूत हंसै दे ताली ।
वधै गरीवां वल् इधक ऐसी धाक सियावर वाली ॥

—वही पृ० २३४

उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दादा दादा दालदा' दादा दादा दादा गागा

पहले यति खंड मे दोहे का पहला यति खंड, उसके वाद चार चतुष्कल और गागान्त है ।

निसाणी रूपमाला

वामण चार वेद के वकता, आगम दृष्टी ज्ञान धुरन्धर ।
साहुकार सको धजवधी दूजी जात अलेप कुरदर ॥
सारा हीं सुखपूर विचारै निंदत और नरेस उरदर ।
ऐसी राम प्रभा जिम आगे देखत लागे सहज पुरंदर ॥

—वही पृ० २७४

यह एक वत्तीस मात्राओ का छंद है जिसकी अंतिम संधि गालल होती है । चारों चरणो मे प्रास ।

निसाणी मारु

धाम धाम जग होम वेद धुन रिष अभिराम ररदे ।
दयावत अत साह मोम दिल, हित परपीड हरदे ॥
पवन अवर जिह से सुखी अपारा वन गृह पूर वरदे ।
अदल नीति जगजीत अयोध्या रघुवर राज करदे ॥

—वही पृ० २७५

उत्थापनिका — दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गागा

यह सोलह और बारह कुल मिलाकर अठ्ठाईस मात्राओ का छद है, अन्त मे दो गुरु और चारो चरणो मे प्रास ।

निसाणी झीगर

खटतीसूं वस तणा खितधारी विग्रह रूप वरारा है ।
धू नामे आय करे निजराणा ले धन जिके थरारा है ॥
घर घर का हू ता चहु चक धूजें दिल खल पडे दरारा है ।
कवसल्यानंद जसी का रेणा ऐसा तेज करारा है ॥

—वही पृ० २७७

उत्थापनिका :—

दा] दादा दादा दादा दादा' दादा दादा गागा गा

अठारह और चौदह – कुल बत्तीस मात्राएं । प्रासात मे मगण ।

निसाणी दुमिला

दड धजा के होत दार धनुवंका धार ।
पल छ सास पुणजै पुकार, छंद मदरा सार॥
चोरी परचित हरण नार नर जोरी नार ।
ऐसा राज करे उदार कवसल कंवार ॥

—वही पृ० २७८-२७७

उत्थापनिका – दादा दादा दालगालदा दादा गाल

ऐसी चार पक्तियो का एक छद होता है । पक्ति के मध्य मे आये गाल के आगे यति तथा इस गाल और पक्ति के अन्त मे आये गाल का प्रास । इस प्रकार इस छंद मे आठ प्रास । वैसे इसकी बनावट तेईस मात्राओ के रोला छंद जैसी है और बीच मे गाल लाने के लिए दूसरी अष्टकल सधि दालगालदा करनी आवश्यक है ।

निसाणी वार

सेवें ससि सूरज इन्द सिव ब्रह्मादि ब्रह्मा वृंदारका ।
जपै दुय रसण हजार सूं हरिगुण नित सीस हजार का ॥
कह कह सह थका मछ कहै पंडत जन वारापार का ।
वरणन कर कासूं वरणऊ, कवसलजिह राजकवार का ॥

— वही पृ० २७८

उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दा] दादा दादा दालदा' दादा दादा दागा लगा

पन्द्रह और पन्द्रह-कुल मिला कर तीस मात्राए । प्रासान्त मे रगण ।

चतुष्कल रचनाए अब समाप्त हो गई है, अत त्रिकल रचनाओ को विचारार्थ लिया जा रहा है । डिंगल गीतो मे त्रिकल रचनाएं अपेक्षाकृत कम हैं । सबसे पहले हम गोखो नामक गीत पर विचार करेंगे ।

गोखो

विदेही तणें दिवाण । ईम चाप धरे आण ।।
तोडवा अनेक ताण । ऊठिया करे अपाण ।।
राज राव अनै राण । पिनाक पै धरे पाण ।।
हिले होय हीणमाण । दई वाण दई वाण ।।१।।

—वही पृ० ७६

रघुनाथरूपक के अनुसार प्रत्येक पद में आठ अक्षरो से बारह मात्राएं करनी और ऐसे आठ चरण किये जायँ । अन्त मे गुरु लघु रखा जाय और आठो चरणो का प्रास मिले और अन्त की पक्ति अथवा चरण मे वीप्सा हो । ऊपर आठ वर्णों से बारह मात्राए होती हैं, यह बात ठीक है किन्तु प्रत्येक मे त्रिकल सधि के चार आवर्तन भी है । अन्त में गुरु लघु या गाल निर्देशित है, अत. इसे गाल के चार आवर्तन वाला छन्द कहना उचित ही है । अन्तिम त्रिकल के अलावा यदि किसी स्थान पर गाल की जगह लगा भी आ जाय तो स्वीकृत किया जाना चाहिए । इसकी उत्थापनिका निम्न होगी—

गाल गाल गाल गाल

आठ के स्थान पर चार पद करने पर अर्ध-गोखो गीत बन जाता है । उसमे भी अन्त्य पद मे वीप्सा होनी चाहिए । देखिए रघुनाथ रूपक गीतारो पृ० १३६ । अब वीरकंठ लें ।

वीरकंठ

करा जोड रूपकीस, साम पाय नाम सीस ।
बाध चाल महावीर, कूदियो किसीस ।।
निसाचरा कालनेम, पतीलक तणो पेम ।
माग वीच वणे रह्यो, सदंभा मुनीस ।।१।।

—वही पृ० १९५

उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

गाल गाल गाल गाल, गाल गाल गाल गाल ।
गाल गाल गाल गाल, गाल गाल गाल ।।

यह आधा छन्द हुआ । इसके अन्त्य गाल के साथ शेष आधे छन्द के अन्त्य गाल का प्रास मिलता है । अन्त्य सधि के रूप मे गाल ही आयेगा, हा कही-कही लगा बीच मे आ सकता है । अब हम पचकल रचनाओ पर विचार करेंगे, जिनमें सबसे पहले वडो साणोर लें ।

वडो साणोर

भुरा दरस सर पङ्ग मुनुकला तेवीस धर,
जुग विपस सपत कल दुसर जतरैं ।

पच कलतणी द्वै चार गण विषम पद,
सामुहे मेल गण कला सतरे ॥१॥
—वही पृ० ५०

उत्थापनिका—लदा दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गा
दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गा

ऊपर दी गई उत्थापनिका से बिल्कुल ही भिन्न लक्षण रघुनाथ रूपक मे दिये गये हैं। उसके अनुसार प्रथम पद मे छ., पाच, पाच, सात मात्राओ से मिल कर तेवीस मात्राए, दूसरे पद मे दो बार पाच-पाच मात्रा फिर सात मात्रा। विषम पद अर्थात् तीसरे चरण मे पाच-पाच मात्राओ के चार गण होते है और चौथे चरण मे सत्रह मात्राए रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्रास और गुरु-लघु का नियम है। परन्तु गहराई से देखने पर साफ जाहिर हो जाता है कि इसमे और झूलना छन्द मे कोई विशेष अन्तर नही है। अधिकाश डिगल गीतो के समान ही इसकी पहली पक्ति मे तीन मात्राए अधिक है। यदि उन्हे बाद कर दें तो यह झूलना छन्द बन जाता है।

शुद्ध सँणोर

मगण आद गुर तीन फल रभा विदुधा मही,
पिता पिंगल गिरा मात तन पीत।
रिषि कस्यप अरोहण कमठ शृगार रस,
मगध पत दुज वरण नयण त्रिय मीत ॥१॥
—वही पृ० ५२-५३

उत्थापनिका – दाल] दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गाल

पहली पक्ति मे तीन मात्राए अधिक है, उन्हे बाद करने पर पचकल के आवर्तन झूलने के समान ही चलते है। अन्तर इतना ही कि जहाँ झूलना मे अन्तिम सधि खण्डित होकर गा रह जाती है, वहा इसमे गाल रहती है। इसमे भी दालदा के स्थान पर कभी-कभी लदादा आ जाता है। इसके बाद रघुनाथरूपककार ने प्रहास अथवा गरवत नाम की रचना के लक्षण दिये है। वह भी मात्र गान्त झूलना छन्द है जिसकी पहली पक्ति मे तीन मात्राए अधिक होती है। अब मुकतागृह नामक गीत पर विचार किया जाय।

मुकतागृह

पगा वद उतमग मा कनैथी पधारे,
पधारे महलको दंड पाणी।
विदेही सुतानै गुणी जेती विगत,
विगत तेती पुणी तात वाणी ॥१॥
—वही पृ० १०४

पहली पक्ति मे तीन मात्राएं अधिक होती हैं। उनके अलावा लदादा के मिश्रण वाला झूलना ही जान पड़ता है। हा, इसकी एक अपनी विशेषता है और वह यह कि इसकी पहली पक्ति के अन्तिम शब्द से ही दूसरी पक्ति का आरम्भ होता है। इसी प्रकार तीसरी पक्ति के अन्तिम शब्द से ही चौथी पक्ति का आरम्भ होता है।

सावझडो

सुण वयण अगद कलह, सुभड सरसाविया,
थरक जलथाल जिम त्रिकुट जण थाविया।
चाल वाथे धुरा दनुज ललचाविया।
अतवप अकपन समर सज आविया ॥१॥

—वही पृ० १८३

पहली पक्ति मे तीन मात्राएं अधिक हैं अन्यथा प्रस्तुत रचना कामिनीमोहन या मदनावतार कही जा सकती है। चारो पक्तियो मे एक ही प्रास है। जब यह प्रास मात्र दो पक्तियो में हो, उसे अर्धसावझडा गीत कहा जाता है। अब इसके बाद हम चोटियाल गीत पर चर्चा करे गे।

चोटियाल

सुणे सुपनखा वैण चढ़ हाकिया साकुरा,
खरदूषर त्रिसर पल झाल् खागा,
पूर तन पहरिया ॥
उरस छवता थका आविया अडाकी,
आखता असुर रघुवीर आगा,
कोप लोयण किया ॥१॥

—वही पृ० १३१

पहली तीन मात्राओ को बाद करने पर गुर्वन्त झूलने की पूरी पक्ति आती है। इसके बाद दालदा दालगा वाली एक अतिरिक्त पंक्ति आती है। इसी प्रकार की रचना की एक आवृति फिर करने पर पूरा पद होता है। दीर्घ झूलना पक्तियो मे प्रास होता है, इसी प्रकार दोनो अतिरिक्त पक्तियो मे भी प्रास आता है। उत्थापनिका यो है —

दाल] दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गा
दालदा दालगा।

यह हुआ आधा अंश, यदि इतना ही और बढा दिया जाय तो चोटियाल गीत बन जाता है। अब सप्तकल रचनाओ पर विचार किया जाय। सबसे पहले प्रौढ लिया जाय।

प्रौढ

मगके मुकामां करै मिथुला। आविया अवधेस।
सुण अतुल साज झलूस सारा। मिले छक मिथलेस ॥१॥

—वही पृ० ८३

रघुनाथ रूपककार के अनुसार पाच, चार, तीन, चार इस प्रकार से विषम पदो मे सोलह मात्राएं होती है। तीन, चार और तीन इस तरह दस मात्राएं, अन्त मे गुरु-लघुयुक्त प्रास सम पदो मे होती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह दो प्रासयुक्त चरणो वाली एक सप्तकल पक्ति है। मेरी दृष्टि से इसकी उत्थापनिका यो होगी —

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल

अन्त्य गाल के बाद की दो मात्राए अनक्षर रहती हैं, जो आगे की पक्ति के प्रारम्भिक निस्ताल दा के साथ मिलकर सप्तकल पूरा करती हैं। कभी-कभी दाल-दादा के स्थान पर लदा—दादा आता है। प्रौढ के दूसरे प्रकार मे पक्ति मे प्रारम्भिक निस्ताल दा नही होता, मात्र यही अन्तर है। उदाहरण लीजिए —

प्रीतकर पूरहूत ऊपर। उठे रघुवर आप।
सहस भग किय चसम सहसा। सकत मेटे श्राप ॥
—वही पृ० ८५

इस गीत को सोरठिया गीत भी कहते है। अब इकखरो लेंगे।

इकखरो

सुण मेसरे सुण मेसरे, दिलके कई उपदेसरे।
वनवास जावण वेसरे, इम आखियो अवधेसरे॥१॥
—वही पृ० १०७

उत्थापनिका—दादालदा दागालगा। दादालदा दागालगा

यह आधा हुआ। प्रत्येक चरण चौदह मात्राओ का, दादालदा के दो आवर्तन, चरणान्त में गालगा तथा चारो ही चरणो का एक प्रास।

हेलो

उठ आय कवसल मात आगें, लुलें सीरष पाय लागे।
दखै वायक दीण॥
कैकई वदनाम कीधो, दोप मोटो मनै दीधो।
हुवो सारै हीण॥१॥
—वही पृ० ११६

उत्थापनिका—दा।] दालदादा दालदादा' दालदादा दालदादा
दालदादा गाल

यह आधा छंद हुआ। पहली पक्ति मे अन्तरप्रास और उसके आगे दालदादा गाल की एक छोटी सी पक्ति जिसका प्रास ऐसी ही आगे की पक्ति के साथ मिलता है। ऊपर दिये गये उदाहरण से प्रास-योजना स्पष्ट हो जायगी। गाल के बाद की चार मात्राएं अनक्षर रहती हैं। पहले पद की पहली पक्ति मे दो मात्राए अधिक, बाकी अन्यत्र चौदह मात्राए।

भाख

आयो भरथ अवध अमग, मडे पावडी उतमंग ।
रइयत कीध अत उछरग, इम आवाम जाय उमग ॥१॥

—वही पृ० १२२

रघुनाथरूपककार एक चतुष्कल और दो पंचकल—कुल मिला कर चौदह मात्राओ का विधान करता है। अन्त में गुरु-लघु और चारों पक्तियों में प्रास। यदि दो दो पक्तियो का प्रास मिले तो उसे अरध-भाख गीत कहते हैं। भाख की उत्था-पनिका होगी —

दादादाल' दादागाल'

धमाल

रावण ससा दिग्गज रूप दडक वन रमैं।
निरलज सुपनखा तिण नाम गरक अनंग में ॥
सीतानाथ आगल् सार आई विण समै।
माल् सकाति अद्भुत नरम सुचि रत सभ्र मे ॥१॥

—वही पृ० १२८

धमाल गीत के प्रत्येक चरण मे तेवीस मात्राए होती है। चरण के अन्त मे लघु-गुरु से चारो मे प्रास। इसकी उत्थापनिका होगी —

दादा] दालदादा दालदादा दालगा

ऐसी चार पक्तिया होती हैं। अन्त्य दालगा मे दो मात्राएं अनक्षर रहती हैं। अब भवर गुजार गीत को परखें।

भँवर गुजार

हणु मिलत घुर हर दीध सिर हथ, रिघु वजरग हुवो समरथ।
चवे रघुवर वयण वनचर, सीत सुध साजै ॥
तो करू अरियण तेण कण कण, हरप मारुं विसख हण हण।
विकट पूरुं मनावछत, गहर गुण गाजै ॥१॥

—वही पृ० १५०

उत्थापनिका स्पष्ट है —

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा दालदादा
दालदादा दालदादा' दालदादा गा

यह हुआ अर्धांश। इसमे पहली पक्ति के दोनो यतिखण्ड प्रासयुक्त, दूसरी पक्ति और चौथी पक्ति में भी प्रास। दूसरी पक्ति मे गा के बाद के लदा अनक्षर हैं और उसके पीछे की पक्ति के दा के साथ मिल कर सप्तकल की रचना होती है। अब कँवार लिया जाय।

कँवार

दिसलक अगद भाद द्वादस, तहकिया तेखी।
इक मरण सो विच त्रिसा आतुर, दरि दृग देखी ॥१॥

—वही पृ० १६१

उत्थापनिका सरल है —

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गा

ऐसी दो पक्तियो से एक पक्ति वनती है। तुकान्त मे दो गुरु।

अठतालो

काकै कुंभवालै वैर काजा, सत्रजीत उझेल साजा।
कियण गो खल कुंभ लाजा, जाग ताजा जोस॥
जाय जोगण वंद जाजा, प्रजुण वग्ही करे प्राजा।
वहण आवव होम वाजा, रुपि दराजा रोस॥१॥

—वही पृ० २०६-२०७

पहली पक्ति मे चार मात्राए अधिक है। शेष दालदादा दालदादा इस प्रकार से सप्तकल के तीन यतिखण्ट हैं और चौथा खण्ड दालदादा गाल हैं। यह है अर्घ-रचना। प्रास की योजना सरल है। उत्थापनिका देने की आवश्यकता भी नही जान पडती।

काछो

रघुपत जगतमिण उपसास रालै, भामणी चिहु ओर भाले
तन विचाले जो वरै।
चित लाग चालै गात गालै, घर सभालै धीर॥
दूर दिखालै कैक कालै अचल थालै ऊपरै।
दीठा दयालै तैंण तालै वय वडालै वीर॥१॥

—वही पृ० १४५

पहली पक्ति मे चार मात्राए अधिक होती है। वैसे मछाराम ने पाच अधिक मात्राओ का विधान किया है। इन अधिक मात्राओ को वाद करके ही उत्थापनिका तय की जा सकती है, जो निम्नानुसार होगी।

१ २ ३
दादा] दालदादा दालदादा दालदादा दालदादा दालदादा दालगा

४ ५ ६
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल

७ ८ ९
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा दालगा

१० ११ १२
दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल

इसमे दालगा के साथ दालगा प्राम मिलता है, गाल के साथ गाल का प्रास मिलता है और एक से वारह स्थानो मे भी प्रास रहता है। जव त्रकूटवध गीत लेंगे।

त्रकूट वध

कुल भ्रात मन्त्री सुत कटे, उर क्रोध रावण ऊपटे।
मन समझ नहचें थटे मरणो, सजे घण घमसाण ॥
वध ओप वाजत्र वाजिया' सझ रोप वगतर साजिया।
कस कमर वडकर गहर फर, वर घजर आवध सधर घर॥
चढे चले रथ पर ढुर चमर, भड अवर निसचर रिण भवर।
मिल चहुर मूर्छां मुहर भर, वज पखर गूघर मिडज वर॥
गज चीर फरहर खुल अगर, झुक अनुर लोयण अगन झग।
अर अवियो आराण ॥१॥

—वही पृ० २१९

पहली तीन पंक्तियो का उत्थापनिका इस प्रकार होगी —

दा दालदादा दालगा' दा दालदादा दालगा
दा दालदादा लगादादा' दालदादा गाल
दा दालदादा दालगा' दा दालदादा दालगा

इसके वाद भी चार पक्तियो तक इसी तरह मे सवियां चलती हैं किन्तु प्रभाव विशेष को लक्ष्य मे रखकर इनके लघु वहुल और लव्वन्त रूप हो जाते है। प्रत्येक सधि में प्रास है, और जव ये चार पक्तियां भी समाप्त हो जाती हैं तो एक वारह मात्राओं की लघुपक्ति आती है। इस समूचे गीत में प्रासो के प्रयोग मे विशेषता है जिसे मूल उदाहरण के सहारे आसानी से समझा जा सकता है।

इसके वाद हम चित्तहिल्लोल गीत की विशेषताए देखेगे।

चित्तहिलोल

ले हुकम सीता खवर लेवण, सकज राघव सत।
लह लंक दिस सज उदधलवण, हालियो हणमन्त ॥
तो वलवत जी वलवंत वारथ लाघवे वलवंत ॥१॥

—वही पृ० १६३

उत्थापनिका :—

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल (१)

दा] दालदादा दालदादा' दालदादा गाल (२)

तो दा] गालदादा (३) गालदादा (४) दालदादा गाल (५)

उत्थापनिका पर गौर करने से सप्तकल का विन्यास समझ मे आ जाता है। एक से पाच स्थानो पर एक ही प्रास जिसमे तीसरे, चौथे और पाचवे स्थान पर एक ही शब्द का प्रयोग। तीसरी पक्ति का आरंभ सदैव तो के साथ होता है।

सुवग

लगरी रिम सेन लाडो, गुमर धारक लाज गाडो।
इल झडे कु भेण आडो, झूझ जाडो झूझ जाडो ॥१॥

—वही पृ० २०५

उत्थापनिका — दालदाद। दालदादा

ऐसी चार पंक्तियां, उनमे एक ही प्रास और चौथी पक्ति मे वीप्सा।

भाखरी

मिथला महिपती जी अवनी कीव जिग आरम्भ।
तेडे सगमती जी लिख फुरमाण वाहु प्रलभ॥
कर कर क्रामती जी खोपै जैथ हथ वस खम्भ।
नागर नोवती जी घर घर घुरत द्वार असम्भ॥
घर द्वार नौवत घुरत वाजत तीस पट् अवरेख।
वध पोल पोल विसाल तोरण वणे चित्र विशेप॥
व्रत सदन पीत पताक फरकत वरण चहु सुखवेष॥
मध जनकपुर सुर असुर मानव पडे सभृत पेख॥

—वही पृ० ७०

यह एक सुन्दर रचना है जिसकी पहली चार पक्तियो का सविन्यास नीचे अनु—सार होगा—

दादादाल गा — गा७ दादादाल दादागाल

अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से किसी सरल पक्ति का उदाहरण लिया जाय —

ना गर नो व ती — जी७ घर घर घु र त द्वा रअ सं भ
दा दा दा ल गा — गा७ दा दा दाल दा दा गा ल

एक अन्य तरीके से भी इसका पाठ किया जा सकता है—

दादादाल गागा —७ दादादाल दादा गाल

अर्थात मात्र अकेला जी ही पांच मात्राओं का प्लुत बन जाता है। आगे की पक्तियो की रचना सरल ही हैं, अत. अब गजगत गीत लिया जाय।

गजगत

कुंभज कह कहैं जी सियवर सुण सहे।
वदे पग वहे जो गेलो बन गहे॥
बन गहे गेलो जेण विच मे र[illegible] मे।

तन तुंग नाम कवध तिणरो करग जोजन कोस मे।।
सो हुतो गद्रप श्राप वासव थिके प्राक्रम धारिया।
विणसीस दूर प्रसार वाहाँ घणा जीव सहारिया ।।१।।

—वही पृ० १२५

इसकी पहली दोनो छोटी पक्तिया भाखरी के सदस्य ही हैं। उत्थापनिका है

जी

दादादाल गा – गा७ दादादाल गा — —७
दादादाल गा – गा७ दादादाल गा — —७

अथवा इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार भी किया जा सकता है।

जी

दादादाल गागा –७ दादादाल गा — — ७
दादादाल गागा –७ दादादाल गा — — ७

तद्उपरान्त आने वाली चार पक्तियो की उत्थापनिका यो होगी –

दा] दालदादा दालदादा दालदादा गालगा

इन पीछे की चार पक्तियो में एक विशेषता है और वह यह कि दूसरी पक्ति के अन्तिम कुछ शब्दो की पुनरावृत्ति तीसरी पक्ति के आरम्भ मे होती है।

निसाणी सिहचली

रघुवस नायक कीत जिणरी कवण वरणै साज।
कुण साज वरणै कीत जो नर उदध वाधे पाज।।
दध पाज अन्वे कवण लावै उतर मारग छेह।
मग छेह उतर करै गिणती वूंद सावण मेह।।

—वही पृ० २७६

उत्थापनिका. दा] दालदादा दालदादा दालदादा गाल
इसकी विशेषता यह है कि इसमे पहली पक्ति के कुछ अन्तिम शब्दो की आवृत्ति दूसरी पक्ति के आरम्भ में होती है। इसी प्रकार दूसरी पक्ति के अन्तिम शब्द तीसरी पक्ति की शुरुआत मे प्रयुक्त होते हैं। सभी पक्तियो के लिए यह नियम लागू होता है। हा, इस आवृत्ति मे बहुवा शब्दो का क्रम बदल जाता है।

रघुनाथ-रूपककार ने इन गीतो के अतिरिक्त अनेक कुण्डलिया भी दी हैं। अब उन पर विचार किया जाय। सबसे पहले झड उलट को लें।

झड उलट

आठू दिस वरतै अदल, राघववाले राज।
सीस समापै सोहडा, कर मन वछत काज।।

काज मन वछता पूर सगला किया ।
धवल हरि दुरग धन देस कितरा दिया ।।
कोध अर निकंटक जीत रावण जिसा ।
जमी पग फील जिम, दवे आठू दिसा ।।

—वही पृ० २७९

पहले दोहा और फिर मदनावतार, दोहे के अन्तिम यतिखंड की आवृत्ति तीसरी पक्ति के आरम्भ मे और दोहे का प्रारम्भिक अंश मदनावतार का अन्तिम अंश बनता है। इस आवृत्ति या सिंहावलोकन मे शब्दो का क्रम उलट जाता है। इसके बाद कुडलियो राजवट लिया जाय —

राजवट

सियवर राज समापिया, पाट अवध लव पेख ।
कुस नैं समप कुमावती, बधव सुता विशेप ।।
बंधव सुतां विशेप, दोय सुत भरत सुदत्तिय ।
तक्षक नैं तखसली, पुकर नैं पुक्कर वत्तिय ।।
असी लिखमण उभय, अगद नगरी अगद नै ।
चन्द्रकेत चन्द्रवती, सत्रघण सुता सुखद नैं ।।
कनवज सुवाहु सत्रुघात कर पति मथुरा इम थापिया ।
इण भात मछ कह आठ ही सियवर राज समापिया ।।

—वही पृ० २८०

यहा दोहे के बाद छप्पय आता है और पहले की तरह ही सिंहावलोकन और कुण्डली होती है। रघुनाथ-रूपककार ने कुण्डलियो का शुद्ध कुण्डलियो नाम से एक भेद दिया है, जो हिन्दी मे बहुप्रचलित दोहा और रोला के योग से बनने वाला कुण्डलिया है, अतः उसके विवेचन की कोई आवश्यकता नही जान पडती। अब दोहाल लें —

दोहाल

रूपक यह रघुनाथरो, पिंगल गीत प्रमाण ।
कहियो मंछाराम कवि, जोधनगर जग जाण ।।
जोधनगर जग जाण वास गूदी विसतारा ।
बगसीराम सुजाव, जात सेवग कूवारा ।।
सवत ठारै सतक वरस तेसठो बचाणो ।
सुकल माढवी दसम वार ससि हर वरताणो ।।
मत अनुसारैं मैं कह्यो, सुध कर लिओ सुजाण ।
रूपक यह रघुनाथ रो पिंगल गीत प्रमाण ।।

—वही पृ० २८१-२८२

इसमे पहले दोहा, फिर चार पंक्तिया रोला की और अन्त मे पुन. दोहा। शुरु के दोहे की पहली पंक्ति अन्तिम दोहे की आखिरी पंक्ति होती है। प्रथम दोहे का चौथा चरण आने वाले रोला की पंक्ति के आरम्भ मे आता है। अब कुण्डलनी ली जाय —

कुण्डलनी

कीजै तीरथ कोट, कोटं गोदान ताम दिग्जियकै।
अभय करै रख ओट, कर वे विवाह किन्ना ॥
किन्ना व्याहे कोडलो जु किन्यावल लेवे।
माल खजाना मुलक दुजा उदके दत देवै ॥
राम राम इक तरफ दुवै तरफा सह दीजै।
तळ न व्है सम तूल कोट जो तीरथ कीजै ॥

—वही पृ० २८०-२८२

रघुनाथ रूपककार के अनुसार इस छन्द मे प्रथम आर्या छन्द होता है, बाद के चार पद काव्य छन्द के होते है। आर्या के चौथे पद का अन्तिम शब्द काव्य छन्द के प्रथम पद मे आता है और आर्या छन्द का प्रथम पद काव्य छन्द के चौथे पद के अन्त में उलट कर आता है।

अब हम वार्णिक छन्दो पर विचार करेंगे। डिंगल गीतो मे सबसे अधिक संख्या मात्रिक छन्दों की है। रघुनाथ-रूपक के अनुसार सात गीतो में वार्णिक आधार है, किन्तु शुद्ध वार्णिक छन्द तो वे नही हैं। मात्र एक ही वार्णिक रचना असंदिग्ध रूप मे मुझे मिली है, और वह है सपखरो। अन्य रचनाओ को मात्रिक छन्दो की दृष्टि से विवेचित किया जा सकता है और हमने ऐसा किया भी है।

सपंखरो

अगा ऊससे सवायो तायो सुणे वैण राणवाला,
वडाला छोह मे छायो चखा चोल व्रन्न।
कलेसा आवायो लेण रटक्का सजोर काथै,
कट्टका रामरै माथे आयो कुंभक्रन्न ॥१॥

—वही पृ० २००

रघुनाथ-रूपक के अनुसार इस गीत के विषम चरणों मे सोलह वर्ण और सम पदो मे चौदह वर्ण होते हैं। इस तरह एक द्वाले मे साठ वर्ण होते हैं। प्रथम द्वाले के पहले चरण में उन्नीस वर्ण होते हैं। किन्तु दिये गये उदाहरण मे मात्र अठारह वर्ण ही हैं। मछाराम से न जाने यह भूल कैसे हो गई ! इसमें मगण-ललगा, भगण-गालल और नगण-ललल का प्रयोग निषिद्ध है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस रचना मे दो या दो से अधिक लघु एक साथ नही आ सकते। वार्णिक छन्दो मे यदि प्रत्येक अक्षर या वर्ण दो मात्राओ का हो तो उच्चारण में सुविधा रहती है, प्राय: प्रत्येक चतुरक्षर

सधि को आठ मात्राओ का कर दिया जाता है। इसकी पद्धति यह है कि प्रत्येक लघु को दो मात्राओ का करने के बदले, उसे तो लघु की तरह ही उच्चारित किया जाय किन्तु उसके वाद आने वाले गुरु को प्लुत कर दिया जाय। यह प्लुत दूर न हो जाय इस दृष्टि से दो या दो से अधिक लघुओ को एक साथ लाने का निषेध किया जाता है। इस तरीके से यदि कही लघु आता भी है तो वाद वाले गुरु को प्लुत करके कमी को पूरा कर लिया जाता है।

इसके अलावा जव मैं वार्णिक छन्द के रूप मे किसी अन्य छन्द को लेना चाहता हूँ, तो लगता है कि निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। ऐसा एक छन्द है लहचाल। इस पर हम मात्रिक छन्दो के सन्दर्भ मे पीछे विचार कर चुके हैं। इसका वार्णिक छन्द के अनुसार पाठ हो सकता है। इसका प्रत्येक अक्षर दो मात्राओ के समान उच्चारित हो सकता है। इसकी सधिया चतुरक्षर न होकर त्र्यक्षर हैं। इसको इस प्रकार से पढा जायगा।

सुत] भ्रात क । टे सक । घीट व । घे धक ।
दादा] दा दा दा । दा दादा । दादा दा । दादादा ।
वीस भु । जाण वि । धारियो । जी ।
दादा दा । दादा दा । दादा दा । दा ।
निर] वीजा - । वानर । ने यम । मुन्नर ।
दादा] दादा दा । दादादा । दादादा । दादादा ।
धेख इ । सो मन । धारियो । जी ।
दादादा । दा दादा । दादादादा । दा ।

जरा विलवित मे धीरे-धीरे वोलते लघु को गुरु करना पडता है, वह कम से कम भद्दा तो नही लगता।

यहा डिंगल के छन्दो का विवेचन समाप्त होता है। इस अध्ययन से डिंगल गीतो की निम्न विशेषतायें ज्ञात होती है।

(१) डिंगल के प्राय: सभी गीत मात्रिक हैं।

(२) डिंगल गीतो के प्रभेदो के आधारो मे प्रास-वैचित्र्य प्रमुख है। केवल प्रास-पद्धति मे भिन्नता होने से नये छन्दो का निर्माण डिंगल की अपनी विशेषता है।

(३) सिंहावलोकन अथवा पुनरावृत्ति की भगिमा दूसरा कारण है।

(४) वीप्सा का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है, पर पिंगल छन्दो की तुलना मे काफी है।

(५) कही-कही जी, रे, तो आदि शब्दो के प्रयोग का विधान है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि इन गीतो का निर्माण प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से किया गया है। वीप्सा, पुनरावृत्ति, प्रासो का वैविध्य, रे, तो, जी आदि शब्दो का प्रयोग सभी का उद्देश्य नाद-सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही है, जिससे गीत के

प्रभाव मे अमित वृद्धि हो जाती है। तत्कालीन माग के अनुसार ही इनका गठन हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन का आधार गुजराती के विद्वान लेखक श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक रचित वृहत् पिंगल ग्रन्थ का डिंगल छन्दो सम्बन्धी परिशिष्ट रहा है। यदि यो कहा जाय कि यह उस अ श का रूपान्तर ही है, तो उचित ही होगा। मैंने रूपान्तर करने मे स्थान-स्थान पर आवश्यक परिवर्तन किये हैं और कुछ मूल अ शो को छोड दिया है। इसी तरह कुछ नवीन अ शों की उद्भावना भी मेरे द्वारा हुई है। इसमे जो कुछ अच्छा है, वह पाठक जी का है, मैं यही मान कर चलता हू।



परिशिष्ट (ख)

सहायक-सामग्री सूची

राजस्थानी व हिन्दी के ग्रन्थ

अकबरी दर्बार के कवि–डा० सरयूप्रसाद, २००७ वि०

अपभ्रंश व्याकरण–शालिग्राम उपाध्याय, १९५८ ई०

अपभ्रंश प्रकाश· देवेन्द्र कुमार, २००७ वि०

अपभ्रंश साहित्य-डा० हरिवंश कोछड़, २०१३ वि०

अर्धकथानक–सं० नाथूराम प्रेमी, १९५७ ई०

अवधी और उसका साहित्य-त्रिलोकीनारायण दीक्षित, प्रथम संस्करण

असली पृथ्वीराज रासो–प० मथुराप्रसाद दीक्षित, १९५२ ई०

उदयपुर राज्य का इतिहास-भाग १, गौ०ही० ओझा, १९८५ वि०

उदयपुर राज्य का इतिहास–भाग २, गौ०ही० ओझा, १९८८ वि०

उमरकाव्य–उमरदान–१९३० ई०

उर्दू साहित्य का इतिहास–डा० ऐजाज हुसैन, १९५७ ई०

ऐतिहासिक जन काव्य संग्रह–अगरचन्द भवरलाल नाहटा, १९९४ वि०

ओझा निवन्ध सग्रह–चारो भाग, उदयपुर–प्रथम संस्करण

कवीर-हजारीप्रसाद, १९४७ ई०

कवीर की विचारधारा–गोविन्द त्रिगुणायत, २००९ वि०

करनी चरित–किशोरसिंह, १९३८ ई०

कविरत्नमाला–मुंशी देवीप्रसाद, १९३८ ई०

कवीन्द्र कल्पलता–स० लक्ष्मीकुमारी चूडावत, १९५८ ई०

क्याम खा रासा–स० दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा, १९५३ ई०

कान्हड़दे प्रवन्ध : पद्मनाभ–के०वी० व्यास, १९५३ ई०

काव्य मीमासा–सं० केदारनाथ सारस्वत, १९५४ ई०

काशी विद्यापीठ रजत-जयती अभिनन्दन ग्रथ-धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम आवृत्ति

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा–शिवप्रसाद सिंह, १९५५ ई०

केहर प्रकाश–बख्तावर, १९९१ वि०

क्रिसन रुकमणीरी वेल–स० नरोत्तमदास स्वामी, १९५५ ई०

गीत मजरी–स० नरोत्तमदास स्वामी, १९४४ ई०

चौबोली–स० कन्हैयालाल सहल, १६४१ ई०
चन्द वरदायी और उनका काव्य–डा० विपिन बिहारी, १६५२ ई०
छिताई वार्ता–स० माताप्रसाद गुप्त, २०१५ वि०
छद राउ जइतसी रउ वीठू सूजइ रउ कहियउ–टेसीटरी, कलकत्ता
जुगल विलास–सं० लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, १०५८ ई०
जैन साहित्य परिशीलन–भाग १, नेमिचन्द्र शास्त्री, १९५६ ई०
जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी, १६५६ ई०
जोधपुर राज्य का इतिहास–खण्ड १, गौ०ही० ओझा, १९९५ वि०
डिंगल साहित्य–डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, १६६० ई०
डिंगल मे वीर रस–मोतीलाल मेनारिया, २००८ वि०
डिंगल साहित्य मे नारी–हनुवत सिंह देवडा, १९५५ ई०
डूंगरपुर राज्य का इतिहास–गौ०ही० ओझा, १९९० वि०
ढोला मारूरा दूहा–ठाकुर, स्वामी, पारीक, २०११ वि०
दक्खिनी हिन्दी–बाबूराम सक्सेना, १६५२ ई०
दयालदासरी ख्यात–शार्दूल रिसर्च सीरीज, २
दोहाकोष–राहुल सांकृत्यायन, १९५७ ई०
नाग दमण, सांयां झूला–स० हमीरदान, १९३३ ई०
नाथसम्प्रदाय–हजारीप्रसाद, १९५० ई०
नाथ सिद्धो की बानियां–हजारी प्रसाद, २०१४ वि०
परमाल रासो–स० श्यामसुन्दर दास, १९७६ वि०
पालि साहित्य का इतिहास–भरतसिंह, २००८ वि०
पुरातत्व निबन्धावली–राहुल सांकृत्यायन, १६३७ ई०
पुरानी हिन्दी–चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, २००५ वि०
पुरानी राजस्थानी–टेसीटरी, अनु० नामवरसिंह, २०१२ वि०
पूर्वआधुनिक राजस्थान–डा० रघुवीर सिंह, १९५१ ई०
पचामृत–स्वामी मंगलदास, १६४८ ई०
प्रगतिशील साहित्य के मानदंड–डा० रांगेय राघव, १९५४ ई०
प्रशस्ति संग्रह–कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, १९५० ई०
प्राकृत और उसका साहित्य–डा० हरदेव बाहरी, प्रथम संस्करण
प्राकृत विमर्श–डा० सरयूप्रसाद, १९५३ ई०
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण–पिशेल–अनु० हेमचन्द्र जोशी, १६५८ ई०
प्राकृत व्याकरण–मधुसूदन प्रसाद मिश्र, १६६० ई०
प्राकृत भाषा–डा० प्रबोध पंडित–१९५४ ई०
प्राकृत प्रवेशिका–बनारसीदास जैन, १९३३ ई०
प्राचीन भारत की शासन पद्धति–अल्तेकर, प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत–मोहनसिंह कविराव, भाग १, प्रथम संस्करण

प्राचीन राजस्थानी गीत–खण्ड २, मोहनसिंह, प्रथम सस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ३, मोहनसिंह, प्रथम सस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ४, मोहनसिंह, २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ५, हनुवतसिंह देवडा, २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत-भाग ६, गोवर्द्धन शर्मा, २०१३ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ७, मोहनसिंह, २०१५ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ८, मोहनसिंह, २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ९, गोवर्द्धन शर्मा, प्रथम संस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग १०, कविराज आसिया, २०१४ वि०
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग ११, कविराज आसिया, प्रथम सस्करण
प्राचीन राजस्थानी गीत–भाग १२, कविराज आसिया, प्रथम सस्करण
पृथ्वीराज रासो–मोहनलाल विष्णुलाल पड्या, १९९२ वि०
पृथ्वीराज रासो–पद्मावती समय, राधेश्याम त्रिपाठी, १९५६ ई०
पृथ्वीराज रासो–चार खण्ड, कविराव मोहनसिंह, प्रथम सस्करण
पृथ्वीराज रासो की भाषा–नामवरसिंह, १९५६ ई०
पृथ्वीराज रासो की विवेचना–साहित्यसस्थान, प्रथम सस्करण
पृथ्वीराज रासो मे कथानक रूढिया–व्रजविलास श्रीवास्तव, १९५५ ई०
बाकीदास ग्रन्थावली–पहला भाग, ना०प्र० सभा, १९२४ ई०
बांकीदास ग्रन्थावली–दूसरा भाग, ना०प्र० सभा, १९३१ ई०
बांकीदास ग्रन्थावली–तीसरा भाग, ना०प्र० सभा, १९३८ ई०
बीकानेर राज्य का इतिहास–खण्ड १, गौ०ही० ओझा, १९९६ वि०
बीसलदेव रास–स० माताप्रसाद गुप्त, नाहटा, १९५३ ई०
भगतमाल्–उदयराज उज्वल, १९५९ ई०
भारत का भाषा सर्वेक्षण–ग्रियर्सन-अनु०उदयनारायण तिवारी, १९५९ ई०
भारत की भाषाए और भाषा सम्बन्धी समस्याएं–चटर्जी, १९५७ ई०
भारत मे जाति-भेद–क्षितिमोहन सेन, दूसरा सस्करण
भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी–चाटुर्ज्या, १९५४ ई०
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य–हरिकान्त श्रीवास्तव, १९५५ ई०
मध्यकालीन धर्म-साधना–हजारीप्रसाद, १९५६ ई०
मध्यकालीन प्रेम-साधना–परशुराम चतुर्वेदी, १९५२ ई०
मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था–अ०म० युसुफ अली, १९२८ ई०
मध्यकालीन भारतीय सस्कृति–गौ०ही० ओझा, १९२८ ई०
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रिया–सावित्री सिंहा, १९५३ ई०
मध्यकालीन हिन्दी–गद्य, हरिमोहन श्रीवास्तव, १९५९ ई०
मराठी और उसका साहित्य–प्रभाकर माचवे, प्रथम सस्करण
महाभारत–हिन्दी व्याख्यासह, गीताप्रेस सस्करण

महाराणा यशप्रकाश–भूरसिंह शेखावत, प्रथम संस्करण
महिला मृदुवाणी–मुंशी देवीप्रसाद, १९३८ ई०
माझल रात–लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, २०१४ वि०
मारवाड़ का इतिहास–जगदीश सिंह गहलोत, १९२९ ई०
मारवाडी व्याकरण–पं० रामकर्ण आसोपा, प्रथम संस्करण
मालवी और उसका साहित्य–श्याम परमार, प्रथम संस्करण
मुता नैणसीरी ख्यात–भाग १, रामकर्ण आसोपा, जोधपुर संस्करण
मुंहता नैणसीरी ख्यात–बद्रीप्रसाद साकरिया, १९६०
मुहनोत नैणसीकी ख्यात–भाग १, ना०प्र० सभा, १९८२ वि०
मुहनोत नैणसीकी ख्यात–भाग २, ना०प्र० सभा, १९९१ वि०
रघुवर जसप्रकास–सं० सीताराम लालस, १९६०
रघुनाथ रूपक गीतारो–मंछाराम, सं० खारैड, १९९७ वि०
राज-रसनामृत–मुंशी देवीप्रसाद, १९३८ ई०
राजरूपक–सं० रामकर्ण आसोपा, १९९८ वि०
राजपूताने का इतिहास–जगदीश सिंह गहलोत, १९३७ ई०
राजविलास–सं० मोतीलाल मेनारिया, २०१५ वि०
राजस्थान का पिंगल साहित्य–डा० मोतीलाल मेनारिया, १९५२ ई०
राजस्थान की जातियां–बजरंगलाल लोहिया, १९५४ ई०
राजस्थान के ज्योतिस्तम्भ–हरिभाऊ उपाध्याय, १९४९ ई०
राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद–कन्हैयालाल सहल, प्रथम संस्करण
राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान–कन्हैयालाल सहल, १९४९ ई०
राजस्थानरा दूहा–सं० नरोत्तमदास स्वामी, १९३५ ई०
राजस्थान दिग्दर्शक–सं० चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, १९४८ ई०
राजस्थानी दोहावली–गिरधारीलाल शर्मा, प्रथम संस्करण
राजस्थानी भाषा और साहित्य–नरोत्तमदास स्वामी, २००० वि०
राजस्थानी भाषा और साहित्य–मोतीलाल मेनारिया, २००८ वि०
राजस्थानी भाषा–सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९४९ ई०
राजस्थानी भाषा और साहित्य–लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, १९५० ई०
राजस्थानी भाषा की रूपरेखा–पुरुषोत्तम मेनारिया, १९५३ ई०
राजस्थानी व्याकरण–सीताराम लालस, १९५४ ई०
राजस्थानी वातां–भाग १, नरोत्तमदास स्वामी, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वातां–भाग २, भवानीशंकर, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वातां–भाग ३, सौभाग्य सिंह शेखावत, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वातां–भाग ४, शेखावत तथा व्यास, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वातां–भाग ५, शेखावत, प्रथम संस्करण
राजस्थानी वातां–सूर्यकरण पारीक, १९३४ ई०

राजस्थानी साहित्य का महत्व—रामदेव चोखानी, २००० वि०
राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—मोतीलाल मेनारिया, प्रथम संस्करण
राजस्थानी साहित्य संग्रह—भाग १, नरोत्तमदास स्वामी, १९५७ ई०
राजस्थानी साहित्य संग्रह—भाग २, पुरुषोत्तम मेनारिया, १९६० ई०
राजियेरा सोरठा—जगदीश सिंह गहलोत, १९३४ ई०
रामकथा—कामिल बुल्के, १९५० ई०
रास और रासान्वयी काव्य—ओझा, शर्मा, २०१८ वि०
रीतिकालीन कविता और श्रृंगार रस का विवेचन—राजेश्वरप्रसाद, १९५३ ई०
रेवातट समय—विपिनविहारी वाजपेयी, १९५३ ई०
लावा रासा—गोपालदान कविया, १९५३ ई०
वचनिका राठोड़ रतनसिंहजीरी महेसदासोतरी कही, टेसीटरी, १९१७ ई०
वर्तमान राजस्थान—रामनारायण चौधरी, प्रथम संस्करण
विरद छिहत्तरी—दुरसा आढा, १९२२ ई०
विरद शिणगार—करनीदान, १९९९ वि०
विश्व साहित्य की रूपरेखा—भगवतशरण उपाध्याय, १९५७ ई०
वीर काव्य संग्रह—उदयनारायण तिवारी, २००५ वि०
वीररस का शास्त्रीय अध्ययन—वटेकृष्ण, १९५६ ई०
वीरवाण—सं० लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, १९६० ई०
वीर सतसई सं० सहल व अन्य, २००५ वि०
वीसलदे रासो—सं० सत्यजीवन वर्मा, २००८ वि०
वेलि किसन रुक्मणिरी—टेसीटरी, १९१९ ई०
वेलि क्रिसन रुक्मणीरी—सं० आनन्दप्रकाश दीक्षित, १९५३ ई०
वेलि क्रिसन रुक्मणीरी—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रकाशन, १९३१ ई०
वंश भास्कर—सूर्यमल्ल मिश्रण, प्रथम संस्करण
सती सप्तक—उदयराज उज्वल, १९५४ ई०
सिद्ध चरित—सूर्यशंकर पारीक, २०१५ वि०
सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती, १९५५ ई०
सुन्दरसार—सं० पु० हरिनारायण, १९२८ ई०
सूरजप्रकाश—सं० टेसीटरी, १९१७ ई०
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—शिवप्रसाद सिंह, १९५७ ई०
संस्कृत और उसका साहित्य—शान्तिकुमार व्यास, प्रथम संस्करण
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—भोलाशंकर व्यास, प्रथम संस्करण
संस्कृति संगम—क्षितिमोहन सेन, १९५१ ई०
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—हजारीप्रसाद, नामवर सिंह, १९५७ ई०
हम्मीर रासो—सं० श्यामसुन्दर दास, २००६ वि०
हरिरस—सं० ठा० किशोरसिंह, १९३८ ई०

हालां झालारा कुण्डलिया–स० मोतीलाल मेनारिया, २००७ वि०
हिन्दी कारकों का विकास–शिवनाथ, २००५ वि०
हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य–ओमप्रकाश, १९५७ ई०
हिन्दी काव्यधारा–राहुल सांकृत्यायन, १९४५ ई०
हिन्दी काव्यशैलियो का विकास–हरदेव बाहरी, १९५७ ई०
हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओ का वैज्ञानिक इतिहास–शमशेर सिंह, १९५६ ई०
हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएं–पब्लिकेशन्स डिवीज़न, १९४९ ई०
हिन्दी के मुसलमान कवियो के प्रेमकाव्य–गुरुप्रसाद, १९५७ ई०
हिन्दी दशरूपक–गोविन्द त्रिगुणायत, १९५५ ई०
हिन्दी नाटक . उद्भव और विकास–दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य–कुलश्रेष्ठ, १९५३ ई०
हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास–उदयनारायण तिवारी, २०१२ वि०
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास–शम्भूनाथ सिंह, १९५६ ई०
हिन्दी काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास–शकुंतला दुबे, १९५८ ई०
हिन्दी व्याकरण–कामताप्रसाद गुरु, पाचवां संस्करण
हिन्दी वीर काव्य–टीकमसिंह तोमर, १९५४ ई०
हिन्दी शब्दानुशासन–किशोरीदास वाजपेयी, प्रथम सस्करण
हिन्दी साहित्य का अतीत–भाग १, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, २०१५ वि०
हिन्दी साहित्य का गद्यकाल–गणेशप्रसाद द्विवेदी, १९३५ ई०
हिन्दी साहित्य और साहित्यकार–सुधाकर पाडेय, १९५५ ई०
हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास–गोपाललाल खन्ना, १९४९ ई०
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–रामकुमार वर्मा, १९५४ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल, २००२ वि०
हिन्दी साहित्य का आदिकाल–हजारीप्रसाद, १९५२ ई०
हिन्दी साहित्य की भूमिका–हजारीप्रसाद, १९५० ई०
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास–भाग १, २०१४ वि०
हिन्दी साहित्य . प्रेरणाए और प्रवृत्तिया–शिवनन्दन प्रसाद, १९५५ ई०
त्रिपुरी का इतिहास–व्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रथम सस्करण

सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रन्थ

अपभ्रंश काव्यत्रयी—गायकवाड ओ० सिरीज, १९२७ ई०
अपभ्रंश पाठावली—म० चि० मोदी, १९३५ ई०
अर्धमागधी रीडर—डा० बनारसीदास जैन, १९२३ ई०
उक्ति व्यक्ति प्रकरण—मुनि जिनविजय, २०१० वि०
काव्यादर्श . दण्डी, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, १९३८ ई०
काव्यानुशासन—पारीख व आथवले, १९३८ ई०
काव्य मीमासा—केदारनाथ सारस्वत, १९५४ ई०

काव्य मीमांसा—गायकवाड ओ० सिरीज, १९२४ ई०
काव्यालंकार . रुद्रट—वेंकटेश्वर प्रेस, प्रथम आवृत्ति
करकंडु चरिउ—हीरालाल जैन, १९३४ ई०
कीर्तिलता : विद्यापति—सक्सेना, १९८६ वि०
कुमारपाल प्रतिबोध—मुनि जिनविजय, १९२० ई०
कुमारपाल चरित—भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, १९३८ ई०
कुवलयमाला कहा : उद्योतन सूरि, प्रथम संस्करण
गाथा सप्तशती—सदाशिव आ० जोगलेकर, १९५६ ई०
गोडवहो · वाक्पतिराज—पूना, १९२७ ई०
जसहर चरिउ . पुष्पदन्त—पी एल. वैद्य, १९३१ ई०
डाकार्णव—नगेन्द्रनारायण चौधरी, प्रथम आवृत्ति
णायकुमार चरिउ . पुष्पदन्त—हीरालाल जैन, १९३३ ई०
देशी नाममाला : हेमचन्द्र—बम्बई संस्कृत सिरीज, १९३८ ई०
दोधक वृत्ति · हेमचन्द्र—भगवान दास, १९१६ ई०
दोहाकोष—राहुल सांकृत्यायन, १९५७ ई०
दोहा पाहुड—हीरालाल जैन, १९३३ ई०
धूर्ताख्यान : हरिभद्र सूरि—आ० ने० उपाध्ये, १९४५ ई०
नाट्यशास्त्र भरत—गायकवाड ओ० सिरीज, १९२६ ई०
निर्ग्रन्थ प्रवचन—चौथमलजी, १९९५ वि०
पउम चरिय · विमलसूरि, १९१४ ई०
पउम चरिउ . दोखण्ड—मायाणी, १९५३ ई०
पउम चरिउ : स्वयंभू—तीन भाग, देवेन्द्रकुमार, प्रथम संस्करण
पउमसिरि चरिउ—मायाणी तथा मोदी, २००५ वि०
पुरातन प्रबन्ध संग्रह—मुनि जिनविजय, १९९२ वि०
पुरंजन चरितम्—नीलम सोलंकी, १९५५ ई०
प्रबन्ध चिन्तामणि : मेरुतुंग—जिनविजय, प्रथम संस्करण
प्राकृत पैंगलम्—चन्द्रमोहन घोष, १९०२ ई०
प्राकृत प्रवेशिका—बनारसीदास जैन—१९३३ ई०
प्राकृत विमर्श—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, २००९ वि०
प्राकृत रूपावतार—सिंहराज, लन्दन, प्रथम आवृत्ति
प्राकृत सर्वस्व—भट्टनाथ स्वामी, १९१२ ई०
प्राकृत मार्गोपदेशिका—बेचरदास दोशी, २००३ वि०
भरत बाहुबलि रास—ला म. गांधी, १९९७ वि०
भविसत्त कहा—दलाल तथा गुणे, १९२३ ई०
भावप्रकाश शारदातनय—गायकवाड ओ. सिरीज, प्रथम संस्करण
महापुराण : पुष्पदन्त—३ भाग, वैद्य, १९३७-१९४१

महापुराण : जिनसेन—२ भाग, प्रथम आवृत्ति
लीलावई कहा—आ. ने. उपाध्याय, १९४९ ई०
वसुदेव हिन्डी दो भाग—सघदास गणि, प्रथम सस्करण
वाग्भटालकार—वेंकटेश्वर प्रेस, प्रथम आवृत्ति
समराइच्च कहा—वैद्य, प्रथम सस्करण
सनत्कुमार चरित—याकोबी, प्रथम सस्करण
संदेश रासक—मायाणी तथा जिनविजय, १९४५ ई०
सदेश रासक—हजारीप्रसाद तथा विश्वनाथ, १९६० ई०
साहित्य दर्पण : विश्वनाथ—निर्णयसागर प्रेस, १९१५ ई०
सिरिसिरिवाल कहा—वी. एम. चोकसी, १९३५ ई०
सावयधम्म दोहा · देवसेन—हीरालाल जैन, १९३२ ई०
षड्भाषा चन्द्रिका . लक्ष्मीधर—रा. क. प्राणशंकर, १९१६ ई०
हिन्दी दशरूपक—गोविन्द त्रिगुणायत, प्रथम सस्करण
कसवहो—आ. ने. उपाध्ये, द्वितीय सस्करण
करलक्खन—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम सस्करण
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—निर्णय सागर प्रेस, प्रथम संस्करण

गुजराती ग्रन्थ

अपभ्रंश पाठावली—मधुसूदन चिमनलाल मोदी, सन् १९३५
अपभ्रंश व्याकरण : हेमचन्द्र—के का. शास्त्री, स० २००५
अपभ्रंश व्याकरण हेमचन्द्र—जमभाई पटेल हसित बुच, सन् १९५६
आपणा कविओ—के. का. शास्त्री, १९४२ ई०
कविचरित—के. का. शास्त्री, १९५२ ई०
कान्हडदे प्रबन्ध—स० देरासरी, १९२५ ई०
कान्हडदे प्रबन्ध—स. के. वी व्यास, १९५८ ई०
गुजराती भाषा अने साहित्य—न भो. दिवेटिया, स. के. का शास्त्री, १९५७ ई०
गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति—वेचरदास दोशी, १९४३ ई०
गुजराती छन्दो—रामनारायण विश्वनाथ पाठक, प्रथम आवृत्ति
गुजराती साहित्य—खण्ड ५, सं. क. मा. मुंशी, १९२९ ई०
गुजराती साहित्य—भाग १, अनन्तराय रावल, १९५४ ई०
गुजराती साहित्यना स्वरूपो—पद्य विभाग, म. र. मजुमदार, १९५४ ई०
गुजराती साहित्यनी रूपरेखा—विजयराय क वैद्य, १९४९ ई०
गुजराती साहित्यनु रेखादर्शन—के. का शास्त्री, १९५१ ई०
गुर्जर रासावली—डा. भोगीलाल साडेसरा, १९५६ ई०
चारणो अने चारणी साहित्य—झवेरचन्द मेघाणी, १९४३ ई०
छन्दानुशासन—म छो. परीख, प्रथम आवृत्ति
जैन ऐतिहासिक गुर्जरकाव्य सचय—मुनि जिनविजय, १९२६ ई०

जैन गुर्जर कविओ—भाग १, २, ३, मो. द. देसाई, प्रत्येक प्रथम संस्करण
जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास—मो. द. देसाई, १९३३ ई०
पण बालावबोध—भोगीलाल साडेसरा, १९५४ ई०
द्वयाश्रय काव्यमा सामाजिक माहिती—म. चि. मोदी, प्रथम संस्करण
देवियाण : ईसरदास—शंकरदान जेठाभाई देथा, १९४८ ई०
नलदवदंतीरास : महीराज—सं. साडेसरा, १९५४ ई०
पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना—के. ह. ध्रुव, १९३२ ई०
पंदरमा शतकना चार फागुकाव्य—के. बी. व्यास, १९५५ ई०
पंदरमा शतकना प्राचीन गुर्जरकाव्य—के. ह. ध्रुव, सं. १९८३
प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह—दलाल, गायकवाड सिरीज, १९२० ई०
प्राचीन गुजराती गद्यसन्दर्भ—मुनि जिनविजय, स. १९२६ वि०
प्राचीन गुजराती साहित्यमा वृतरचना—भोगीलाल सांडेसरा, १९४१ ई०
प्राचीन फागु संग्रह—डा. भोगीलाल साडेसरा, १९५५ ई०
प्राकृत व्याकरण—बेचरदास दोशी, १९२५ ई०
प्राकृत कथासंग्रह—मुनि जिनविजय, प्रथम आवृत्ति
भरतेश्वर बाहुबलि रास अने बुद्धिरास—जिनविजय, सं. १९९७ वि०
मध्यकालना साहित्य प्रकारो—डा. चन्द्रकान्त मेहता, १९५८ ई०
माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध : गणपति—गायकवाड सिरीज, १९४२ ई०
मीराबाईना भजनो—हरसिद्धभाई दिवेटिया, १९५६ ई०
यदुवंशप्रकाश अने जामनगरनो इतिहास—मावदानजी मी. रत्नू, १९३४ ई०
रणमल्ल छन्द अने तेनो समय, सैयद अ. नदवी, १९४१ ई०
वसन्त विलास—सं. के. बी. व्यास, १९४२ ई०
वसन्त विलास फागु—केशवदास कायस्थ, १९३३ ई०
वाग्व्यापार—डा. हरिवल्लभ भायाणी, १९५४ ई०
बृहत् पिंगल—रामनारायण विश्वनाथ पाठक, १९५५ ई०
सत्तरमा शतकना प्राचीन गुर्जरकाव्य—साडेसरा, १९४८ ई०
साहित्य अने विवेचन—दो भाग, के. ह. ध्रुव, १९४०-४१ ई०
साहित्य परिषद प्रमुखोना भाषणो—प्रथम आवृत्ति
सोरठी गीत कथाओ—झवेरचन्द मेघाणी, १९३१ ई०
हरिरस : ईसरदास—पींगलशी पीताभाई, १९२८ ई०

मराठी ग्रंथ

ऐतिहासिक पोवाडा—दो भाग, केलकर, पूना, प्रथम आवृत्ति
मराठी भाषा—उद्गम व विकास, कृष्णाजी पा. कुलकर्णी, तीसरा सं०
मराठी भाषेचा व वाङ्‌मयाचा इतिहास—वा. अ. भिडे, प्रथम संस्करण
मराठी साहित्य—वि. वा. आवेकर, १९४५ ई०
महाराष्ट्र सारस्वत—वि. ल. भावे, डा. श. गो. तुलपुले द्वारा संशोधित

ज्ञानेश्वरी—कै. वि. का. राजवाडे, चौथी आवृत्ति

संदर्भ ग्रन्थ

अनूप संस्कृत पुस्तकालय की पुस्तक-सूची
अभिधान राजेन्द्र
एसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—भाग ११, सस्करण १४
गजेटियर आफ बीकानेर—पी. डब्लू. पालेट
डिंगल कोश—नारायण सिंह भाटी, १९५७ ई०
नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टें
पाइयलच्छी नाममाला : धनपाल, पाटण, २००३ वि०
पाइय सद्द महण्णवो—हरगोविन्ददास सेठ, १९२५ वि०
बोम्बे गजेटियर
राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारो की ग्रन्थसूची—भाग १, २, ३
राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज—भाग १, २, ३, ४
रिपोर्ट्स आन दी आपरेशन इन सर्च आफ एम. एस.एस. आफ बार्डिक क्रोनिक्ल्स
सरस्वती भण्डार उदयपुर की पुस्तक-सूची
साइक्लोपीडिक डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर—शिप्ले, १९४६ ई०
हस्तलिखित पोथियो का विवरण—सभी भाग, विहार राष्ट्रभाषा
हिन्दी विश्वकोप—नगेन्द्रनाथ वसु, १९३३ ई०
हिन्दी साहित्य कोश—धीरेन्द्र वर्मा, २०१५ वि०
हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-विवरण
हिन्दी शब्दसागर—नागरी प्रचारिणी सभा

हस्तलिखित ग्रन्थ

(सकेत सूची)

अ. स. पु. – अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
अ. जै पु – अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर
आ. ज्ञा – आनन्दीबाई ज्ञानमन्दिर, जामनगर
का. – ज्ञानभण्डार, कारजा
द. वि – दरबार गोपालदास महाविद्यालय पुस्तकालय, अलीआबाडा
पु. प्र. – पुस्तक प्रकाश, जोधपुर
व. उ – ज्ञानभण्डार, वडा उपाश्रय, पाटण
मो. क. – मोहनसिंह कविराव सग्रह, उदयपुर
रा. रि – राजस्थान रिसर्च सोसायटी सग्रह, कलकत्ता
स. भ. – सरस्वती भण्डार, उदयपुर
सी. ला. – सीताराम लालस संग्रह, अमरानिया

सु. ला. — सुमेर लायब्रेरी, जोधपुर
ला. प. — लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद
अचलदास खीचीरी वचनिका—गाडण शिवदान, अ. स. पु.
अभय विलास—खेतसी, स भं.
अभय विलास—सा. पृथ्वीराज, पु प्र.
अनन्तराय साखलारी वात—अज्ञात, स. म.
करुण बत्तीसी—मुक्तक, पु. प्र.
किरतार बावनी—दुरसाजी, पु प्र.
किसन चन्द्रिका—बांकीदास, सी. ला
खीवडारा दूहा—मुक्तक, पु. प्र.
गुण गोव्यद—कल्याणदास, स. भ.
गुण जोधायण—गाडण पसाइत, पु. प्र.
गुण रूपक—हेमकवि, पु. प्र.
गोरखनाथजीरा छन्द—केशोदास गाडण, पु. प्र.
चन्द कवररी वात—हमकवि, आ. ज्ञा.
जगत विनोद—पद्माकर, द. वि.
जती रासा—करणीदान, निजी सग्रह
तत्ववेत्तारा सवैया—तत्ववेत्ता, ला. द
तिथियारा दूहा—मुक्तक, पु. प्र.
दसम भागवतरा दूहा—पृथ्वीराज, स. मं.
नागडारा दूहा—मुक्तक, पु प्र.
नाग दमण—सांया झूला, पु. प्र
नाथचन्द्रिका—उत्तमचन्द ओसवाल, पु. प्र.
नाथ चरित—महाराजा मानसिंह, पु. प्र.
पद्मिनी चौपई—हेमरत्न, अ. जैं. पु
पच सहेलीरा दूहा—मुक्तक, स म.
पज्जुण चरिउ—सिंह, का. म
प्राचीन राजस्थानी दोहे—मुक्तक, व उ.
फतह यशप्रकाश—बख्तावर, मो. क.
बालचन्द्र बत्तीसी—बालचन्द, निजी सग्रह
बुद्धि रासो—जल्ह, पु. प्र.
भाषा भारथ—सादू तेतसी, स. म
भीम विलास—किसनजी आढा, स. म.
भीम प्रकास—रामदान, स. म
रतन रासा—कुम्भकर्ण, सु ला
राव अमरसिंहजीरा दूहा—गाडण केशवदास, पु

राजा रतनरी वचनिका—अज्ञात, निजी संग्रह
रामरजाट—सूर्यमल्ल, रा. रि.
रामरासो—माधोदास, अ. जै. पु
रामरासो—माधोदास, ला. द.
राणा रासो—दयालदास, ला. द
रुक्मणी हरण—सायां झूला, पु. प्र.
सगतसिंघ रासो—गिरधर, पु. प्र.
सतीरा कवित्त—आशानन्द, पु. प्र.
सुकुमाल चरित—श्रीधर, ला. द.
सूरजप्रकाश—करणीदान, पु. प्र
श्रीपाल रासो—विनयविजय, आ. ज्ञा.
हरि पिंगल प्रबन्ध—जोगीदास, स. भ

English Books

1. A Grammer of Prakrit Language—D. C. Sarkar 1943
2. An Introduction to Prakrit Language—Dr. D. C. Sen —First Edition
3. An Introduction to Ardh Magadhi—Dr. A. M. Chatge 1940
4. Annals & Antiquities of Rajasthan—Jamas Tod —I Complete Edition
5 A Literary History of India—R. W. Frazer—First Edition
6. Apbhransha Meters—Prof. Velankar—Poona—First Edition
7. Comparative Grammer of the Middle Indo-Aryan —Dr. S. K. Sen—1951
8. Comparative Grammer of the Modern Aryan Language in India Volums I, John Beams—1872
9. Comparative Prakrit Grammer—V. J. Choksi—1933
10. Complete Works of R. Bhandarkar—4 Parts—First Edition
11. Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars of Pattan Part I—1937
12. Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts in the —C. P. & Berar—1923
13. Dhammapada—Samuel Beam—1950
14. Early History of India—Vincent & Smith—Second Edition
15 Gujarati Language & Literature 2 Parts—N. B. Divatia—1921
16. Gujarat & Its Literature—K. M. Munshi—1954
17. History of Indian Literature Vol. 2 Winternite—1933
18. History of Indian Literature—Albrecht Weller—First Edition
19. Historical Grammer of Apbhransha—G. V. Tagore—1948
20. History of Sanskrit Literature—Das Gupta & De—1947

21. History of Sanskrit Literature—A B Keith—1948
22. India as known to Panini—V. S Agarwal—First Edition
23. Introduction to Prakrit—A. C. Woolner—1939
24. Indo Aryan & Hindi—Dr. S. K. Chatterji—1942
25. India—A Short Cultural History—Rawlinson—1958
26. Language—Bloowfield—1955
27. Linguistic Survey of India—Vol. IX—Grierson
28. Milestones in Gujarati Literature—K. M. Zaveri—I Edition
29. Origin & Development of Bengali Language —Dr. S. K. Chatterji—1926
30. Political Institutions & Theories of Hindus —Sarkar—First Edition
31. Pali Literature & Language—Dr. V. K. Ghosh—First Edition
32. Prakrita Language & Their Contribution to India Culture —S. M. Katre—1945
33. Rajasthani Literature—B L. Singh—Calcutta—First Edition
34. Study in the Gujarati Language in Sixteenth Century —Dr. T. N. Dave—First Edition
35. Study in the Language of 'Uktivyakti Prakarana' —Dr. S. K. Chatterji—1953
36 Some Problems of Indian Literature—Winternits—First Edition
37. Sanskrit Drama—Jagirdar—First Edition
38. Types of Sanskrit Drama D. R. Mankad—First Edition
39. Tribes and Castes of Bombay—R. R. Enthoren—First Edition
40. The Catalogue of Gujarati & Rajasthani M. S. S. in the India Office Library—1954

सहायक पत्र-पत्रिकाएं

१. अजन्ता—हैदराबाद
२. अनेकान्त—दिल्ली
३ अवन्तिका—पटना
४. आलोचना—दिल्ली
५. इण्डियन एंटेक्वेरी
६. कल्पना—हैदराबाद
७. चाद—इलाहाबाद
८. चारण—भावनगर
९ जनमन—अजमेर
१०. जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी
११. जर्नल आफ गुजरात रिसर्च सोसायटी
१२ जैन-जगत—वर्धा
१३. जैन सत्य-प्रकाश—अहमदाबाद
१४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वाराणसी
१५. प्रेरणा—जोधपुर
१६ परम्परा—जोधपुर
१७ बुद्धि-प्रकाश—अहमदाबाद
१८. भारतीय विद्या—बम्बई
१९. मरु-भारती—पिलानी
२०. मरुवाणी—जयपुर
२१. माधुरी—लखनऊ
२२ मीरा—अजमेर
२३. राजस्थान—कलकत्ता
२४. राजस्थान भारती—बीकानेर

२५. राजस्थान साहित्य—उदयपुर
२६. राजस्थानी—कलकत्ता
२७. राजस्थानी—नागपुर
२८. राजस्थानी वीर—पूना
२९. वरदा—बिसाऊ
३०. विश्वभारती—शान्ति निकेतन
३१. शोधपत्रिका—उदयपुर
३२. सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग
३३. सरस्वती—इलाहाबाद
३४. साहित्य संदेश—आगरा
३५ हिन्दी अनुशीलन—प्रयाग
३६. हिन्दुस्तानी—इलाहाबाद
३७. विशाल भारत—कलकत्ता

अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध

१ प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन तथा हिन्दी पर उनका प्रभाव
—डा० रामसिंह तोमर, प्रयाग विश्वविद्यालय
२. वीरगाथाकाल में ऐतिहासिक तथ्य
—डा० उमेशचन्द्र त्रिपाठी, लखनऊ विश्वविद्यालय
३. भारतीय मध्ययुग के संधिकाल का अध्ययन
—डा० टी० एन० बी० आचार्य, आगरा विश्वविद्यालय
४. राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा
—डा० राजकुमारी शिवपुरी, राजस्थान विश्वविद्यालय

